रायचंद्रजैनशास्त्रमाला ।

ॐ

श्रीमन्नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्तिरचित

गोम्मटसार ।

(जीवकाण्ड)

न्या. वा. वा. ग. केसरी स्या. वारिधि पं. गोपालदासजी
बरैयाके अन्यतम शिष्य खूबचन्द्र जैनद्वारारचित

संस्कृतछाया तथा बालबोधिनीटीकासहित ।

(प्रथमावृत्ति १००० प्रति)

जिसको

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल बंबईके स्वत्वाधिकारियोंने निर्णयसागर प्रेसमें
रामचंद्र येसू शेडगेके प्रबंधसे छपाकर प्रसिद्ध किया ।

वीरनि० सं० २४४२ सन् १९१६ ।

मूल्य २॥ रुपया.

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya-sagar Press,
23 Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Sha Revashankar Jagajeevan Javeri, Hon. Vyavasthapak
Shree Paramashruta-Prabhavak Mandal, Javeri Bazar,
Kharakuva, No. 2. BOMBAY.

ओं नमः

प्रस्तावना।

इस ग्रंथके रचयिता श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। आपके पवित्र जन्मसे यह भारत भूमि किस समय अलंकृत हुई यह ठीक २ नहीं कहा जासकता; तथापि इतिहासान्वेषी विक्रमकी ग्यारहमी शताब्दीके प्रारम्भमें या उसके कुछ पूर्व ही बहुधा आपने अपने भवभंजक उपदेशसे भव्योंको कृतार्थ किया था यह सिद्ध करते हैं। इस सिद्धिमें जो प्रमाण दिये जाते हैं उनमेंसे कुछ का हम यहांपर संक्षेपमें उल्लेख करते हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने आपका शक संवत् ६०० (वि. सं. ७३५) निश्चित किया है। क्योंकि श्रीनेमिचंद्र स्वामी तथा श्रीचामुण्डराय दोनोंही समकालीन थे। और श्री चामुण्डरायके विषयमें 'बाहुबलिचरित'में लिखा है किः—

'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥ ५५ ॥

अर्थात् शक सं. ६०० में चैत्र शुक्ला ५ रविवारके दिन श्रीचामुण्डरायने श्रीगोमटस्वामीकी प्रतिष्ठा की। परंतु यदि दूसरे प्रमाणोंसे इस कथन की तुलना की जाय तो इसमें बाधा आकर उपस्थित होती है। क्योंकि बाहुबलिचरितमें ही यह बात लिखी हुई है कि 'देशीयगणके प्रधानभूत श्री **अजितसेन** मुनिको नमस्कार करके **श्रीचामुण्डराय** ने श्रीबाहुबलीकी प्रतिमाके विषयमें वृत्तान्त कहा,' यथाः—

'पश्चात्सोजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरम्
स्वस्याधिप्यसुखाब्धिवर्धनशशिश्रीनन्दिसंघाधिपम्।
श्रीमद्भासुरसिंहनंदिमुनिपाङ्घ्र्यम्भोजरोलम्बकम्
चानम्य प्रवदत्सुपौदनपुरीश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥"

श्रीमन्नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने भी गोमट्टसारमें श्री अजितसेनका स्मरण किया है। और उनको श्रीचामुण्डरायका गुरु बतलाया है। यथाः—

'जिम्हिगुणा विस्संता गणहरदेवादि इड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥"

---

१ यहांपर कल्की शब्दसे जो शकका ग्रहण पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने किया है वह किस तरह किया यह हमारी समझमें नहीं आया।

और भी—"अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारि अजियसेणगुरु ।
भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयउ ॥"

अर्थात् वह श्री चामुण्डराय जयवंता रहो कि जिसके गुरु अजितसेन नाथमें ऋद्धिप्राप्त गणधर देवादिकोंके गुण पाये जाते हैं ॥ आचार्य श्री आर्यसेनके अनेक गुणोंके समूहको धारण करनेवाले तथा तीन लोकके गुरु **अजितसेन गुरु** जिसके गुरु हैं वह गोम्मट राजा जयवंता रहो ॥

इससे यह बात मालुम होती है कि जिन अजितसेन स्वामीका उल्लेख बाहुबली चरितमें और गोमट्टसारमें किया गया है वे एक ही हैं । परंतु ये अजितसेन कब हुए इस बातका कुछ पता श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखसे मिलता है ।

उसमें अजितसेनके विषयमें लिखा है कि:—

गुणाः कुंदस्पन्दोड्डमरसमरा वागमृतवाः,
प्लवप्रायः प्रेयःप्रसरसरसा कीर्तिरिव सा ।
नखेन्दुर्ज्योत्स्नाङ्ग्रेर्नृपचयचकोरप्रणयिनी,
न कासां श्लाघानां पदमजितसेनो व्रतिपतिः ॥

यह शिलालेख करीब ग्यारहमी शदीका खुदा हुआ है । इससे मालुम होता है कि श्री अजितसेन स्वामी ग्यारहमी शदीके पूर्व हुए हैं, और उसी समय श्री चामुण्डराय भी हुए हैं । परंतु पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित 'चंद्रप्रभचरितकी भूमिका'में श्री चामुण्डरायके परिचयमें लिखा है कि कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रन्नने शक सम्वत् ९१५ में 'पुराणतिलक' नामक ग्रंथकी रचना की है और उसने आपको रक्कस गंगराजका आश्रित बतलाया है । चामुण्डरायकी भी अपनेपर विशेष कृपा रहनेका वह जिकर करता है ।' इससे मालुम होता है कि शक सं. ९१५ या विक्रम सं. १०५० के लगभग ही श्री चामुण्डराय और श्री अजितसेन स्वामी हुए हैं

गोमट्टसारकी श्रीचामुण्डरायकृत एक कर्नाटक वृत्ति श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीके समक्ष ही बन चुकी थी । उसीके अनुसार श्री केशववर्णीकृत संस्कृत टीका भी है उसकी आदिमें लिखा हुआ है कि:—

'श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासनगुहाभ्यंतरनिवासिप्रवादिसिंधुरसिंहायमान-सिंहनंदिनन्दितगंगवंशललाम-राजसर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेयभागधेय-श्रीमद्राजमल्लदेवमहीवल्लभमहामात्यपदविराजमान-रणरङ्गमल्लासहायपराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्वरत्ननिलयादिविविधगुणनामसमासादितकीर्तिकांत-श्रीमच्चामुंडरायप्रश्नावतीर्णैकचत्वारिंशत्पदनामसत्वप्ररूपणद्वारेणाशेषविनेयजननिकुरंवसंबोधनार्थं श्रीमन्नेमिचंद्रसैद्धान्तिकचक्रवर्ती समस्तसैद्धान्तिकजनप्रख्यातविशदयशाः विशालमतिरसौ भगवान् ... ... गोमट्टसारपंचसंग्रहप्रपंचमारचयँस्तदादौ निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तिनिमित्तं ... ... देवताविशेषं नमस्करोति ।

राचमल्ल और रक्कस गंगराज ये दोनों ही भाई थे । उपर्युक्त गोमट्टसारकी पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि राचमल्ल चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती तीनोंही समकालीन हैं । राचमल्लका समय विक्रमकी ग्यारहमी शदी निश्चित की जाती, है अत एव यह स्वयं सिद्ध है कि यही समय चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीका भी होना चाहिये ।

नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने कई जगह वीरनंदि आचार्यका स्मरण किया है । यथाः—

"जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥"
"णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥"
"णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहब्धिभवभावं ।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥"

इन्हीं वीरनंदिका स्मरण वादिराज सूरीने भी किया है । यथाः-

चंद्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम् ।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनंदिनः ॥ (पार्श्वनाथकाव्य श्लो. ३०)

वादिराज सूरीने पार्श्वनाथ काव्यकी पूर्ति शक सं. ९४७ में की है, यह उसीकी अन्तिम प्रशस्तिके इस पद्यसे मालुम होता है ।

"शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने,
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया,
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥"

अर्थात् 'शक सम्बत् ९४७ (क्रोधन सम्वत्सर) की कार्तिक शुक्ला तृतीयाको पार्श्वनाथ काव्य पूर्ण किया ।' इस कथनसे यद्यपि यह मालुम होता है कि वीरनंदि आचार्य शक संवत् ९४७ के पहले ही होचुके हैं; तथापि जब कि वीरनंदी आचार्य स्वयं अभयनंदीको गुरु स्वीकार करते हैं और नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती भी उनको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब यह अवश्य कहा जा सकता है कि वीरनंदि और नेमिचंद्र दोनों ही समकालीन हैं ।

गोमट्टसारकी गाथाओंका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्डमें भी मिलता है–यथाः—

"विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा ॥ "(६६५)

श्रीप्रभाचंद्र आचार्यने प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना भोजराजके समयमें की है; क्योंकि उसके अंतमें यह उल्लेख है किः-

"श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचंद्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।" धारानगरीके अधिपति भोजराजका समय विक्रमकी ११ वीं शदी निश्चित है । इससे यह मालुम होता है कि नेमिचंद्रस्वामी या तो प्रभाचंद्राचार्यके समकालीन हैं या कुछ पहले होचुके हैं । यद्यपि इस प्रमाणसे यह भी मालुम होसकता है कि श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती प्रभाचंद्रा-

चार्यसे कई शदी पूर्व हुए हैं; परंतु जबकि कवि रन्नने अपनेपर श्रीमान् चामुण्डरायकी कृपा रहनेका जिक्र किया है तथा पुराणतिलककी रचना शक सं. ९१५ में उसने की यह निश्चित है तब इस शंकाको स्थान नहीं रहता । अत एव इतिहासप्रेमी यह निश्चित करते हैं कि श्रीमान् नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीका समय भी लगभग शक सं. ९१५ के ही है । परंतु यह निश्चय एक प्रकारसे पुराणतिलकके आधारसे ही है अत एव अभी इतना संदेह ही है कि यदि पुराणतिलकके कथनको प्रमाण माना जाय तो बाहुबलीचरितके कथनको प्रमाण क्यों न माना जाय ? यदि माना जाय तो किस तरह घटित किया जाय ? इसतरह नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीका समय एक तरहसे अभीतक हमको संदिग्ध ही है। इसीलिये समयनिर्णयको हम यहीं विराम देते हैं । दूसरी बात यह भी है कि समयकी प्राचीनता या अर्वाचीनतासे प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय नहीं होता । प्रामाण्य या अप्रामाण्यके निर्णयका हेतु ग्रंथकर्त्ताका ग्रंथ होता है ।

इस ग्रंथके रचयिता साधारण विद्वान् न थे । उनके रचित गोमट्टसार त्रिलोकसार लब्धिसार आदि उपलब्ध ग्रंथ उनकी असाधारण विद्वत्ता और 'सिद्धांतचक्रवर्ती' इस पदवीको सार्थक सिद्ध कर रहे हैं । यद्यपि उपलब्ध ग्रंथोंमें गणितकी प्रचुरता देखकर लोग यह विश्वास कर सकते हैं कि श्री नेमिचंद्र सि. चक्रवर्ती गणितके ही अप्रतिम पण्डितथे परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे सर्वविषयमें पूर्ण निष्णात थे ।
ऊपर जो गोमट्टसार संस्कृत टीकाकी उत्थानिकाका उल्लेख दिया है उसमें यह बात दिखाई गई है कि इस ग्रंथकी रचना श्रीमच्चामुण्डरायके प्रश्नके अनुसार हुई है । इस विषयमें ऐसा सुननेमें आता है कि एक वार श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती धवलादि महासिद्धांत ग्रंथोंमेंसे किसी सिद्धांत—ग्रंथका स्वाध्याय कर रहे थे । उसी समय गुरुका दर्शन करनेकेलिये श्री चामुण्डराय भी आये । शिष्यको आता हुआ देखकर श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीने स्वाध्याय करना बंद कर दिया । जब चामुण्डराय गुरुको नमस्कार करके बैठगये तब उनने पूछा कि गुरो ! आपने ऐसा क्यों किया ? तब गुरुने कहा कि श्रावकको इन सिद्धांत ग्रंथोंके सुननेका अधिकार नहीं है । इसपर चामुण्डरायने कहा कि हमको इन ग्रंथोंका अवबोध किस तरह होसकता है ? कृपया कोई ऐसा उपाय निकालिये कि जिससे हम भी इनका महत्वानुभव कर सकें । सुनते हैं कि इसीपर श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीने सिद्धांत ग्रंथोंका सार लेकर इस गोमट्टसार ग्रंथकी रचना की है ।

इस ग्रंथका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है । क्योंकि इसमें महाकर्मप्राभृतके सिद्धांतसंबंधी जीवस्थान क्षुद्रबंध बंधस्वामी वेदनाखंड वर्गणाखंड इन पांच विषयोंका वर्णन है । मूलग्रंथ प्राकृतमें लिखा गया है । यद्यपि मूल लेखक श्रीयुत नेमिचंद्र सि. चक्रवर्ती ही हैं; तथापि कहीं पर कोई २ गाथा माधवचंद्र त्रैविद्यदेवने भी लिखी हैं । यह टीकामें दी हुई गाथाओंकी उत्थानिका के देखनेसे मालुम होती है । माधवचंद्र त्रैविद्यदेव श्री नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीके प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे । मालुम होता है कि तीन विद्याओंके अधिपति होनेके कारण ही आपको त्रैविद्यदेवका पद मिला होगा । इससे पाठकोंको यह भी अंदाज करलेना चाहिये कि नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीकी विद्वत्ता कितनी असाधारण थी ।

इस ग्रंथराजके ऊपर अभीतक चार टीका लिखी गई हैं । जिसमें सबसे पहले एक कर्नाटक वृत्ति बनी है । उसके रचयिता ग्रंथकर्त्ताके अन्यतम शिष्य श्रीचामुण्डराय हैं । इसी टीकाके आधारपर एक संस्कृत टीका बनी है जिसके निर्माता केशववर्णी हैं और यह टीका भी इसी नामसे प्रसिद्ध है । दूसरी संस्कृत टीका श्रीमदभयचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीकी बनाई हुई है जो कि 'मंदप्रबोधिनी' नामसे प्रख्यात है । उपर्युक्त दोनों टीकाओंके आधारसे श्रीमद्विद्वद्वर टोडरमल्लजीने 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' नामकी हिंदी टीका बनाई है । उक्त कर्नाटक वृत्तिके सिवाय तीनों टीकाओंके आधारपर यह संक्षिप्त बालबोधिनी टीका लिखी है । 'मंदप्रबोधिनी' हमको पूर्ण नहीं मिलसकी इसलिये जहांतक मिल सकी वहांतक तीनों टीकाओंके आधारसे और आगे 'केशववर्णी' तथा 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका'के आधारसे ही हमने इसको लिखा है ।

इस ग्रंथके दो भाग हैं–एक जीवकांड दूसरा कर्मकांड। जीवकाण्डमें जीवकी अनेक अशुद्ध अवस्थाओंका या भावोंका वर्णन है। कर्मकाण्डमें कर्मोंकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है। कर्मकाण्डकी संक्षिप्त हिंदी टीका श्रीयुत पं. मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा सम्पादित इसी ग्रंथमालाके द्वारा पहले प्रकाशित हो-चुकी है। जीवकांडकी संक्षिप्त हिंदी टीका अभीतक नहीं हुई थी। अत एव आज विद्वानोंके समक्ष उसीके उपस्थित करनेका मैंने साहस किया है।

जिस समय श्रीयुत प्रातःस्मरणीय न्यायवाचस्पति स्याद्वादवारिधि वादिगजकेसरी गुरुवर्य पं. गोपालदासजीके चरणोमें मैं विद्याध्ययन करता था उसी समय गुरुकी आज्ञानुसार इसके लिखनेका मैंने प्रारम्भ किया था। यद्यपि इसके लिखनेमें प्रमाद या अज्ञानवश मुझसे कितनी ही अशुद्धियां रहगई होंगी; तथापि सज्जन पाठकोंके गुणग्राही स्वभावपर दृष्टि देनेसे इस विषयमें मुझे अपने उपहासका बिलकुल भय नहीं होता। ग्रंथके पूर्ण करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ था तथापि किसीभी तरह जो मैं इसको पूर्ण कर सका हूं उसका कारण केवल गुरुप्रसाद है। अत एव इस कृतज्ञताके निदर्शनार्थ गुरुके चरणोंका चिरंतन चिंतवन करना ही श्रेय है।

प्राचीन टीकाएं समुद्रसमान गम्भीर हैं–सहसा उनका कोई अवगाहन नहीं कर सकता। जो अवगाहन नहीं कर सकते उनकेलिये कुल्याके समान इस क्षुद्र टीकाका निर्माण किया है। आशा है कि इसके अभ्याससे प्राचीन सिद्धांत तितीर्षुओंको अवश्य कुछ सरलता होगी। पाठकोंसे यह निवेदन है कि यदि इस कृतिमें कुछ सार भाग मालुम हो तो उसे मेरे गुरुका समझ हृदयंगत करें। और यदि कुछ निःसारता या विपरीतता मालुम पड़े तो उसे मेरी कृति समझें, और मेरी अज्ञानतापर क्षमाप्रदान करें।

यह टीका स्व. श्रीमान् रायचंद्रजीद्वारा स्थापित 'परमश्रुतप्रभावकमंडल'की तरफसे प्रकाशित की गई है। अत एव उक्त मंडल तथा उसके ऑनरेरी व्यवस्थापक शा. रेवाशंकर जगजीवनदासजीका साधुवादन करता हूं।

इस तुच्छ कृतिको पढ़नेके पूर्व "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसंति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः" इस श्लोकके अर्थको दृष्टिपथ करनेके लिये विद्वानोंसे प्रार्थना करनेवाला—

७–७–१९१६ ई.
२ रा पांजरापोळ–बंबई नं. ४

खूबचंद जैन
वेरनी (एटा) निवासी

विषयसूची।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची।

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका यह श्रीअमृतचन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है इसमें आचारसंबन्धी बडे २ गूढ रहस्य हैं विशेष कर हिंसाका स्वरूप बहुत खूबीकेसाथ दरसाया गया है, यह एक वार छपकर विकगयाथा इसकारण फिरसे संशोधन कराके दूसरीवार छपाया गया है। न्यों. १ रु.

२ पञ्चास्तिकाय संस्कृ. भा. टी. यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल और श्रीअमृतचन्द्रसूरीकृत संस्कृतटीकासहित पहले छपा था। अबकी वार इसकी दूसरी आवृत्तिमें एक संस्कृतटीका तात्पर्यवृत्ति नामकी जो कि श्रीजयसेनाचार्यने बनाई है अर्थकी सरलताकेलिये लगादी गई है तथा पहली संस्कृतटीकाके सूक्ष्म अक्षरोंको मोटा करादिया है और गाथासूची व विषयसूची भी देखनेकी सुगमताके लिये लगादी हैं। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्योंका तो उत्तम रीतिसे वर्णन है तथा कालद्रव्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया गया है। इसकी भाषा टीका स्वर्गीय पांडे हेमराजजीकी भाषाटीकाके अनुसार नवीन सरल भाषाटीकामें परिवर्तन कीगई है। इसपर भी न्यों. २ रु.

३ ज्ञानार्णव भा. टी. इसके कर्ता श्रीशुभचन्द्रस्वामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है। प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी बहुत दिखलाया है यह एकवार छपकर विकगया था अब द्वितीयवार संशोधन कराके छपाया गया है। न्यों. ४ रु.

४ सप्तभङ्गीतरंगिणी भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है इसमें ग्रंथकर्ता श्रीविमलदासजीने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्तभङ्गी नयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वादमत क्या है यह जाननेकेलिये यह ग्रंथ अवश्य पढना चाहिये। इसकी पहली आवृत्तिमें की एकभी प्रति नहीं रही अब दूसरी आवृत्ति शीघ्र छपकर प्रकाशित होगी। न्यों. १ रु.

५ बृहद्द्रव्यसंग्रह संस्कृत भा. टी. श्रीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजीकृत संस्कृतटीका तथा उसपर उत्तम बनाई गई भाषाटीका सहित है इसमें छह द्रव्योंका स्वरूप अतिस्पष्टरीतिसे दिखाया गया है। न्यों. २ रु.

६ द्रव्यानुयोगतर्कणा इस ग्रंथमें शास्त्रकार श्रीमद्भोजसागरजीने सुगमतासे मन्दबुद्धिजीवोंको द्रव्यज्ञान होनेकेलिये 'अथ, "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल द्रव्य—गुण तथा अन्य पदार्थोंका भी विशेष वर्णन किया है और प्रसंगवश 'स्यादस्ति' आदि सप्तभङ्गोंका और दिगंबराचार्यवर्य श्रीदेवसेनस्वामीविरचित नयचक्रके आधारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है। न्यों. २ रु.

७ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र भी है जैनियोंका यह परममान्य और मुख्य ग्रन्थ है इसमें जैनधर्मके संपूर्णसिद्धान्त आचार्यवर्य श्रीउमास्वाति (मी) जीने बडे लाघवसे संग्रह किये हैं। ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूत्रोंमें गर्भित न हो। सिद्धान्तसागरको एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थरूपी घटमें भरदेना यह कार्य अनुपमसामर्थ्यवाले इसके रचयिताका ही था। तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगांभीर्यको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पडता है। न्यों. २ रु.

८ स्याद्वादमञ्जरी संस्कृत भा. टी. इसमें छहों मतोंका विवेचनकरके टीका कर्ता विद्वद्वर्य श्रीमल्लिषेणसूरीजीने स्याद्वादको पूर्णरूपसे सिद्ध किया है। न्यों. ४ रु.

९ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संस्कृतछाया और संक्षिप्त भाषाटीका सहित। यह महान् ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है, इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतना विस्तारसे है कि वचनद्वारा प्रशंसा नहीं होसकती देखनेसेही मालूम होसकता है

और जो कुछ संसारका झगडा है वह इन्हीं दोनों (जीव-कर्म) के संबन्धस है सो इनदोनोंका स्वरूप दिखानेकेलिये अपूर्व सूर्य है। न्यों. २ रु.

१० **प्रवचनसार**—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिका सं. टी., "जो कि यूनिवर्सिटीके कोर्समे दाखिल है" तथा श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति सं. टी. और बालावबोधिनी भाषाटीका इन तीन टीकाओं सहित छपाया गया है इसके मूलकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य है। यह अध्यात्मिक ग्रन्थ है । न्यों. ३ रु.

११ **मोक्षमाळा**—कर्ता मरहुमसतावधानी कवी श्रीमद्राजचंद्र छे. आ एक स्याद्वाद तत्वावबोध-वृक्षनुं बीज छे. आ ग्रन्थ तत्व पामवानी जिज्ञासा उत्पन्न करीशके एवुं एमां कंइ अंशे पण दैवत रह्युं छे. आ पुस्तक प्रसिद्ध करवानो मुख्य हेतु उछरता बाळ युवानी अविवेकी विधा पामी जे आत्मसिद्धीथी भ्रष्ट थाय छे ते भ्रष्टता अटकाववानो छे. आ मोक्षमाळा मोक्षमेळववानां कारण रूप छे. आ पुस्तकनी बे वे आवृतिओ खलास थइ गइछे अने ग्राहकोनी बहोळी मागणी थी आ त्रीजी आवृति छपावी छे. कींमत आना बार.

१२ **भावनाबोध**—आ ग्रन्थना कर्ता पण उक्त महापुरुषज छे. वैराग्य ए आ ग्रन्थनो मुख्यविषय छे. पात्रता पामवानुं अने कषायमल दूर करवानुं आ ग्रन्थ उत्तम साधन छे. आत्मगवेषिओने आ ग्रन्थ आनंदोल्लास आपनार छे. आ ग्रन्थनी पण बे आवृतिओ खपी जवाथी अने ग्राहकोनी वहोळी मागणी थी आ त्रीजी आवृति छपावी छे. कींमत आना चार. आबंने ग्रन्थो गुजराती भाषामां अने बालबोध टाइपमां छपावेल छे.

१३ **परमात्मप्रकाश**—यह ग्रंथ श्रीयोगींद्रदेव रचित प्राकृतदोहाओंमें है इसकी संस्कृतटीका श्रीब्रह्मदेवकृत है तथा भाषाटीका पं० दौलतरामजीने की है उसके आधारसे नवीन प्रचलित हिंदीभाषा अन्वयार्थ भावार्थ पृथक् करके बनाई गई है । इसतरह दो टीकाओं सहित छपगया है । ये अध्यात्मग्रंथ निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेसे बहुत उपयोगी है । न्यों० ३ रु.

१४ **षोडशकप्रकरण**—यह ग्रन्थ श्वेताम्बराचार्य श्रीमद्धरिभद्रसूरिका बनाया हुआ संस्कृत आर्या छन्दोंमें है. इसमें सोलह धर्मोपदेशके प्रकरण हैं। इसका संस्कृत टीका तथा हिंदीभाषाटीका सहित प्रकाशन होरहा है । एक वर्षमें लगभग तैयार होजाइगा ।

१५ **लब्धिसार** (क्षपणासार सहित)—यह ग्रन्थ भी श्रीनेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्तीका बनाया हुआ है और गोम्मटसारका परिशिष्ट भाग है । इसीसे गोंमटसारके स्वाध्याय करनेकी सफलता होती है । इसमें मोक्षका मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेकी पांच लब्धियोंका वर्णन है फिर सम्यक्त्व होनेके बाद कर्मोंके नाश होनेका बहुत अच्छा क्रम बतलाया गया है कि भव्यजीव शीघ्र ही कर्मोंसे छूट अनंत सुखको प्राप्त होकर अविनाशी पदको पासकते हैं । यह भी मूल गाथा छाया तथा संक्षिप्त भाषा-टीका सहित छपाया जा रहा है । छह महीनेके लगभग तयार होजाइगा ।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनिमहाराजोंने तथा विद्वानोंने बहुत की है उसको हम स्थानाभावसे लिख नहीं सकते । और यह संस्था किसी स्वार्थकेलिये नहीं है केवल परोपकारकेवास्ते है । जो द्रव्य आता है वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमग्रन्थोंके उद्धारकेवास्ते लगाया जाता है ॥ इति शम् ॥

ग्रंथोंके मिलनेका पत्ता—

शा० रेवाशंकर जगजीवन जोंहरी
ऑनरेरी व्यवस्थापक श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल
जोंहरी बाजार खाराकुवा पो० नं० २ बंबई. ।

श्रीमन्नेमिचन्द्राय नमः ।

अथ छायाभाषाटीकोपेतः

गोम्मटसारः ।

जीवकाण्डम् ।

अथ श्रीनेमिचन्द्र सैद्धान्तिकचक्रवर्ती गोम्मटसार ग्रन्थके लिखनेके पूर्व ही निर्विघ्न समाप्ति नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालन और उपकारस्मरण—इन चार प्रयोजनोंसे इष्टदेवको नमस्कार करते हुए इस ग्रन्थमें जो कुछ वक्तव्य है उसकी "सिद्धं" इत्यादि गाथासूत्रद्वारा प्रतिज्ञा करते हैं:—

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिन्दवरणेमिचन्दमकलंकं ।
गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥ १ ॥

सिद्धं शुद्धं प्रणम्य जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रमकलङ्कम् ।
गुणरत्नभूषणोदयं जीवस्य प्ररूपणं वक्ष्ये ॥ १ ॥

अर्थ—जो सिद्ध अवस्था अथवा स्वात्मोपलब्धिको प्राप्त हो चुका है, अथवा न्यायके अनेक प्रमाणोंसे जिसकी सत्ता सिद्ध है, और जो चार घातिया—द्रव्यकर्मके अभावसे शुद्ध, और मिथ्यात्वादि भावकर्मोंके नाशसे अकलङ्क हो चुका है, और जिसके हमेशाही सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नोंके भूषणोंका उदय रहता है, इस प्रकारके श्रीजिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र-स्वामीको नमस्कार करके, जो उपदेशद्वारा पूर्वाचार्य परम्परासे चला आरहा है इस लिये सिद्ध, और पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध, और दूसरकी निन्दा आदि न करनेके कारण तथा रागादिका उत्पादक न होनेसे निष्कलङ्क है, और जिससे सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नभूषणोंकी प्राप्ति होती है=जो विकथा आदिकी तरह रागका कारण नहीं है इस प्रकारके जीवप्ररूपण नामक ग्रन्थको अर्थात् जिसमें अशुद्ध जीवके स्वरूप भेद प्रभेद आदि दिखलाये हैं इस प्रकारके ग्रन्थको कहूं गा ।

इस प्रकार नमस्कार और विवक्षित ग्रंथकी प्रतिज्ञाकर इस जीवकाण्डमें जितने अधिकारोंके द्वारा जीवका वर्णन करेंगे उनके नाम और संख्या दिखाते हैं ।

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णाय मग्गणाओ य ।
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ॥ २ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणाश्च ।
उपयोगोपि च क्रमशः विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥ २ ॥

अर्थः—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोग इस प्रकार ये वीस प्ररूपणा पूर्वाचार्योंने कही हैं । **भावार्थ** इनहीके द्वारा आगे जीवद्रव्यका निरूपण किया जायगा । इसलिये इनका लक्षण यद्यपि अपने अपने अधिकारमें स्वयं आचार्य कहेंगे तथापि यहांपर संक्षेपसे इनका लक्षण कहदेना भी उचित है । मोह और योगके निमित्तसे होनेवाली आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रगुणोंकी अवस्थाओंको **गुणस्थान** कहते हैं । जिन सदृशधर्मोंके द्वारा अनेक जीवोंका सङ्ग्रह किया जासके उन सदृशधर्मोंका नाम **जीवसमास** है । शक्तिविशेषकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं । जिनका संयोग रहनेपर जीवमें 'यह जीता है' और वियोग होनेपर 'यह मरगया' ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । आहारादिकी वाञ्छाको संज्ञा कहते हैं । जिनके द्वारा अनेक अवस्थाओंमें स्थित जीवोंका ज्ञान हो उनको मार्गणा कहते हैं । बाह्य तथा अभ्यंतर कारणोंके द्वारा होनेवाली आत्माके चेतना गुणकी परिणतिको उपयोग कहते हैं ।

उक्त वीस प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव गुणस्थान और मार्गणा इन दो प्ररूपणाओंमेंही हो सकता है, इस कथनके पूर्व दोनो प्ररूपणाओंकी उत्पत्तिका निमित्त तथा उनके पर्यायवाचक शब्दोंको दिखाते हैं ।

संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ॥ ३ ॥

संक्षेप ओघ इति च गुणसंज्ञा सा च मोहयोगभवा ।
विस्तार आदेश इति च मार्गणसंज्ञा स्वकर्मभवा ॥ ३ ॥

अर्थ—संक्षेप और ओघ यह गुणस्थानकी संज्ञा है और वह मोह तथा योगके निमित्तसे उत्पन्न होती है, इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणाकी संज्ञा है और यह भी अपने २ कर्मोंके उदयादिसे उत्पन्न होती है । यहांपर चकारका ग्रहण किया है इससे गुणस्थानकी सामान्य और मार्गणाकी विशेष यह भी संज्ञा समझना । यहांपर यह शङ्का होसकती है कि मोह तथा योगके निमित्तसे गुणस्थान उत्पन्न होते हैं नकि 'गुणस्थान'

१ नामके एकदेशसे भी सम्पूर्ण नाम समझाजाता है इस लिये गुणशब्दसे गुणस्थान और जीवशब्दसे जीवसमास समझना ।

यह संज्ञा फिर संज्ञाको मोहयोगभवा (मोह और योगसे उत्पन्न) क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थसे मोह और योगके द्वारा गुणस्थान ही उत्पन्न होते हैं न कि गुणस्थानसंज्ञा, तथापि यहांपर वाच्यवाचकमें कथंचित् अभेदको मानकर उपचारसे संज्ञाको भी मोहयोगभवा कहा है ।

उक्त वीस प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव दो प्ररूपणाओंमें किस अपेक्षासे हो सकता है और वीसप्ररूपणा किस अपेक्षासे कही हैं यह दिखाते हैं ।

आदेसे संलीणा जीवा पज्जत्तिपाणसण्णाओ ।
उवओगोवि य भेदे वीसं तु परूवणा भणिदा ॥ ४ ॥

आदेशे संलीना जीवाः पर्याप्तिप्राणसंज्ञाश्च ।
उपयोगोपि च भेदे विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥ ४ ॥

अर्थ—मार्गणाओंमें ही जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इनका अन्तर्भाव हो सकता है इस लिये अभेद विवक्षासे गुणस्थान और मार्गणा ये दो प्ररूपणा ही माननी चाहिये, वीस प्ररूपणा जो कही हैं वे भेद विवक्षासे हैं ।

किस मार्गणामें कौन २ प्ररूपणा अन्तर्भूत हो सकती हैं यह वात तीन गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

इन्दियकाये लीणा जीवा पज्जत्तिआणभासमणो ।
जोगे काओ णाणे अक्खा गदिमग्गणे आऊ ॥ ५ ॥

इन्द्रियकाययोर्लीना जीवाः पर्याप्त्यानभाषामनांसि ।
योगे कायः ज्ञाने अक्षीणि गतिमार्गणायामायुः ॥ ५ ॥

अर्थ—इन्द्रियमार्गणामें तथा कायमार्गणामें स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा, अथवा सामान्यविशेषकी अपेक्षा जीवसमासका अन्तर्भाव हो सकता है; क्योंकि इन्द्रिय तथा काय जीवसमासके स्वरूप हैं और जीवसमास स्वरूपवान् हैं । तथा इन्द्रिय और काय विशेष हैं जीवसमास सामान्य है । इसीप्रकार धर्म्मधर्म्मि सम्बन्धकी अपेक्षा पर्याप्ति भी अन्तर्भूत हो सकती है; क्योंकि इन्द्रिय धर्मी हैं और पर्याप्ति धर्म है । कार्यकारणसम्बन्धकी अपेक्षा श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनबल प्राण, तथा मनोबलप्राणका, पर्याप्तिमें अन्तर्भाव हो सकता है; क्योंकि प्राण कार्य है और पर्याप्ति कारण है । कायबल प्राण विशेष है और योग सामान्य है इसलिये सामान्यविशेषकी अपेक्षा योगमार्गणामें कायबलप्राण अन्तर्भूत हो सकता है । कार्यकारण-सम्बन्धकी अपेक्षासेही ज्ञानमार्गणामें इन्द्रियोंका अन्तर्भाव होसकता है; क्योंकि ज्ञानकार्यके प्रति लब्धीन्द्रिय[1] कारण हैं । इसीप्रकार गतिमार्गणामें आयुप्राणका अन्तर्भाव साहचर्यसम्बन्धकी अपेक्षा हो सकता है, क्योंकि इन दोनोंका उदय साथही होता है ।

---

१ इन्द्रियज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न निर्मलता ।

संज्ञाओंका अन्तर्भाव किस प्रकार होता है सो दिखाते हैं ।

मायालोहे रदिपुव्वाहारं कोहमाणगम्हि भयं ।
वेदे मेहुणसण्णा लोहम्हि परिग्गहे सण्णा ॥ ६ ॥

मायालोभयो रतिपूर्वकमाहारं क्रोधमानकयोर्भयम् ।
वेदे मैथुनसंज्ञा लोभे परिग्रहे संज्ञा ॥ ६ ॥

अर्थ—रतिपूर्वक आहार अर्थात् आहारसंज्ञा रागविशेष होनेसे रागका स्वरूपही है और माया तथा लोभकषाय दोनोंही स्वरूपवान् हैं इसलिये स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा माया और लोभकषायमें आहारसंज्ञाका अन्तर्भाव होता है । इसीप्रकार (स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा) क्रोध तथा मानकषायमें भयसंज्ञाका अन्तर्भाव होता है । कार्यकारणसम्बन्धकी अपेक्षा वेदकषायमें मैथुनसंज्ञाका और लोभकषायमें परिग्रहसंज्ञाका अन्तर्भाव होता है; क्योंकि वेदकषाय तथा लोभकषाय कारण हैं और मैथुनसंज्ञा तथा परिग्रहसंज्ञा कार्य हैं ।

उपयोगका अन्तर्भाव दिखानेके लिये सूत्र करते हैं ।

सागारो उवजोगो णाणे मग्गम्हि दंसणे मग्गे ।
अणगारो उवजोगो लीणोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ७ ॥

साकार उपयोगो ज्ञानमार्गणायां दर्शनमार्गणायाम् ।
अनाकार उपयोगो लीन इति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उपयोग दो प्रकारका होता है एक साकार दूसरा अनाकार । साकार उपयोग उसको कहते हैं जिसमें पदार्थ 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिभासित हों, इसीको ज्ञान कहते हैं इसलिये इसका ज्ञानमार्गणामें अन्तर्भाव होता है । जिसमें कोई भी विशेष पदार्थ प्रतिभासित न होकर केवल महासत्ताही विषय हो उसको अनाकार उपयोग तथा दर्शन कहते हैं इसका दर्शनमार्गणामें अन्तर्भाव होता है ।

यद्यपि यहांपर ऊपर सब जगह अभेद विवक्षासे दो ही प्ररूपणाओंमें शेष प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव दिखलादिया है तथापि आगे प्रत्येक प्ररूपणाका निरूपण भेदविवक्षासे ही करेंगे ।

प्रतिज्ञाके अनुसार प्रथम क्रमप्राप्त गुणस्थानका सामान्य लक्षण करते हैं ।

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥ ८ ॥

यैस्तु लक्ष्यन्ते उदयादिषु सम्भवैर्भावैः ।
जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयादि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाके

होनेपर होनेवाले जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणस्थानवाला और परिणामोंको गुणस्थान कहा है ।

भावार्थः—जिस प्रकार किसी जीवके दर्शन मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) रूप परिणाम हुए तो उस जीवको मिथ्यादृष्टि और उन परिणामोंको मिथ्यात्व गुणस्थान कहेंगे ।

गुणस्थानोंके १४ चौदह भेद हैं । उनके नाम दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहमो य ॥ ९ ॥

१ मिथ्यात्वं २ सासनः ३ मिश्रः ४ अविरतसम्यक्त्वं च ५ देशविरतश्च ।
विरताः ६ प्रमत्तः ७ इतरः ८ अपूर्वः ९ अनिवृत्तिः १० सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय । इस सूत्रमें चौथे गुणस्थानके साथ अविरतशब्द अन्त्यदीपक है इसलिये पूर्वके तीन गुणस्थानोंमेंभी अविरतपना समझना चाहिये । तथा छट्ठे गुणस्थानके साथका विरत शब्द आदि दीपक है इस लिये यहांसे लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं ऐसा समझना ।

उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ १० ॥

११ उपशान्तः, १२ क्षीणमोहः, १३ संयोगकेवलिजिनः, १४ अयोगी च ।
चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ १० ॥

अर्थ—उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवलिजिन, अयोगकेवली ये १४ चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं । और सिद्ध जीवसमासोंसे रहित हैं । अर्थात् इस सूत्रमें क्रमेण शब्द पड़ा है इससे यह सूचित होता है कि जीवसामान्यके दो भेद हैं एक संसारी दूसरा मुक्त । मुक्तअवस्था संसारपूर्वक ही होती है । संसारियोंके गुणस्थानकी अपेक्षा चौदह भेद हैं, इसके अनन्तर क्रमसे गुणस्थानोंसे रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है । इस गाथामें सयोग शब्द अन्त्यदीपक है इस लिये पूर्वके मिथ्यादृष्ट्यादि सबही गुणस्थानवर्ती जीव योगसहित होते हैं । और जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं । केवलि शब्द आदिदीपक है इसलिये सयोगी अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं यह सूचित होता है ।

इस प्रकार सामान्यसे गुणस्थानोंका निर्देशकर अब प्रत्येक गुणस्थानोंमें जो २ भाव होते हैं उनका उल्लेख करते हैं ।

मिच्छे खलु ओदइओ विदिये पुण पारणामिओ भावो ।
मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मह्मि तिण्णेव ॥ ११ ॥

मिथ्यात्वे खलु औदयिको द्वितीये पुनः पारणामिको भावः ।
मिश्रे क्षायोपशमिकः अविरतसम्यक्त्वे त्रय एव ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रथम गुणस्थानमें औदयिक भाव होते हैं । और द्वितीय गुणस्थानमें पारणामिक भाव होते हैं । मिश्रमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं । और चतुर्थ गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इस प्रकार तीनोंही भाव होते हैं ।

कर्मके उदयसे जो आत्माके परिणाम हों उनको औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उपशम होनेसे भाव होते हैं उनको औपशमिक भाव कहते हैं । सर्वघातिस्पर्धकोंके वर्तमान निषेकोंके विना फल दिये ही निर्जरा होनेपर और उसीके (सर्वघातिस्पर्धकोंके) आगामिनिषेकोंका सदवस्थारूप उपशम होनेपर और देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । जिनमें कर्मके उदय उपशमादिकी कुछ भी अपेक्षा न हो उनको पारणामिक भाव कहते हैं ।

उक्त चारों ही गुणस्थानके भाव किस अपेक्षासे कहे हैं उसको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु ।
चारित्तं णत्थि जदो अविरदअन्तेसु ठाणेसु ॥ १२ ॥

एते भावा नियमा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
चारित्रं नास्ति यतो अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानोंमें जो नियमबद्ध औदयिकादि भाव कहे हैं वे दर्शनमोहनीय कर्मकी अपेक्षासे हैं; क्योंकि चतुर्थगुणस्थानपर्यन्त चारित्र नहीं होता । **अर्थात्** मिथ्यादृष्ट्यादि गुणस्थानोंमें यदि सामान्यसे देखा जाय तो केवल औदयिकादि भाव ही नहीं होते किन्तु क्षायोपशमिकादि भाव भी होते हैं तथापि यदि केवल दर्शनमोहनीय कर्मकी अपेक्षा देखा जाय तो औदयिकादि भाव ही होते हैं; क्योंकि प्रथमगुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमात्रकी अपेक्षा है इसलिये औदयिक भाव ही हैं । द्वितीयगुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा ही नहीं है इसलिये पारणामिकभाव हैं । तृतीयगुणस्थानमें जात्यन्तर सर्वघाति मिश्रप्रकृतिका उदय है इसलिये क्षायोपशमिक भाव होते हैं । इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम क्षय क्षयोपशम तीनोंका सद्भाव है इसलिये तीनों ही प्रकारके भाव होते हैं ।

पञ्चमादिगुणस्थानोंमें जो २ भाव होते हैं उनको दो गाथाओंद्वारा अब दिखाते हैं ।

देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमियभावो दु ।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं ॥ १३ ॥

देशविरते प्रमत्ते इतरे च क्षायोपशमिकभावस्तु ।
स खलु चारित्रमोहं प्रतीत्य भणितस्तथा उपरि ॥ १३ ॥

अर्थ—देशविरत प्रमत्त अप्रमत्त इन गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव होते हैं तथा इनके आगे अपूर्वकरणादि गुणस्थानोंमें भी चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ही भावोंको कहेंगे ।

तत्तो उवरिं उवसमभावो उवसामगेसु खवगेसु ।
खइओ भावो णियमा अजोगिचरिमोत्ति सिद्धे य ॥ १४ ॥

तत उपरि उपशमभावः उपशामकेषु क्षपकेषु ।
क्षायिको भावो नियमात् अयोगिचरिम इति सिद्धे च ॥ १४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थानके ऊपर उपशमश्रेणिवाले आठमें नौमें दशमें गुणस्थानमें तथा ग्यारहमेमें औपशमिकभाव ही होते हैं, इसीप्रकार क्षपकश्रेणिवाले उक्त तीन गुणस्थान तथा क्षीणमोह, संयोगकेवली अयोगकेवली गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके नियमसे क्षायिक भाव ही होते हैं। क्योंकि उपशम श्रेणीवाला तीनों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम करता है और ग्यारहमेमें सम्पूर्ण चारित्रमोहनीयका उपशम कर चुकता है इसलिये यहांपर औपशमिक भाव ही होते हैं । इसीतरह क्षपकश्रेणिवाला इक्कीस प्रकृतियोंका क्षय करता है और क्षीणमोह, सयोगी, अयोगी और सिद्ध यहांपर क्षय होचुका है इसलिये क्षायिक भाव ही होते हैं ।

इसप्रकार संक्षेपसे सम्पूर्ण गुणस्थानोंमें होनेवाले भाव और उनके निमित्तको दिखाकर गुणस्थानोंका लक्षण अब क्रमप्राप्त है, इसलिये पहले प्रथमगुणस्थानका लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं ।

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्वार्थानाम् ।
एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ॥ १५ ॥

अर्थ-अ [illegible] प्रकृतिके उ[illegible] श्रद्धानको मिथ्यात्व कह[illegible]
इसके पांच [illegible] [illegible]

धर्मादिकके स्वरूपको विपर्ययरूप मानना इसको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं जैसे हिंसासे स्वर्गादिककी प्राप्ति होती है ।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रोंमें समान बुद्धि रखनेको विनयमिथ्यात्व कहते हैं । जैसे जिन और बुद्ध तथा उनके धर्मको समान समझना ।

समीचीन तथा असमीचीन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसी भी एकका निश्चय न होना इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं । जैसे सग्रन्थ लिङ्गमोक्षका साधन है या निर्ग्रन्थ लिङ्ग, अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनकी एकता मोक्षका साधन है अथवा यागादि कर्म । कर्मोंके सर्वथा अभावसे अनन्तगुणविशिष्ट आत्माकी शुद्ध अवस्थाविशेषको मोक्ष कहते हैं यद्वा बुद्धि आदि विशेषगुणोंके अभावको मोक्ष कहते हैं ।

जीवादि पदार्थोंको "यही है" "इसी प्रकार है" इस तरह विशेषरूपसे न समझनेको अज्ञानमिथ्यात्व कहते हैं ।

इस प्रकार सामान्यसे मिथ्यात्वके ये पांच भेद हैं विस्तारसे असंख्यातलोकप्रमाणतक भेद हो सकते हैं ।

उक्त मिथ्यात्वके पांच भेदोंके दृष्टान्तोंको दिखाते हैं ।

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ ।
इंदो विय संसइयो मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥ १६ ॥

एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनयः ।
इन्द्रोपि च संशयितो मस्करी चैवाज्ञानी ॥ १६ ॥

अर्थ— ये केवल दृष्टान्तमात्र हैं इसलिये प्रत्येकके साथ आदि शब्द लगालेना चाहिये अर्थात् बौद्धादिमतवाले एकान्तमिथ्यादृष्टि हैं । याज्ञिक ब्राह्मणादि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं । तापसादि विनयमिथ्यादृष्टि हैं, इन्द्रनामक श्वेताम्बर गुरु प्रभृति संशयमिथ्यादृष्टि हैं, और मस्करी आदिक अज्ञानी हैं ।

उक्त मिथ्यात्वके लक्षणको दूसरे प्रकारसे कहते हैं ।

मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥

मिथ्यात्वं विदन् जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।
न च धर्म्मं रोचते हि मधुरं खलु रसं यथा ज्वरितः ॥ १७ ॥

...त्व प्रकृतिके उ... ...श्या परिणामेकभावानुभवन करने-
...र, औपशमिक युक्त जीवको
...शम क्षय क्षयोपशम

श्रद्धान न करके विपरीत श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यहांपर जो च शब्द डाला है उससे यह अभिप्राय समझना चाहिये कि यदि कोई जीव बाहिरसे सम्यग्दृष्टिके समान आचरण करै और अन्तरङ्गसे उसके विपरीत परिणाम हों तो वह यथार्थमें मिथ्यादृष्टि ही है।

इस अर्थको दृढ़ करनेके लिये ही मिथ्यादृष्टिके बाह्य चिह्नोंको दिखाते हैं।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ १८ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्दधाति।
श्रद्दधाति असद्भावमुपदिष्टं वाऽनुपदिष्टम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओंके पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रहित और हितके करनेवाले भी वचनका यथार्थ श्रद्धान नहीं करता। किन्तु आचार्याभासोंकेद्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीत स्वरूपका इच्छानुसार श्रद्धान करता है।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानका स्वरूप, उसके भेद, और उनके दृष्टान्त, तथा बाह्य चिह्नोंको दिखाकर अब दूसरे सासादन गुणस्थानको कहते हैं।

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥ १९ ॥

आदिमसम्यक्त्वाद्धा आसमयतः षडावलिरिति वा शेषे।
अनान्यतरोदयात् नाशितसम्यक्त्व इति सासनाख्यः सः ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अथवा यहांपर वा शब्दका ग्रहण किया है इसलिये द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्तमात्र कालमेंसे जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने कालमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसीके भी उदयसे सम्यक्त्वकी विराधना होनेपर सम्यग्दर्शनगुणकी जो अव्यक्त अतत्वश्रद्धानरूप परिणति होती है उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

अब इस गुणस्थानको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ २० ॥

सम्यक्त्वरत्नपर्वतशिखरात् मिथ्यात्वभूमिसमभिमुखः।
नाशितसम्यक्त्वः सः सासननामा मन्तव्यः ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूप भूमिके सम्मुख

हो चुका है, अत एव जिसने सम्यक्त्वकी विराधना (नाश) करदी है और मिथ्यत्वको प्राप्त नहीं किया है उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं । भावार्थ—जिसप्रकार पर्वतसे गिरनेपर और भूमिपर पहुंचनेके पहले मध्यका जो काल है वह न पर्वतपर ठहरनेकाही है और न भूमिपर ही ठहरनेका है; किन्तु अनुभय काल है । इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायमेंसे किसी एकके उदय होनेसे सम्यक्त्वपरिणामोंके छूटनेपर, और मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय न होनेसे मिथ्यात्व परिणामोंके न होनेपर मध्यके अनुभयकालमें जो परिणाम होते हैं उनको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं। यहांपर जो सम्यक्त्वको रत्नपर्वतकी उपमा दी है उसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार रत्नपर्वत अनेक रत्नोंका उत्पन्न करनेवाला और उन्नतस्थान पर पहुंचानेवाला है उसही प्रकार सम्यक्त्व भी सम्यग्ज्ञानादि अनेक गुणरत्नोंको उत्पन्न करनेवाला है और सबसे उन्नत मोक्षस्थानपर पहुंचानेवाला है ।

क्रमप्राप्त तृतीयगुणस्थानका लक्षण करते हैं ।

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।
णय सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन च जात्यन्तरसर्वघातिकार्येण ।
नच सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमपि च सम्मिश्रो भवति परिणामः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसका प्रतिपक्षी आत्माके गुणको सर्वथा घातनेका कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियोंसे विलक्षण जातिका है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं । (शङ्का) यह तीसरा गुणस्थान वन नहीं सकता; क्योंकि मिश्ररूप परिणाम ही नहीं हो सकते । यदि विरुद्ध दो प्रकारके परिणाम एकही आत्मा और एकही कालमें माने जांय तो शीतउष्णकी तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आवेगा । यदि क्रमसे दोनों परिणामोंकी उत्पत्ति मानीजाय तो मिश्ररूप तीसरा गुणस्थान नहीं वनता । (समाधान) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मित्रामित्रन्यायसे एककाल और एकही आत्मामें मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार देवदत्तनामक किसी मनुष्यमें यज्ञदत्तकी अपेक्षा मित्रपना और चैत्रकी अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एकही कालमें रहते हैं और उनमे कोई विरोध नहीं है । उस ही प्रकार सर्वज्ञ निरूपित पदार्थके स्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभासकथित अतत्वश्रद्धानकी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मामें घटित हो सकते हैं इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं हैं ।

उक्त अर्थको ही दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।

एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्तिणादव्वो ॥ २२ ॥

दधिगुडमिव व्यामिश्रं पृथग्भावं नैव कर्तुं शक्यम् ।
एवं मिश्रकभावः सम्यग्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दही और गुडको परस्पर इस तरहसे मिलानेपर कि फिर उन दोनोंको पृथक् २ नहीं करसकें, उस द्रव्यके प्रत्येक परमाणुका रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है । उस ही प्रकार मिश्रपरिणामोंमें भी एकही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं ऐसा समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमें होनेवाली विशेषताको दिखाते हैं ।

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥ २३ ॥

स संयमं न गृह्णाति देशयमं वा न बध्नाति आयुः ।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ॥ २३ ॥

अर्थ—तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकल संयम या देशसंयमको ग्रहण नहीं करता, और न इस गुणस्थानमें आयुःकर्मका बन्ध ही होता है । तथा इस गुणस्थानवाला जीव यदि मरण करता है तो नियमसे सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामोंको प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुणस्थानमें मरण नहीं होता ।

उक्त अर्थको और भी स्पष्ट करते हैं ।

सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं ।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि ॥ २४ ॥

सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिणामेषु यत्रायुष्कं पुरा बद्धम् ।
तत्र मरणं मारणान्तसमुद्घातोपि च न मिश्रे ॥ २४ ॥

अर्थ—तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवने तृतीयगुणस्थानको प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूपके परिणामोंमेंसे जिस जातिके परिणाम कालमें आयुकर्मका बन्ध किया हो उस ही तरहके परिणामोंके होने पर उसका मरण होता है, किन्तु मिश्रगुणस्थानमें मरण नहीं होता । और न इस गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात[१] ही होता है । परन्तु किसी २ आचार्यके मतके अनुसार इस गुणस्थानमें भी मरण हो सकता है ।

---

१ मूल शरीरको विना छोडे ही आत्माके प्रदेशोंका वाहिर निकलना इसको समुद्घात कहते हैं । उसके सात भेद हैं वेदना कषाय वैक्रियक मारणान्तिक तैजस आहार और केवल । मरणसे पूर्व समयमें होनेवाले समुद्घातको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं ।

चतुर्थ गुणस्थानका लक्षण बताने के पूर्व उसमें होनेवाले सम्यग्दर्शन के औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक इन तीन भेदोंमें से प्रथम क्षायोपशमिकका लक्षण करते हैं ।

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं ।
चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥ २५ ॥

सम्यक्त्वदेशघातेरुदयाद्वेदकं भवेत्सम्यक्त्वम् ।
चलं मलिनमगाढं तन्नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ २५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनगुणको विपरीत करनेवाली प्रकृतियोंमेंसे देशघाति सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होने पर (तथा अनन्तानुबन्धि चतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियोंके आगामि निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकोंकी विना फल दिये ही निर्जरा होनेपर) जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । वे परिणाम चल मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागरपर्यन्त कर्मोंकी निर्जराको कारण हैं ।

जिसप्रकार एकही जल अनेक कल्लोलरूपमें परिणत होता है उसही प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हन्तोंमें समान अनन्त शक्तिके होने पर भी 'श्रीशान्तिनाथजी शान्तिकेलिये और श्रीपार्श्वनाथजी रक्षा करनेके लिये समर्थ हैं' इस तरह नाना विषयोंमें चलायमान होता है उस को चल सम्यग्दर्शन कहते हैं । जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मलके निमित्तसे मलिन कहा जाता है उसही तरह सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं । जिस तरह वृद्ध पुरुषके हाथमें ठहरी हुई भी लाठी कांपती है उसही तरह जिस सम्यग्दर्शनके होते हुऐ भी अपने वनवाये हुए मन्दिरादिमें 'यह मेरा मन्दिर है' और दूसरेके वनवाये हुए मन्दिरादिमें 'यह दूसरेके हैं' ऐसा भ्रम हो उसको अगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अब औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं ।

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
बिदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

सप्तानामुपशमत उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्तु क्षायिकं च ।
द्वितीयकषायोदयादसंयतं भवति सम्यक्त्वं च ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम और सर्वथा क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । इस (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) सम्यग्दर्शन के साथ संयम बिलकुल ही नहीं होता; क्योंकि यहां पर दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय है । अत एव इस गुणस्थानवर्ती जीवको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

इस गुणस्थानमें जो कुछ विशेषता है उसको दिखाते हैं।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥

सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्दधाति।
श्रद्दधात्यसद्भावमज्ञायमानो गुरुनियोगात् ॥ २७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान करलेता है। भावार्थ "अरहंतदेवका ऐसा ही उपदेश है" ऐसा समझकर यदि कोई पदार्थका विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरहंतका उपदेश समझकर उस पदार्थका वैसा श्रद्धान किया है परन्तु—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥ २८ ॥

सूत्रात्तं सम्यक् दर्शयन्तं यदा न श्रद्दधाति।
स चैव भवति मिथ्यादृष्टिर्जीवस्तदा प्रभृति ॥ २८ ॥

अर्थ—गणधरादिकथित सूत्रके आश्रयसे आचार्यादि के द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थका समीचीन श्रद्धान न करै तो वह जीव उस ही कालसे मिथ्यादृष्टि होजाता है। भावार्थ—आगममें दिखाकर समीचीन पदार्थके समझाने पर भी यदि वह जीव पूर्वमें अज्ञानसे किये हुए अतत्त्वश्रद्धानको न छोडे तो वह जीव उसही कालसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है॥

चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवका और भी विशेष स्वरूप दिखाते हैं।

णो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि।
यः श्रद्दधाति जिनोक्तं सम्यग्दृष्टिरविरतः सः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है। भावार्थ संयम दो प्रकारका होता है, एक इन्द्रियसंयम दूसरा प्राणसंयम। इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होनेको इन्द्रियसंयम, और अपने तथा परके प्राणोंकी रक्षाको प्राणसंयम कहते हैं। इस गुणस्थानमें दोनों संयमोंमेंसे कोई भी संयम नहीं होता अत एव इसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। परन्तु इस गुणस्थानमें जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि विना प्रयोजन किसी हिंसामें प्रवृत्त भी नहीं होता।

पंचमगुणस्थानका लक्षण कहते हैं ।

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥ ३० ॥

प्रत्याख्यानोदयात् संयमभावो न भवति नवरिं तु ।
स्तोकव्रतो भवति ततो देशव्रतो भवति पञ्चमः ॥ ३० ॥

अर्थ—यहां पर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यह विशेषता है कि अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय न होनेसे देशव्रत होता है, अत एव इस पंचमगुणस्थानका नाम देशव्रत है ।

इस गुणस्थानको विरताविरत भी कहते हैं सो क्यों ? इसकी उपपत्तिको कहते हैं ।

जो तसवहाउविरदो अविरदओ तहय थावरवहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ ३१ ॥

यस्त्रसबधाद्विरतः अविरतस्तथा च स्थावरवधात् ।
एकसमये जीवो विरताविरतो जिनैकमतिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ त्रसकी हिंसासे विरत और उस ही समयमें स्थावरकी हिंसासे अविरत होताहै उस जीवको विरताविरत कहतेहैं । भावार्थ–यहां पर जिन शब्द उपलक्षण है इसलिये जिनशब्दसे जिनेन्द्रदेव, और उनके उपदेशरूप आगम, तथा उसके अनुसार चलनेवाले गुरुओंका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् जिनदेव, जिन आगम, जिनगुरुओंका श्रद्धान करनेवाला जो जीव एकही समयमें त्रस हिंसाकी अपेक्षा विरत और स्थावरहिंसाकी अपेक्षा अविरत होता है इसलिये उसको एकही समयमें विरताविरत कहते हैं । यहांपर जो तथा च शब्द पड़ा है उसका यह अभिप्राय है कि विना प्रयोजन स्थावरहिंसाको भी नहीं करता ।

छट्टे गुणस्थानका लक्षण कहते हैं ।

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

संज्वलननोकषायाणामुदयात्संयमो भवेद्यस्मात् ।
मलजननप्रमादोपि च तस्मात्खलु प्रमत्तविरतः सः ॥ ३२ ॥

अर्थ—सकलसंयमको रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है; किन्तु उस संयम के साथ संज्वलन और नो कषायके उदयसे संयममें मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है अत एव इस गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं ।

१ विशेषता अर्थका द्योतक यह अव्यय है ।

वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणशीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ३३ ॥

व्यक्ताव्यक्तप्रमादे यो वसति प्रमत्तसंयतो भवति।
सकलगुणशीलकलितो महाव्रती चित्रलाचरणः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो महाव्रती सम्पूर्ण मूलगुण (२८) और शीलसे युक्त होता हुआ भी व्यक्त[1] और अव्यक्त[2] दोंनो प्रकारके प्रमादोंको करता है उस प्रमत्तसंयतका आचरण चित्रल[3] होता है।

प्रकरणमें प्राप्त प्रमादोंका वर्णन करते हैं।

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयोय।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ॥ ३४ ॥

विकथा तथा कषाया इन्द्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च।
चतुःचतुःपञ्चैकैकं भवन्ति प्रमादाः खलु पञ्चदश ॥ ३४ ॥

अर्थ—चार विकथा (स्त्रीकथा भक्तकथा राष्ट्रकथा अवनिपालकथा) चार कषाय (क्रोध मान माया लोभ) पांच इन्द्रिय (स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र) एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह) ये पंद्रह प्रमादोंकी संख्या है।

अब प्रमादोंका विशेष वर्णन करनेके लिये उनके पांच प्रकारोंका वर्णन करते हैं।

संखा तह पत्थारो परियट्टण णट्ट तह समुद्दिट्ठं।
एदे पंच पयारा पमदसमुक्कित्तणे णेया ॥ ३५ ॥

संख्या तथा प्रस्तारः परिवर्तनं नष्टं तथा समुद्दिष्टम्।
एते पञ्च प्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेयाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—प्रमादके विशेष वर्णनके विषयमें इन पांच प्रकारोंको समझना चाहिये। संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, और समुद्दिष्ट। आलापोंके भेदों की गणनाको संख्या कहते हैं। संख्याके रखने या निकालनेके क्रमको प्रस्तार, और एक भेदसे दूसरे भेदपर पहुंचनेके क्रमको परिवर्तन, संख्याके द्वारा भेदके निकालनेको नष्ट, और भेदको रखकर संख्याके निकालनेको समुद्दिष्ट कहते हैं।

संख्याकी उत्पत्तिका क्रम बताते हैं।

सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंतित्ति य कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ॥ ३६ ॥

१-२ जिसका स्वयं अनुभव हो उसको व्यक्त और उससे विपरीतको अव्यक्त प्रमाद कहते हैं।

३ चितकबरा अर्थात् जिसमें किसी दूसरे रंगका भी सद्भाव हो। छट्टे गुणस्थानवर्ती मुनिका आचरण कषाययुक्त होनेसे चित्रल कहाजाता है।

सर्वेपि पूर्वभङ्गा उपरिमभङ्गेषु एकैकेषु ।
मिलन्ति इति च क्रमशो गुणिते उत्पद्यते संख्या ॥ ३६ ॥

अर्थ—पूर्वके सब ही भङ्ग आगेके प्रत्येक भङ्गमें मिलते हैं, इसलिये क्रमसे गुणाकार करने पर संख्या उत्पन्न होती है । भावार्थ–पूर्वके विकथाओंके प्रमाण चारको आगेकी कषायोंके प्रमाण चारसे गुणा करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक विकथा प्रत्येक कषायके साथ पाई जाती है । इससे जो राशि उत्पन्न हो (जैसे १६) उसको पूर्व समझकर उसके आगेकी इन्द्रियोंके प्रमाण पांचसे गुणा करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक विकथा या कषाय प्रत्येक इन्द्रियके साथ पाई जाती है । इसके अनुसार सोलहको पांचसे गुणने पर अस्सी प्रमादोंकी संख्या निकलती है । निद्रा और प्रणय ये एक ही एक हैं इसलिये इन के साथ गुणा करनेपर संख्यामें वृद्धि नहीं हो सक्ती ।

अब प्रस्तारक्रमको दिखाते हैं ।

पढमं पमदपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केकं णिक्खित्ते होदि पत्थारो ॥ ३७ ॥

प्रथमं प्रमादप्रमाणं क्रमेण निक्षिप्य उपरिमाणं च ।
पिण्डं प्रति एकैकं निक्षिप्ते भवति प्रस्तारः ॥ ३७ ॥

अर्थ—प्रथम प्रमादके प्रमाणका विरलन कर क्रमसे निक्षेपण करके उसके एक एक रूपके प्रति आगेके पिण्डरूप प्रमादके प्रमाणका निक्षेपण करनेपर प्रस्तार होता है । भावार्थ–प्रथम विकथा प्रमादका प्रमाण ४, उसका विरलन कर क्रमसे १ १ १ १ इसतरह निक्षेपण करना । इसके ऊपर कषायप्रमादके प्रमाण चारको प्रत्येक एकके ऊपर $\overset{४४४४}{१११९}$ इसतरह निक्षेपण करना, ऐसा करनेके अनंतर परस्पर (कषायको) जोड़ देने पर १६ सोलह होते हैं । इन सोलहका भी पूर्वकी तरह विरलन कर एक २ करके सोलह जगह रखना तथा प्रत्येक एकके ऊपर आगेके इन्द्रियप्रमादका प्रमाण पांच २ रखना। ऐसा करनेसे पूर्वकी तरह परस्पर जोड़ने पर अस्सी प्रमाद होते हैं । इसको प्रस्तार कहते हैं । इससे यह मालूम हो जाता है कि पूर्वके समस्त प्रमाद, आगेके प्रमाद के प्रत्येकभेदके साथ पाये जाते हैं ।

प्रस्तारका दूसरा क्रम बताते हैं ।

णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केकं ।
पिंडं पडि णिक्खेओ एवं सवत्थ कायवो ॥ ३८ ॥

निक्षिप्त्वा द्वितीयमात्रं प्रथमं तस्योपरि द्वितीयमेकैकम् ।
पिण्डं प्रति निक्षेप एवं सर्वत्र कर्तव्यः ॥ ३८ ॥

अर्थ—दूसरे प्रमादका जितना प्रमाण है उतनी जगहपर प्रथम प्रमादके पिण्डको रखकर, उसके ऊपर एक २ पिण्ड प्रति आगेके प्रमादमेंसे एक २ का निक्षेपण करना, और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना। भावार्थ—दूसरे कषाय प्रमादका प्रमाण चार है इसलिये चार जगह पर प्रथम विकथाप्रमादके पिण्डका स्थापन करके उसके ऊपर पिण्ड पिण्डके प्रति एक २ कषायका ($\frac{1\,1\,1\,1}{4\,4\,4\,4}$) स्थापन करना। इनको परस्पर जोड़नेसे सोलह होते हैं। इन सोलहको प्रथम समझकर, इनसे आगेके इन्द्रिय प्रमादका प्रमाण पांच है इस लिये सोलहके पिण्डको पांच जगह रखकर पीछे प्रत्येक पिण्डपर क्रमसे एक २ इन्द्रियका स्थापन करना ($\overset{1}{16}\ \overset{1}{16}\ \overset{1}{16}\ \overset{1}{16}\ \overset{1}{16}$) इन सोलहको इन्द्रियप्रमादके प्रमाण पांचसे गुणा करने पर या पांच जगहपर रक्खे हुए सोलहको परस्पर जोड़नेसे प्रमादोंकी संख्या अस्सी निकलती है

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षपरिवर्तनको[1] कहते हैं।

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो॥ ३९॥

तृतीयाक्ष अन्तगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते संक्रामति प्रथमाक्षः॥ ३९॥

अर्थ—प्रमादका तृतीयस्थान अन्तको प्राप्त होकर जब फिरसे आदिस्थानको प्राप्त होजाय तब प्रमादका दूसरा स्थान भी बदलजाता है। इसी प्रकार जब दूसरा स्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि को प्राप्त होजाय तब तीसरा प्रमादका स्थान बदलता है। भावार्थ—तीसरा इन्द्रियस्थान जब स्पर्शनादिके क्रमसे क्रोध और प्रथम विकथापर घूमकर अन्तको प्राप्त होजाय तब दूसरे कषायस्थानमें क्रोधका स्थान छूटकर मानका स्थान होता है। इसी प्रकार क्रमसे जब कषायका स्थान भी पूर्ण होजाय तब विकथामें स्त्रीकथाका स्थान छूटकर राष्ट्रकथाका स्थान होता है। इसक्रमसे स्त्रीकथालापी क्रोधी स्पर्शनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान् आदि अस्सी हू भङ्ग निकलते हैं। निद्रा और स्नेह इनका दूसरा भेद नहीं है इसलिये इनमें अक्षसंचार नहीं होता।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षसंचारको कहते हैं

पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो॥ ४०॥

प्रथमाक्ष अन्तगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते संक्रामति तृतीयाक्षः॥ ४०॥

१ एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर जानेको परिवर्तन कहते हैं।

अर्थ—प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमादस्थान वह घूमता हुआ जब क्रमसे अंततक पहुंचकर फिर स्त्रीकथारूप आदि स्थानपर आता है तब दूसरा कषायका स्थान क्रोधको छोड़कर मानपर आता है । इसी प्रकार जब दूसरा कषायस्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थानपर आता है तब तीसरा इन्द्रियस्थान बदलता है । अर्थात् स्पर्शनको छोड़कर रसनापर आता है ।

आगे नष्टके लानेकी विधि बताते हैं ।

सगमाणेहिं विभत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं ।
लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूवपक्खेवो ॥ ४१ ॥

स्वकमानैर्विभक्ते शेषं लक्षयित्वा जानीहि अक्षपदम् ।
लब्धे रूपं प्रक्षिप्य शुद्धे अन्ते न रूपप्रक्षेपः ॥ ४१ ॥

अर्थ—किसीने जितनेमा प्रमादका भङ्ग पूछा हो उतनी संख्याको रखकर उसमें क्रमसे प्रमादप्रमाणका भाग देना चाहिये। भाग देनेपर जो शेष रहे उसको अक्षस्थान समझ जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर, दूसरे प्रमादके प्रमाणका भाग देना चाहिये, और भाग देनेसे जो शेष रहै उसको अक्षस्थान समझना चाहिये। किन्तु शेष स्थानमें यदि शून्य हो तो अन्तका अक्षस्थान समझना चाहिये, और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिये। जैसे किसीने पूछा कि प्रमादका वीसवां भङ्ग कौनसा है ? तो वीसकी संख्याको रखकर उसमें प्रथम विकथाप्रमादके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध पांच आये, और शून्य शेषस्थानमें है इसलिये पांचमें एक नहीं मिलाना और अन्तकी विकथा (अवनिपालकथा) समझना चाहिये । इसी प्रकार आगे भी कषायके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध और शेष एक २ ही रहा, इस लिये प्रथम क्रोधकषाय, और लब्ध एकमें एक और मिलानेसे दो होते हैं इसलिये दूसरी रसनेन्द्रिय समझनी चाहिये । अर्थात् २० वां भङ्ग अवनिपालकथालापी क्रोधी रसनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान् यह हुआ ।

अब उद्दिष्टका स्वरूप कहते हैं ।

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा एमेव सव्वत्थ ॥ ४२ ॥

संस्थाप्य रूपमुपरितः संगुणित्वा स्वकमानम् ।
अपनीयानङ्कितं कुर्यात् एवमेव सर्वत्र ॥ ४२ ॥

अर्थ—एकका स्थापन करके आगेके प्रमादका जितना प्रमाण है उसके साथ गुणाकार करना चाहिये। और उसमें जो अनङ्कित हो उसका त्याग करै । इसीप्रकार आगे भी करनेसे उद्दिष्टका प्रमाण निकलता है । भावार्थ—प्रमादके भङ्गको रखकर उसकी संख्याके निकालने-

को उद्दिष्ट कहते हैं। उसके निकालने का क्रम यह है कि किसीने पूछा कि राष्ट्रकथालापी मायी घ्राणेन्द्रियवशंगतः निद्रालुः स्नेहवान् यह प्रमादका भङ्ग कितनेमा है? तो एक(१) संख्या को रखकर उसको प्रमादके प्रमाणसे गुणा करना चाहिये और जो अनंकित हो उसको उसमेंसे घटादेना चाहिये। जैसे १ एकका स्थापनकर उसको इन्द्रियोंके प्रमाण पांचसे गुणा करनेपर पांच हुए उसमेंसे अनंकित चक्षुः श्रोत्र दो हैं; क्योंकि भङ्ग पूछनेमें घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण किया है, इसलिये दोको घटाया तो शेष रहे तीन, उनको कषायके प्रमाण चारसे गुणा करनेपर बारह होते हैं, उनमें अनंकित एक लोभकषाय है इसलिये एक घटादिया तो शेष रहे ग्यारह, उनको विकथाओंके प्रमाण चारसे गुणनेपर चवालीस होते हैं, उसमेंसे एक अवनिपालकथाको घटा दिया तो शेष रहे तेतालीस इसलिये उक्त भङ्ग तेतालीसमां हुआ।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा जो अक्षपरिवर्तन बताया था उसके आश्रयसे नष्ट और उद्दिष्टके गूढयन्त्रको दिखाते हैं।

इगिवितिचपणखपणदशपण्णरसं खवीसतालसट्ठी य।
संठविय पमदठाणे णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे॥ ४३॥

एकद्वित्रिचतुःपंचखपञ्चदशपञ्चदश खविंशच्चत्वारिंशत् षष्टीश्च।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने॥ ४३॥

अर्थ—तीन प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम पांच इन्द्रियोंके स्थानपर एक दो तीन चार पांचको क्रमसे स्थापन करना। चार कषायोंके स्थानपर शून्य पांच दश पन्द्रह स्थापन करना। तथा विकथाओंके स्थानपर क्रमसे शून्य वीस चालीस साठ स्थापन करना। ऐसा करनेसे नष्ट उद्दिष्ट अच्छीतरह समझमें आसकते हैं। क्योंकि जो भङ्ग विवक्षित हो उसके स्थानोंपर रक्खी हुई संख्याको परस्पर जोड़नेसे, यह कितनेवां भङ्ग है अथवा इस संख्यावाले भङ्गमें कौन २ सा प्रमाद आता है यह समझमें आसकता है।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा गूढयन्त्रको कहते हैं।

इगिवितिचखचडवारं खसोलरागट्ठदालचउसट्ठिं।
संठविय पमदठाणे णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे॥ ४४॥

एकद्वित्रिचतुःखचतुरष्टद्वादश खषोडशरागाष्टचत्वारिंशच्चतुःषष्टिम्[1]।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने॥ ४४॥

अर्थ—दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा तीनों प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम विकथाओंके स्थानपर १।२।३।४ स्थापन करना, और कषायोंके स्थानपर ०।४।८।१२ स्थापनकरना, और

१–रागशब्दसे ३२ लिये जाते हैं; क्योंकि "कटपयपुरःस्थवर्णैः" इत्यादि नियमसूत्रके अनुसार गका अर्थ ३ और रका अर्थ २ होता है। और यह नियम है कि "अङ्कोंकी विपरीत गति होती है"।

इन्द्रियोंकी जगहपर ०।१६।३२।४८।६४। स्थापन करना, ऐसा करनेसे दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा भी पूर्वकी तरह नष्टोद्दिष्ट समझमें आसकते हैं ।

सप्तमगुणस्थानका स्वरूप बताते हैं ।

संजलणणोकासायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ॥ ४५ ॥

संज्वलननोकषायाणामुदयो मन्दो यदा तदा भवति ।
अप्रमत्तगुणस्तेन च अप्रमत्तः संयतो भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—जब संज्वलन और नोकषायका मन्द उदय होता है तब सकल संयमसे युक्त मुनिकें प्रमादका अभाव हो जाता है इसही लिये इस गुणस्थानको अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त ।

स्वस्थानाप्रमत्तसंयतका निरूपण करते हैं ।

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणोहु अपमत्तो ॥ ४६ ॥

नष्टाशेषप्रमादो व्रतगुणशीलावलिमण्डितो ज्ञानी ।
अनुपशमक अक्षपको ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस संयतके सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्रही महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शीलसे युक्त है, और शरीर आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्षके कारणभूत ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त जबतक उपशमक या क्षपक श्रेणिका आरोहण नहीं करता तबतक उसको स्वस्थानअप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं ।

सातिशय अप्रमत्तका स्वरूप कहते हैं ।

इगवीसमोहखवणुवसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं ।
पढमं अधापवत्तं करणं तु करेदि अपमत्तो ॥ ४७ ॥

एकविंशतिमोहक्षपणोपशमननिमित्तानि त्रिकरणानि तेषु ।
प्रथममधःप्रवृत्तं करणं तु करोति अप्रमत्तः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन सम्बन्धी क्रोधमानमायालोभ तथा हास्यादिक नव नोकषाय मिलकर इक्कीस मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम या क्षय करनेको आत्माके तीन करण अर्थात् तीन प्रकारके विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं, अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण । उनमेंसे सातिशय अप्रमत्त–अर्थात् जो श्रेणि चढनेके सम्मुख है वह प्रथमके अधःप्रवृत्त करणको ही करता है ।

अधःप्रवृत्तकरणका लक्षण कहते हैं ।

जह्मा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति ।
तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ॥ ४८ ॥

यस्मादुपरितनभावा अधस्तनभावैः सदृशका भवन्ति ।
तस्मात्प्रथमं करणमधःप्रवृत्तमिति निर्दिष्टम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अधःप्रवृत्तकरणके कालमेंसे ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम नीचेके समयवर्ती जीवोंके परिणामके सदृश—अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं इसलिये प्रथम करणको आगममें अधःप्रवृत्त करण कहा है ।

अधःप्रवृत्तकरणके काल और उसमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण बताते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा ।
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ॥ ४९ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रस्तत्कालो भवति तत्र परिणामाः ।
लोकानामसंख्यमिता उपर्युपरिसदृशवृद्धिगताः ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, और उसमें परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं, और ये परिणाम ऊपर ऊपर सदृश वृद्धिको प्राप्त होते गये हैं । अर्थात् यह जीव चारित्रमोहनीयकी शेष २१ प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेके लिये अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणोंको करता है । उसमें से अधःकरण श्रेणि चढ़नेके सम्मुख सातिशय अप्रमत्तके होता है, और अपूर्वकरण आठवें और अनिवृत्तकरण नववें गुणस्थानमें होता है । **भावार्थ**—करण नाम आत्माके परिणामोंका है । इन परिणामोंमें प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है । जिसके बलसे कर्मोंका उपशम तथा क्षय और स्थितिखण्डन तथा अनुभागखण्डन होते हैं । इन तीनों करणोंका काल यद्यपि सामान्यालापसे अन्तर्मुहूर्तमात्र है, तथापि अधःकरणके कालके संख्यातवें भाग अपूर्वकरणका काल है, और अपूर्वकरणके कालसे संख्यातवें भाग अनिवृत्तकरणका काल है । अधःप्रवृत्तकरणके परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण हैं । अपूर्वकरणके परिणाम अधःकरणके परिणामोंसे असंख्यातलोकगुणित हैं । और अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या उसके कालके समयोंके समान है । अर्थात् अनिवृत्तकरणके कालके जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं । पूर्वोक्त कथनका खुलासा विना दृष्टान्तके नहीं हो सकता इसलिये इसका दृष्टान्त इसप्रकार समझना चाहिये किः—कल्पना करो कि अधःकरणके कालके समयोंका प्रमाण १६, अपूर्वकरणके कालके समयोंका प्रमाण ८, और अनिवृत्तकरणके कालके समयोंका प्रमाण ४ है । अधःकरणके परिणामोंकी संख्या ३०७२, अपूर्वकरणके परिणामोंकी संख्या ४०९६, और

अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या ४ है । एक समयमें एक जीवके एकही परिणाम होता है इसलिये एक जीव अधःकरणके १६ समयोंमें १६ परिणामोंको ही धारण कर सकता है । अधःकरणके और अपूर्वकरणके परिणाम जो १६ और ८ से अधिक कहे हैं, वे नाना जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं । यहां इतना विशेष है कि अधःकरणके १६ समयोंमेंसे प्रथम समयमें यदि कोई भी जीव अधःकरण मांडैगा तो उसके अधःकरणके समस्त परिणामोंमेंसे पहले १६२ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा । अर्थात् तीन कालमें जब कभी चाहे जब चाहे जो अधःकरण मांड़ैगा तो उसके पहले समयमें नम्बर १ से लगाकर नम्बर १६२ तकके परिणामोंमेंसे उसकी योग्यताके अनुसार कोई एक परिणाम होगा । इसही प्रकार किसी भी जीवके उसके अधःकरण मांड़नेके दूसरे समयमें नम्बर ४० से लगाकर नम्बर २०५ तक १६६ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा । इसही प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें भी क्रमसे नम्बर ८० से लगाकर २४९ तक १७० परिणामोंमेंसे कोई एक और १२१ से लगाकर २९४ तकके १७४ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा । इसीतरह आगेके समयोंमें होनेवाले परिणाम गोम्मटसारकी बड़ी टीकामें, या सुशीला उपन्यासमें दिये हुए यन्त्रद्वारा समझलेने चाहिये । अधःकरणके अपुनरुक्त परिणाम केवल ९१२ हैं । और समस्त समयोंमें होनेवाले पुनरुक्त और अपुनरुक्त परिणामोंका जोड़ ३०७२ है । इस अधःकरणके परिणाम समानवृद्धिको लिये हुए हैं—अर्थात् पहले समयके परिणामसे द्वितीय समयके परिणाम जितने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयोंके परिणामोंसे तृतीयादिक समयोंके परिणाम अधिक हैं । इस समानवृद्धिको ही चय कहते हैं । इस दृष्टान्तमें चयका प्रमाण ४ है, स्थानका प्रमाण १६, और सर्वधनका प्रमाण ३०७२ है । प्रथमस्थानमें वृद्धिका अभाव है इसलिये अन्तिमस्थानमें एक घटि पद (स्थान) प्रमाण चय वर्द्धित हैं । अतएव एक घाटि पदके आधेको चय और पदसे गुणाकरनेपर $\frac{१५\times४\times१६}{२}$ ४८० चयधनका प्रमाण होता है । भावार्थ प्रथम समयके समान समस्त समयोंमें परिणामोंको भिन्न समझकर वर्द्धित प्रमाणके जोडको चयधन वा उत्तरधन कहते हैं । सर्वधनमेंसे चयधनको घटाकर शेषमें पदका भागदेनेसे प्रथम समयसम्बन्धी परिणाम पुंजका प्रमाण $\frac{३०७२-४८०}{१६}$=१६२ होता है । इसमें क्रमसे एक २ चय जोड़नेपर द्वितीयादिक समयोंके परिणाम पुंजका प्रमाण होता है । एक घाटि पदप्रमाण चय मिलानेसे अंतसमयसम्बन्धी परिणामपुंजका प्रमाण १६२+१५×४=२२२ होता है । एक समयमें अनेक परिणामोंकी सम्भावना है इसलिये एक समयमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको ग्रहण करसकते हैं । अतएव एक समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें विसदृशता है । एकसमयमें अनेक जीव एक परिणामको ग्रहण कर सकते हैं इसलिये एक समयमें नानाजीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें सदृशता है । भिन्नसमयोंमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको ग्रहण कर सकते हैं इसलिये भिन्न समयोंमें नानाजीवोंके

अपेक्षासे परिणामोंमें विसदृशता है। जो परिणाम किसी एक जीवके प्रथम समयमें हो सकता है वही परिणाम किसी दूसरे जीवके दूसरे समयमें, और तीसरे जीवके तीसरे समयमें, तथा चौथे जीवके चौथे समयमें हो सकता है, इसलिये भिन्नसमयवर्ती अनेक जीवोंके परिणामोंसे सदृशता भी होती है। जैसे १६२ नम्बरका परिणाम प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ समयमें होसकता है। प्रथम समयसम्बन्धी परिणामपुंजके भी ३९,४०, ४१,४२ इसतरह चार खण्ड किये गये हैं। अर्थात् नम्बर १ से लेकर ३९ नम्बर तकके ३९ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम समयमें ही पाये जाते हैं, द्वितीयादिक समयोंमें नहीं, इनही ३९ परिणामोंके पुंजको प्रथम खण्ड कहते हैं। दूसरे खण्डमें नम्बर ४० से ७९ तक ४० परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम और द्वितीय समयमें पाये जाते हैं इसको द्वितीय खण्ड कहते हैं। तीसरे खण्डमें नम्बर ८० से १२० तक ४१ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम द्वितीय तृतीय समयोंमें पाये जाते हैं। और चतुर्थ खण्डमें नम्बर १२१ से १६२ तक ४२ परिणाम ऐसे है जो आदिके चारोंही समयोंमें पाये जा सकते हैं। इसही प्रकार अन्य समयोंमेंभी समझना। अधःकरणके ऊपर २ के समस्त परिणाम पूर्वपूर्व परिणामकी अपेक्षा अनन्त २ गुणी विशुद्धता लिये हुए हैं।

अब अपूर्वकरण गुणस्थानको कहते हैं।

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

अन्तर्मुहूर्तकालं गमयित्वा अधःप्रवृत्तकरणं तत्।
प्रतिसमयं शुध्यन् अपूर्वकरणं समाश्रयति ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसका अन्तर्मुहूर्तमात्र काल है ऐसे अधःप्रवृत्तकरणको विताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए अपूर्वकरण जातिके परिणामोंको करता है तब उसको अपूर्वकरणनामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं।

अपूर्वकरणका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं।

एदह्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्मा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥ ५१ ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः।
पूर्वमप्राप्ता यस्मात् भवन्ति अपूर्वा हि परिणामाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानमें भिन्नसमयवर्ती जीव, जो पूर्वसमयमें कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण। **भावार्थ** जिस प्रकार अधःकरणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विस-

दृश दोनों ही प्रकारके होते हैं, वैसा अपूर्वकरणमें नहीं है; किन्तु यहांपर भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं सदृश नहीं होते ।

इस गुणस्थानका दो गाथाओंद्वारा विशेषस्वरूप दिखाते हैं ।

भिण्णसमयट्ठियेहिं दु जीवेहिं ण होदि सवदा सरिसो ।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ॥ ५२ ॥

भिन्नसमयस्थितैस्तु जीवैर्न भवति सर्वदा सादृश्यम् ।
करणैरेकसमयस्थितैः सादृश्यं वैसादृश्यं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यहांपर (अपूर्वकरणमें) भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विशुद्ध परिणामोंकी अपेक्ष कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता; किन्तु एक समयवर्ती जीवोंमें सादृश्य और वैसादृश्य दोनोंही पाये जाते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।
कमउड्ढा पुव्वगुणे अणुकट्टी णत्थि णियमेण ॥ ५३ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रे प्रतिसमयमसंख्यलोकपरिणामाः ।
क्रमवृद्धा अपूर्वगुणे अनुकृष्टिर्नास्ति नियमेन ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और इसमें परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं, और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समानवृद्धिको लिये हुए हैं । तथा इस गुणस्थानमें नियमसे अनुकृष्टिरचना नहीं होती है । **भावार्थ**—अधःप्रवृत्तकरणके कालसे अपूर्वकरणका काल यद्यपि संख्यातगुणा हीन है; तथापि सामान्यसे अन्तर्मुहूर्तमात्रही है । और इसमें परिणामोंकी संख्या अधःप्रवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्यासे असंख्यातलोकगुणी है । और इन परिणामोंमें उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि होती गई है । अर्थात् प्रथम समयके परिणामोंसे जितने अधिक द्वितीय समयके परिणाम हैं उतने २ ही अधिक द्वितीयादि समयके परिणामोंसे तृतीयादि समयके परिणाम हैं । तथा जिसप्रकार अधःप्रवृत्तकरणमें भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सादृश्य पाया जाता है इसलिये वहांपर अनुकृष्टि रचना की है उस प्रकार अपूर्वकरणमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती; क्योंकि भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें यहांपर सादृश्य नहीं पाया जाता । इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है । सर्वधनका प्रमाण ४०९६ है, चयका प्रमाण १६, और स्थानका प्रमाण ८ है । एक घाटिपदके आधेको चय और पदसे गुणाकरनेपर चयधनका प्रमाण $\frac{७ \times १६ \times ८}{२}$=४४८ होता है । सर्वधनमेंसे चयधनको घटाकर पदका भाग देनेसे प्रथमसमयसम्बन्धी परिणामपुंजका प्रमाण $\frac{४०९६ - ४४८}{८}$=४५६ होता है । इसमें एक २ चय जोड़नेपर द्वितीयादि

समयमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण निकलता है। इसमें एक घाटि पदप्रमाण चय जोड़नेसे अंतसमयसंबन्धी परिणामोंका प्रमाण ४५६+७×१६=५६८ होता है।

इन अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा क्या कार्य होता है? यह दो गाथाओंद्वारा स्पष्ट करते हैं।

तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं।
मोहस्सपुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया॥ ५४॥

तादृशपरिणामस्थितजीवा हि जिनैर्गलिततिमिरैः।
मोहस्यापूर्वकरणाः क्षपणोपशमनोद्यता भणिताः॥ ५४॥

अर्थ—अज्ञान अन्धकारसे सर्वथा रहित[1] जिनेन्द्रदेवने कहा है कि उक्त परिणामोंको धारण करनेवाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंका क्षपण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं।

णिद्दापयले णट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया।
खवयं ढुक्के खवया णियमेण खवंति मोहं तु॥ ५५॥

निद्राप्रचले नष्टे सति आयुषि उपशमयन्ति उपशमकाः।
क्षपकं ढौकमानाः क्षपका नियमेन क्षपयन्ति मोहं तु॥ ५५॥

अर्थ—जिनके निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति हो चुकी है, तथा जिनका आयुकर्म अभी विद्यमान है, ऐसे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाले जीव शेषमोहनीयका उपशमन करते हैं, और जो क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवाले हैं वे नियमसे मोहनीयका क्षपण करते हैं। भावार्थ—जिसके अपूर्वकरणके छह भागोंमेंसे प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होगई है, और जिसका आयुकर्म विद्यमान है (जो मरणके सम्मुख नहीं है), अर्थात् जो श्रेणिको चढ़नेवाला है, क्योंकि श्रेणिसे उतरते समय यहांपर मरणकी सम्भावना है[3]। इसप्रकारसे उपशमश्रेणिको चढ़नेवाले जीवके अपूर्वकरण परिणामोंके निमित्तसे मोहनीयका उपशम और क्षपकश्रेणिवालेके क्षय होता है[4]।

नवमें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं।

एकम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं॥ ५६॥

---

१ इस विशेषणसे उनके कहे हुए वचनमें प्रामाण्य दिखलाया है, क्योंकि यह नियम है कि जो परिपूर्ण ज्ञानका धारक है वह मिथ्या भाषण नहीं करता। २ इन दोनों कर्मोंकी बन्धव्युच्छित्ति यहीं पर होती है। इस कथनसे अष्टमगुणस्थानका प्रथम भाग लेना चाहिये; क्योंकि उपशम या क्षयका प्रारम्भ यहींसे होजाता है। ३ मरणके समयसे पूर्वसमयमें होनेवाले गुणस्थानको भी उपचारसे मरणका गुणस्थान कहते हैं। ४ इस गाथामें 'तु' शब्द पड़ा है इससे सूचित होता है कि क्षपकश्रेणिमें मरण नहीं होता।

एकस्मिन् कालसमये संस्थानादिभिर्यथा निवर्तन्ते ।
न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्मिथो यैः ॥ ५६ ॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे आदि या मध्य या अन्तके एक समयवर्ती अनेक जीवोंमें जिस प्रकार शरीरकी अवगाहना आदि बाह्य कारणोंसे तथा ज्ञानावरणादिककर्मके क्षयोपशमादि अन्तरङ्ग कारणोंसे परस्परमें भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामोंके निमित्तसे परस्परमें भेद नहीं पाया जाता:—

होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढ कम्मवणा ॥५७॥ (जुम्मम्)

भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः ।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः ॥ ५७ ॥ (युग्मम्)

अर्थ—उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं । और अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतनेही उसके परिणाम हैं । इसलिये उसके कालके प्रत्येक समयमें अनिवृत्तिकरणका एक २ ही परिणाम होता है । तथा ये परिणाम अत्यन्तनिर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंकी सहायतासे कर्मवनको भस्म करदेते हैं । भावार्थ—अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतनेही उसके परिणाम हैं, इसलिये प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है । अतएव यहांपर भिन्नसमयवर्ती परिणामोंमें सर्वथा विसदृशता और एकसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा सदृशता ही होती है । इन परिणामोंसेही आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन, अनुभागकाण्डकखण्डन होता है, और मोहनीय कर्मकी बादरकृष्टि सूक्ष्मकृष्टि आदि होती हैं ।

नवमें गुणस्थानके संख्यात भागोंमेंसे अन्तके भागमें होनेवाले कार्यको कहते हैं ।

पुव्वापुव्वप्फड्डयबादरसुहमगयकिट्टिअणुभागा ।
हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स ॥ ५९ ॥

पूर्वापूर्वस्पर्धकबादरसूक्ष्मगतकृष्ट्यनुभागाः ।
हीनक्रमा अनन्तगुणेन अवरात्तु वरं चाधस्तनस्य ॥ ५९ ॥

अर्थ—पूर्वस्पर्धकसे अपूर्वस्पर्धकके और अपूर्वस्पर्धकसे बादरकृष्टिके तथा बादरकृष्टिसे सूक्ष्मकृष्टिके अनुभाग क्रमसे अनन्तगुणे २ हीन हैं । और ऊपरके (पूर्व २ के) जघन्यसे नीचेका (उत्तरोत्तरका) उत्कृष्ट और अपने २ उत्कृष्टसे अपना २ जघन्य अनन्तगुणा २ हीन है भावार्थः—अनेक प्रकारकी अनुभागशक्तिसे युक्त कार्मणवर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरणके पूर्वमें पायेजांय उनको पूर्वस्पर्धक कहते हैं । जिनका अनिवृत्तिकरणके निमित्तसे अनुभाग क्षीण हो जाता है उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं । तथा जिनका

अनुभाग अपूर्वस्पर्धकसेभी क्षीण हो जाय उनको बादरकृष्टि, और जिनका अनुभाग बादरकृष्टिकी अपेक्षाभी क्षीण हो जाय उनको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं। पूर्वस्पर्धकके जघन्य अनुभागसे अपूर्वस्पर्धकका उत्कृष्ट अनुभाग भी अनन्तगुणा हीन है। इसीप्रकार अपूर्वस्पर्धकके जघन्यसे बादरकृष्टिका उत्कृष्ट और बादरकृष्टिके जघन्यसे सूक्ष्मकृष्टिका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा २ हीन है। और जिस प्रकार पूर्वस्पर्धकके उत्कृष्टसे पूर्वस्पर्धकका जघन्य अनन्तगुणाहीन है उसही प्रकार अपूर्वस्पर्धक आदिमें भी अपने २ उत्कृष्टसे अपना २ जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा २ हीन है।

दशमें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं।

धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ सुहमसरागोत्ति णादवो॥ ५९॥

धौतकौसुम्भवस्त्रं भवति यथा सूक्ष्मरागसंयुक्तम्।
एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसराग इति ज्ञातव्यः॥ ५९॥

अर्थ—जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्रमें लालिमा (सुर्खी) सूक्ष्म रहजाती है, उसही प्रकार जो अत्यन्तसूक्ष्म राग (लोभ) से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं। भावार्थः—जहांपर पूर्वोक्त तीन करणके परिणामोंसे क्रमसे लोभकषायके विना चारित्रमोहनीयकी शेष वीस प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय होनेपर सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त लोभकषायका उदय पाया जाय उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामका दशमां गुणस्थान कहते हैं।

इस सूक्ष्मलोभके उदयसे होनेवाले फलको दिखाते हैं।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहमसंपराओ जहखादेणूणओ किंचि॥ ६०॥

अणुलोभं विदन् जीव उपशमको व क्षपको वा।
स सूक्ष्मसाम्परायो यथाख्यतेनोनः किञ्चित्॥ ६०॥

अर्थ—चाहे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवालाहो; परन्तु जो जीव सूक्ष्मलोभके उदयका अनुभव कर रहा है ऐसा दशमे गुण· स्थानवर्ती जीव यथाख्यात चारित्रसे कुछही न्यून रहता है। भावार्थ—यहांपर सूक्ष्म लोभका उदय रहनेसे यथाख्यात चारित्रके प्रकट होनेमें कुछ कमी रहती है।

ग्यारहमे गुणस्थानका स्वरूप दिखाते हैं।

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि॥ ६१॥

कतकफलयुतजलं वा शरदि सरःपानीयं व निर्मलम् ।
सकलोपशान्तमोह उपशान्तकषायको भवति ॥ ६१ ॥

अर्थ—निर्मली फलसे युक्त जलकी तरह, अथवा शरदऋतुमें होनेवाले सरोवरके जलकी तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको उपशान्तकषाय ग्याहरमां गुणस्थान कहते हैं ।

बारहमें गुणस्थानको कहते हैं ।

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ ६२ ॥

निःशेषक्षीणमोहः स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तः ।
क्षीणकषायो भण्यते निर्ग्रन्थो वीतरागैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस निर्ग्रन्थका चित्त मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षीण होनेसे स्फटिकके निर्मल पात्रमें रक्खे हुए जलके समान निर्मल होगया है उसको वीतरागदेवने क्षीणकषायनामक बारहमे गुणस्थानवर्ती कहा है ।

दो गाथाओंद्वारा तेरहवें गुणस्थानको कहते हैं ।

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥ ६३ ॥

केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलापप्रणाशिताज्ञानः ।
नवकेवललब्ध्युद्गमसुजनितपरमात्मव्यपदेशः ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी अविभागप्रतिच्छेदरूप किरणोंके समूहसे (उत्कृष्ट अनन्तानन्तप्रमाण) अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट होगया हो, और जिसको नव केवललब्धियोंके (क्षायिक-सम्यक्त्व चारित्र ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्य) प्रकट होनेसे "परमात्मा" यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त होगया है, वहः-

असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण-
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४ ॥

असहायज्ञानदर्शनसहित इति केवली हि योगेन—
युक्त इति सयोगिजिनः अनादिनिधनार्षे उक्तः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इन्द्रिय आलोक आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, और काययोगसे युक्त रहनेके कारण सयोगी, तथा घातिकर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगममें कहा है। भावार्थ—बारहमे गुणस्था-

नका विनाश होतेही जिसके ज्ञानावरणादि तीनें घाति और सोलह अघाति प्रकृति, सम्पूर्ण मिलाकर ६३ प्रकृतियोंके नष्ट होनेसे अनन्त चतुष्टय तथा नव केवललब्धि प्रकट हो चुकी हैं और काय योगसे युक्त है उस अरहंतको तेरहमे गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

चौदहमे अयोगकेवली गुणस्थानको कहते हैं।

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ ६५॥

शीलैश्यं संप्राप्तः निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः।
कर्मरजोविप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति॥ ६५॥

अर्थ—जो अठारह हजार शीलके भेदोंका स्वामी हो चुका है। और जिसके कर्मोंके आनेका द्वाररूप आस्रव सर्वथा बन्द होगया है। तथा सत्त्व और उदय अवस्थाको प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वोत्कृष्ट निर्जरा होनेसे, जो उस कर्मसे सर्वथा मुक्त होनेके सम्मुख है, उस काय योगरहित केवलीको चौदहमे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते हैं। भावार्थ—शीलकी पूर्णता यहींपर होती है इसलिये जो शीलका स्वामी होकर पूर्ण संवर और निर्जराका पात्र होनेसे मुक्त अवस्थाके सम्मुख है ऐसे काययोगसे भी रहित केवलीको चौदहमें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

इसप्रकार चौदह गुणस्थानोंको कहकर, अब उनमें होनेवाली आयुकर्मके विना शेष सातकर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जराको दो गाथाओं द्वारा कहते हैं।

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते॥ ६६॥

सम्यक्त्वोत्पत्तौ श्रावकविरते अनन्तकर्मांशे।
दर्शनमोहक्षपके कषायोपशामके चोपशान्ते॥ ६६॥

खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणकमा होंति॥ ६७॥ (जुम्मं)

क्षपके च क्षीणमोहे जिनेषु द्रव्याण्यसंख्यगुणितक्रमाणि।
तद्विपरीताः कालाः संख्यातगुणक्रमा भवन्ति॥ ६७॥ (युग्मम्)

अर्थ—सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्मका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय करनेवाला, कषायोंका उपशम करनेवाले ८-९-१० गुणस्थानवर्ती जीव, उपशान्तकषाय, कषायोंका क्षपण करनेवाले ८-९-१० गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीणमोह, सयोगी अयोगी दोनोंप्रकारके जिन, इन ग्यारह स्थानोंमें द्रव्यकी अपेक्षा कर्मकी

१ मोहनीय कर्म पहले ही नष्ट हो चुका है इस लिये यहां तीनही लेना चाहिये। २ मोहनीय सहित।

निर्जरा क्रमसे असंख्यातगुणी २ अधिक होती है । और उसका काल इससे विपरीत है—क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणा २ हीन है । भावार्थ—सादि अथवा अनादि दोनोंही प्रकारका मिथ्यादृष्टि जब करणलब्धिको प्राप्त कर उसके अधःकरणपरिणामोंको भी विताकर अपूर्वकरण परिणामोंको ग्रहण करता है, उस समयसे गुणश्रेणिनिर्जराका प्रारम्भ होता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टिके जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह पूर्वकी निर्जरासे असंख्यातगुणी अधिक है। श्रावक अवस्था प्राप्त होनेपर जो कर्मकी निर्जरा होती है वह सातिशयमिथ्यादृष्टिकी निर्जरासे भी असंख्यातगुणी अधिक है । इसीप्रकार विरतादिस्थानोंमें भी उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यातगुणी २ कर्मकी निर्जरा होती है । तथा इस निर्जराका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा २ हीन है । अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टिकी निर्जरामें जितना काल लगता है, श्रावककी निर्जरामें उससे संख्यातगुणा कम काल लगता है । इसी प्रकार विरतादिमें भी समझना चाहिये ।

इस प्रकार चौदहगुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंका वर्णन करके अब गुणस्थानोंका अतिक्रमण करनेवाले सिद्धोंका वर्णन करते हैं ।

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥ ६८ ॥

अष्टविधकर्मविकलाः शीतीभूता निरञ्जना नित्याः ।
अष्टगुणाः कृतकृत्याः लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे रहित हैं, अनन्तसुखरूपी अमृतके अनुभव करनेसे शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबन्धको कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अञ्जनसे रहित हैं, नित्य हैं, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य अव्याबाध अवगाहन सूक्ष्मत्व अगुरुलघु ये आठ मुख्यगुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य (जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है) हैं, लोकके अग्रभागमें निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं ।

सिद्धोंको दियेहुये इन सात विशेषणोंका प्रयोजन दिखाते हैं ।

सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी ।
ईसरमंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं ॥ ६९ ॥

सदाशिवः सांख्यः मस्करी बुद्धो नैयायिकश्च वैशेषिकः ।
ईश्वरमण्डलिदर्शनविदूषणार्थं कृतमेतत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—सदाशिव, सांख्य; मस्करी, बौद्ध, नैयायिक और वैशेषिक, कर्तृवादी (ईश्वरको कर्ता माननेवाले), मण्डली इनके मतोंका निराकरण करनेके लिये ये विशेषण दिये

हैं। भावार्थ—सदाशिव मतवाला जीवको सदा कर्मसे रहितही मानता है, उसके निराकरणके लिये ही ऐसा कहा है कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेपर ही जीव कर्मोंसे रहित होता है सदा नहीं। सिद्ध अवस्थासे पूर्व संसार अवस्थामें कर्मोंसे सहित रहता है। सांख्यमतवाला मानता है कि "बन्ध मोक्ष सुख दुःख प्रकृतिको होते हैं आत्माको नहीं"। इसके निराकरणके लिये "सुखस्वरूप" ऐसा विशेषण दिया है। मस्करीमतवाला मुक्तजीवोंका लौटना मानता है, उसको दूषित करनेके लिये ही कहा है कि "सिद्ध निरञ्जन हैं" अर्थात् मिथ्यादर्शन क्रोध मानादि भावकर्मोंसे रहित हैं, क्योंकि विना भावकर्मके नवीन कर्मका ग्रहण नहीं हो सकता और विना कर्मग्रहणके निर्हेतुक संसारमें लौट नहीं सकता। बौद्धोंका मत है कि "सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक अर्थात् क्षणध्वंसी हैं" उसको दूषित करनेके लिये कहा है कि वे "नित्य" हैं। नैयायिक तथा वैशेषिकमतवाले मानते हैं कि "मुक्तिमें बुद्ध्यादिगुणोंका विनाश होजाता है," उसको दूर करनेकेलिये "ज्ञानादि आठगुणोंसे सहित हैं" ऐसा कहा है। ईश्वरको कर्ता माननेवालोंके मतके निराकरणके लिये "कृतकृत्य" विशेषण दिया है। अर्थात् अब (मुक्त होनेपर) जीवको सृष्टि आदि बनानेका कार्य शेष नहीं रहा है। मण्डली मतवाला मानता है कि "मुक्तजीव सदा ऊपरको गमन ही करता जाता है, कभी ठहरता नहीं" उसके निराकरणके लिये "लोकके अग्रभागमें स्थित हैं" ऐसा कहा है।

इति गुणस्थानप्ररूपणानामा प्रथमोऽधिकारः।

क्रमप्राप्त जीवसमासप्ररूपणाका निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं।

जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विण्णेया॥ ७०॥

यैरनेके जीवा नयन्ते बहुविधा अपि तज्जातयः।
ते पुनः संगृहीतार्था जीवसमासा इति विज्ञेयाः॥ ७०॥

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकारकी जाति जानी जांय उन धर्मोंको अनेक पदार्थोंका संग्रह करनेवाला होनेसे जीवसमास कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ—उन धर्मविशेषोंको जीवसमास कहते हैं कि जिनके द्वारा अनेक जीव अथवा जीवकी अनेक जातियोंका संग्रह किया जासके॥

उत्पत्तिके कारणकी अपेक्षा लेकर जीवसमासका लक्षण कहते हैं।

तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा॥ ७१॥

---

१ सदाशिवः सदाऽकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं। मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम्॥ १॥ क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यते। कृतकृत्यं तमीशानो मण्डलीचोर्ध्वगामिनम्॥ २॥

त्रसचतुर्युगलानां मध्ये अविरुद्धैर्युतजातिकर्मोदये ।
जीवसमासा भवन्ति हि तद्भवसादृश्यसामान्याः ॥ ७१ ॥

अर्थ—त्रसस्थावर बादरसूक्ष्म पर्याप्तअपर्याप्त प्रत्येकसाधारण इन चार युगलोंमेंसे अविरुद्ध[1] त्रसादि कर्मोंसे युक्त जाति नामकर्मका उदय होनेपर जीवोंमें होनेवाले ऊर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्म्मोंको जीवसमास कहते हैं। भावार्थ—एक पदार्थकी कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले समानधर्मको ऊर्ध्वतासामान्य अथवा सादृश्यसामान्य कहते हैं। एक समयमें अनेक पदार्थगत सदृश धर्मको तिर्यक् सामान्य कहते हैं। यह उर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्म, त्रसादि युगलोंमेंसे अविरुद्ध कर्मोंसे युक्त एकेन्द्रियादि जाति नामकर्मका उदय होनेपर उत्पन्न होता है। इसीको जीवसमास कहते हैं।

जीवसमासके चौदह भेदोंको गिनाते हैं।

बादरसुहमेइंदियवितिचउरिंदियअसण्णिसण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ॥ ७२ ॥

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनश्च ।
पर्याप्तापर्याप्ता एवं ते चतुर्दश भवन्ति ॥ ७२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियके दो भेद हैं, बादर तथा सूक्ष्म। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय, संज्ञिपंचेन्द्रिय। ये सातो ही प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही प्रकारके होते हैं। इसलिये जीवसमासके सामान्यसे चौदह भेद हुए।

विस्तारपूर्वक जीवसमासोंका वर्णन करते हैं।

भूआउतेउवाऊणिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा ।
पत्तेयपदिट्ठिदरा तसपण पुण्णा अपुण्णदुगा ॥ ७३ ॥

भ्वप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदस्थूलेतराः ।
प्रत्येकप्रतिष्ठेतराः त्रसपञ्च पूर्णा अपूर्णद्विकाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद, इन छहके बादर सूक्ष्मके भेदसे बारह भेद हुए। तथा प्रत्येकके दो भेद, एक सप्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित। और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इसतरह त्रसके पांच भेद। सब मिलाकर उन्नीस भेद होते हैं। ये सभी पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त होते हैं। इसलिये उन्नीसका तीनके साथ गुणा करनेपर जीवसमासके उत्तरभेद ५७ होते हैं।

जीवसमासके उक्त ५७ भेदोंके भी अवान्तर भेद दिखानेके लिये स्थानादि चार अधिकारोंको कहते हैं।

---

१ त्रसकर्मका बादरकेसाथ अविरोध और सूक्ष्मके साथ विरोध है, इसीप्रकार पर्याप्तकर्मका साधारणकर्मके-साथ विरोध और प्रत्येकके साथ अविरोध है। इसीतरह अन्यत्र भी यथासम्भव लगालेना।

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि देहोग्गाहणकुलाणभेदेहिं ।
जीवसमासा सव्वे परूविदव्वा जहाकमसो ॥ ७४ ॥

स्थानैरपि योनिभिरपि देहावगाहनकुलानां भेदैः ।
जीवसमासाः सर्वे प्ररूपितव्या यथाक्रमशः ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, कुलोंके भेद इन चार अधिकारोंके द्वारा सम्पूर्ण जीवसमासोंका क्रमसे निरूपण करना चाहिये ।

एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जातिभेदको स्थान कहते हैं । कन्द मूल अण्डा गर्भ रस स्वेद आदि उत्पत्तिके आधारको योनि कहते हैं । शरीरके छोटे बड़े भेदोंको देहावगाहना कहते हैं । भिन्न २ शरीरकी उत्पत्तिको कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदोंको कुल कहते हैं ।

क्रमके अनुसार प्रथम स्थानाधिकारको कहते हैं ।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे ।
इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे ॥ ७५ ॥

सामान्यजीवः त्रसस्थावरयोः एकविकलसकलचरमद्विके ।
इन्द्रियकाययोः चरमस्य च द्वित्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७५ ॥

अर्थ—सामान्यसे (द्रव्यार्थिक नयसे) जीवका एकही भेद है; क्योंकि "जीव" कहनेसे जीवमात्रका ग्रहण हो जाता है । इसलिये सामान्यसे जीवसमासका एक भेद । त्रस और स्थावरकी अपेक्षासे दो भेद । एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रियकी (पंचेन्द्रिय) अपेक्षा तीन भेद । यदि पंचेन्द्रियके दो भेद करदिये जांय तो जीवसमासके एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं । इन्द्रियोंकी अपेक्षा पांच भेद हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय। पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति ये पांच स्थावर और एक त्रस इसप्रकार कायकी अपेक्षा छह भेद हैं । यदि पांच स्थावरोंमें त्रसके विकल और सकल इसतरह दो भेद करके मिला दिये जांय तो सात भेद होते हैं । और विकल असंज्ञी संज्ञी इसप्रकार तीन भेदकरके मिलानेसे आठ भेद होते हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इसतरह चार भेद करके मिलानेसे नव भेद होते हैं । और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी इसतरह पांच भेद करके मिलानेसे दश भेद होते हैं ।

पणजुगले तससहिये तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे ।
छद्दुगपत्तेयम्हि य तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे ॥ ७६ ॥

पञ्चयुगले त्रससहिते त्रसस्य द्वित्रिचतुःपञ्चकभेदयुते ।
षड्द्विकप्रत्येके च त्रसस्य त्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७६ ॥

अर्थ—पांच स्थावरोंके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा पांच युगल होते हैं । इनमें त्रस सामान्यका एक भेद मिलानेसे ग्यारह भेद जीवसमासके होते हैं । तथा इनही पांच युगलोंमें त्रसके विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय दो भेद मिलानेसे बारह । और त्रसके विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इसप्रकार तीन भेद मिलानेसे तेरह । और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलानेसे चौदह । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच भेद मिलानेसे पन्द्रह भेद जीवसमासके होते हैं । पृथिवी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतर निगोद इनके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक वनस्पति इनमें त्रसके उक्त विकलेन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये तीन भेद मिलानेसे सोलह, और द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलानेसे सत्रह, तथा पांच भेद मिलानेसे अठारह भेद होते हैं ।

सगजुगलम्हि तसस्स य पणभंगजुदेसु होंति उणवीसा ।
एयादुणवीसोत्ति य इगिबितिगुणिदे हवे ठाणा ॥ ७७ ॥

सप्तयुगले त्रसस्य च पंचभंगयुतेषु भवन्ति एकोनविंशतिः ।
एकादेकोनविंशतिरिति च एकद्वित्रिगुणिते भवेयुः स्थानानि ॥ ७७ ॥

अर्थ—पृथिवी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतरनिगोदके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येकका प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठितकी अपेक्षा एक युगल मिलाकर सात युगलोंमें त्रसके उक्त पांच भेद मिलानेसे जीवसमासके उन्नीस भेद होते हैं । इस प्रकार एकसे लेकर उन्नीस तक जो जीवसमासके भेद गिनाये हैं, इनको एक दो तीनके साथ गुणा करनेपर क्रमसे उन्नीस, अड़तीस, सत्तावन, जीवसमासके अवान्तर भेद होते हैं ।

एक दो तीनके साथ गुणाकरनेका कारण बताते हैं ।

सामण्णेण तिपंती पढमा विदिया अपुण्णगे इदरे ।
पज्जत्ते लद्धिअपज्जत्तेऽपढमा हवे पंती ॥ ७८ ॥

सामान्येन त्रिपङ्क्तयः प्रथमा द्वितीया अपूर्णके इतरस्मिन् ।
पर्याप्ते लब्ध्यपर्याप्तेऽप्रथमा भवेत् पङ्क्तिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—उक्त उन्नीस भेदोंकी तीन पङ्क्ति करनी चाहिये । उसमें प्रथम पङ्क्ति सामान्यकी अपेक्षासे है । और दूसरी पङ्क्ति अपर्याप्त तथा पर्याप्तकी अपेक्षासे है । और तीसरी पङ्क्ति पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षासे है । भावार्थ—उन्नीसका जब एकसे गुणा करते हैं तब सामान्यकी अपेक्षा है, पर्याप्त अपर्याप्तके भेदकी विवक्षा नहीं हैं । जब दोके साथ गुणा करते हैं तब पर्याप्त अपर्याप्तकी अपेक्षा है । और जब तीनके साथ गुणा करते हैं तब पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा है । गाथामें केवल लब्धि शब्द है उसका अर्थ लब्ध्यपर्याप्त होता है; क्योंकि नामका एक देशभी पूर्णनामका बोधक होता है ।

जीवसमासके और भी उत्तर भेदोंको गिनानेकेलिये दो गाथा कहते हैं।

इगिवण्णं इगिविगले असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।
गब्भभवे सम्मुच्छे दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो॥ ७९॥

एकपञ्चाशत् एकविकले असंज्ञिसंज्ञिगतजलस्थलखगानाम्।
गर्भभवे सम्मूर्छे द्वित्रिकं भोगस्थलखेचरे द्वौ द्वौ॥ ७९॥

अर्थ—जीवसमासके उक्त ५७ भेदोंमेंसे पञ्चेन्द्रियके छह भेद निकालनेसे एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियसम्बन्धी ५१ भेद शेष रहते हैं। कर्मभूमिमें होनेवाले तिर्यञ्चोंके तीन भेद हैं, जलचर स्थलचर नभश्चर। ये तीनों ही तिर्यञ्च सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी होते हैं। तथा गर्भज और सम्मूर्छन होते हैं; परन्तु गर्भजोंमें पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त ही होते हैं, इसलिये गर्भजके बारह भेद, और सम्मूर्छनोंमें पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनोंही भेद होते हैं, इसलिये सम्मूर्छनोंके अठारह भेद, सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यञ्चोंके तीसभेद होते हैं। भोगभूमिमें पंचेन्द्रियतिर्यञ्चोंके स्थलचर नभश्चर दो ही भेद होते हैं। और ये दोनोंही पर्याप्त तथा निर्वृत्त्यपर्याप्त होते हैं। इसलिये भोगभूमिज तिर्यञ्चोंके चार भेद, और उक्त कर्मभूमिज सम्बन्धी तीस भेद, उक्त ५१ भेदोंमें मिलानेसे तिर्यग्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवसमासके ८५ भेद होते हैं। भोगभूमिमें जलचर सम्मूर्छन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते।

मनुष्य देव नारकसम्बन्धी भेदोंको गिनाते हैं।

अज्जवमलेच्छमणुए तिदु भोगकुभोगभूमिजे दो दो।
सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा हु अडणउदी॥ ८०॥

आर्यम्लेच्छमनुष्ययोस्त्रयो द्वौ भोगकुभोगभूमिजयोर्द्वौ द्वौ।
सुरनिरययोर्द्वौ द्वौ इति जीवसमासा हि अष्टानवतिः॥ ८०॥

अर्थ—आर्यखण्डमें पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनोंही प्रकारके मनुष्य होते हैं। म्लेच्छखण्डमें लब्ध्यपर्याप्तकको छोड़कर दो प्रकारके ही मनुष्य होते हैं। इसीप्रकार भोगभूमि कुभोगभूमि देव नारकियोंमें भी दो दो ही भेद होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवसमासके ९८ भेद हुए। भावार्थ—पूर्वोक्त तिर्यञ्चोंके ८५ भेद, और ९ भेद मनुष्योंके तथा दो भेद देवोंके, दो भेद नारकियोंके, इसप्रकार सब मिलाकर जीवसमासके अवान्तर भेद ९८ होते हैं।

इसप्रकार स्थानाधिकारकी अपेक्षा जीवसमासोंका वर्णन किया। अब दूसरा योनि अधिकार क्रमसे प्राप्त है। उस योनिके दो भेद हैं, एक आकारयोनि दूसरी गुणयोनि। उसमें प्रथम आकारयोनिको कहते हैं।

संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जदे गब्भो॥ ८१॥

शंखावर्तकयोनिः कूर्मोन्नतवंशपत्रयोनी च ।
तत्र च शंखावर्ते नियमात्तु विवर्ज्यते गर्भः ॥ ८१ ॥

अर्थ—योनिके तीन भेद हैं, शंखावर्त कूर्मोन्नत वंशपत्र । उनमेंसे शंखावर्त योनिमें गर्भ नियमसे वर्जित है । भावार्थ—जिसके भीतर शंखके समान चक्कर पड़े हों उसको शंखावर्त योनि कहते हैं । जो कछुआकी पीठकी तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं । जो वांसके पत्तेके समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं । ये तीन तरह की आकार योनि हैं । इनमेंसे प्रथम शंखावर्तमें नियमसे गर्भ नहीं रहता ।

कुम्मुण्णयजोणीये तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य ।
रामा वि य जायंते सेसाए सेसगजणो दु ॥ ८२ ॥ मूला०११०३

कूर्मोन्नतयोनौ तीर्थंकरा द्विविधचक्रवर्तिनश्च ।
रामा अपि च जायन्ते शेषायां शेपकजनस्तु ॥ ८२ ॥

अर्थ—कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर अर्धचक्री चक्रवर्ती तथा बलभद्र और अपिशब्दकी सामर्थ्यसे साधारण पुरुष भी उत्पन्न होते हैं । तीसरी वंशपत्रयोनिमें साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं तीर्थंकरादि महापुरुष नहीं होते ।

जन्म तथा उसकी आधारभूत गुणयोनिके भेदोंको गिनाते हैं ।

जम्मं खलु सम्मुच्छणगब्भुववादा दु होदि तज्जोणी ।
सच्चित्तसीदसंउडसेदरमिस्सा य पत्तेयं ॥ ८३ ॥

जन्म खलु सम्मूर्छनगर्भोपपादास्तु भवति तद्योनयः ।
सचित्तशीतसंवृतसेतरमिश्राश्च प्रत्येकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जन्म तीन प्रकारका होता है, सम्मूर्छन गर्भ उपपाद । तथा इनकी आधारभूत सचित्त[1] शीत संवृत[2], अचित्त उष्ण विवृत[3], मिश्र[4], ये गुण योनि होती हैं । इनमेंसे यथासम्भव प्रत्येक सम्मूर्छनादि जन्मके साथ लगालेनी चाहिये ।

किन जीवोंके कोनसा जन्म होता है यह बताते हैं ।

पोतजरायुजअंडजजीवाणं गब्भ देवणिरयाणं ।
उववादं सेसाणं सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठं ॥ ८४ ॥

पोतजरायुजांडजजीवानां गर्भः देवनारकाणां ।
उपपादः शेषाणां सम्मूर्छनकं तु निर्दिष्टम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पोत (जो उत्पन्न होते ही भागने लगें, जैसे शेर विल्ली हिरन आदि), जरायुज

---

१ आत्मप्रदेशोंसे युक्त पुद्गलपिण्डको सचित्त कहते हैं । २ ढका हुआ । ३ खुला हुआ । ४ दोका मिला हुआ, जैसे सचित्त और अचित्तको मिलकर एक मिश्र योनि होती है ।

(जो जेरके साथ उत्पन्न हों), अण्डज (जो अण्डेसे उत्पन्न हों) इन तीन प्रकारके जीवोंका गर्भ जन्म ही होता है। देव नारकियोंका उपपाद[1] जन्म ही होता है। शेष जीवोंका सम्मूर्छन[2] जन्म ही होता है ।

किस जन्मके साथ कौनसी योनि सम्भव है यह तीन गाथाओंद्वारा बताते हैं ।

उववादे अचित्तं गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे ।
सचित्तं अचित्तं मिस्सं च य होदि जोणी हु ॥ ८५ ॥

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति सम्मूर्छे ।
सचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि ॥ ८५ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मकी अचित्त ही योनि होती है। गर्भजन्मकी मिश्र[3] योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्मकी सचित्त अचित्त मिश्र तीनों तरहकी योनी होती है ।

उववादे सीदुसणं सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि ।
उववादेयक्खेसु य संउड वियलेसु विउलं तु ॥ ८६ ॥

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवन्ति ।
उपपादैकाक्षेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु ॥ ८६ ॥

अर्थ—उपपाद जन्ममें शीत और उष्ण दो प्रकारकी योनि होती हैं। शेष जन्मोंमें शीत उष्ण मिश्र तीनों ही योनि होती हैं। उपपाद जन्मवालोंकी तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत ही होती है। और विकलेन्द्रियोंकी विवृत ही होती है ।

गब्भजजीवाणं पुण मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु ।
संम्मुच्छणपंचक्खे वियलं वा विउलजोणी हु ॥ ८७ ॥

गर्भजजीवानां पुनः मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि ।
सम्मूर्छनपंचाक्षयोः विकलं वा विवृतयोनिर्हि ॥ ८७ ॥

अर्थ—गर्भजजीवोंकी योनि नियमसे मिश्र (संवृत विवृतकी अपेक्षा) होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवोंकी विकलेन्द्रियोंकी तरह विवृत योनि ही होती है ।

उक्त गुणयोनिकी उपसंहारपूर्वक विशेषसंख्याको बताते हैं ।

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे ।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥ ८८ ॥

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे ।
लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन ॥ ८८ ॥

---

१ देवोंके उत्पन्न होनेकी शय्या और नारकियोंके उत्पन्न होनेके उष्ट्रकादि स्थानोंको उपपाद कहते हैं, उनमें उत्पन्न होनेको भी उपपाद कहते हैं। २ चारो तरफसे पुद्गलका इकट्ठा होना (जूं मच्छर आदिके जन्मविशेषमें रूढ है)। ३ माताके सचित्तरज और पिताके अचित्त वीर्यके मिलनेसे मिश्र योनि होती है।

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्यसे योनियोंके नियमसे नव ही भेद होते हैं। विस्तारकी अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

योनिसम्बन्धी विस्तृत संख्याको दिखाते हैं।

णिचिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥ ८९॥

नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयतिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः॥ ८९॥

अर्थ—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवी जल अग्नि वायु इन प्रत्येककी सात २ लाख, वनस्पतिकी दशलाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इन प्रत्येककी दो २ लाख अर्थात् विकलेन्द्रियकी छह लाख, देव नारकी तिर्यञ्च इन प्रत्येककी चार २ लाख, मनुष्यकी चौदह लाख, सब मिलाकर ८४ लाख योनि होती हैं।

किस गतिमें कौनसा जन्म होता है यह दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं।

उववादा सुरणिरया गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया।
सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा॥ ९०॥

उपपादाः सुरनिरया गर्भजसम्मूर्च्छिमा हि नरतिर्यञ्चः
सम्मूर्च्छिमा मनुष्या अपर्याप्ता एकविकलाक्षाः॥ ९०॥

अर्थ—देवगति और नरकगतिमें उपपाद जन्मही होता है। मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंमें गर्भ और सम्मूर्छन दो ही प्रकारका जन्म होता है; किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियोंका सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

पंचक्खतिरिक्खाओ गब्भजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं।
भोगभुमा गब्भभवा नरपुण्णा गब्भजाचेव॥ ९१॥

पञ्चाक्षतिर्यञ्चो गर्भजसम्मूर्छिमा तिरश्चाम्।
भोगभूमा गर्भभवा नरपूर्णा गर्भजाश्चैव॥ ९१॥

अर्थ—कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। तिर्यञ्चोंमें जो भोगभूमिया तिर्यञ्च हैं वे गर्भज ही होते हैं। और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तकोंकी कहां २ सम्भावना है और नहीं है यह वताते हैं।

उववादगब्भजेसु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण।
णरसम्मुच्छिमजीवा लद्धिअपज्जत्तगा चेव॥ ९२॥

उपपादगर्भजेषु च लब्ध्यपर्याप्तका न नियमेन ।
नरसम्मूर्छिमजीवा लब्ध्यपर्याप्तकाश्चैव ॥ ९२ ॥

अर्थ—उपपाद और गर्भ जन्मवालोंमें नियमसे लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते । और सम्मूर्छन मनुष्य नियमसे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं । भावार्थ–देव नारकी पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं । और चक्रवर्तीकी रानी आदिको छोड़कर शेष आर्यखण्डकी स्त्रियोंकी योनि कांख स्तन मूत्र मल आदिमें उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं ।

नरकादि गतियोंमें होनेवाले वेदोंका नियम करते हैं ।

णेरइया खलु संढा णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा ।
संढा सुरभोगभुमा पुरिसिच्छीवेदगा चेव ॥ ९३ ॥

नैरयिकाः खलु षण्ढा नरतिरश्चोस्त्रयो भवन्ति सम्मूर्छाः–
षण्ढाः सुरभोगभूमाः पुरुषस्त्रीवेदकाश्चैव ॥ ९३ ॥

अर्थ—नारकियोंका द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है । मनुष्य और तिर्यञ्चोंके तीनोंही (स्त्री पुरुष नपुंसक) वेद होते हैं । देव और भोगभूमियाओंके पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है । भावार्थ–देव नारकी भोगभूमिआ और सम्मूर्छन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है; किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें यह नियम नहीं है । उनके द्रव्यवेद और भाववेदमें विपरीतता भी पाई जाती है । आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरगत चिह्नविशेषको द्रव्यवेद, और मोहनीयकर्मकी वेदप्रकृतिके उदयसे होनेवाले परिणामविशेषोंको भाववेद कहते हैं ।

शरीरावगाहनाकी अपेक्षा जीवसमासोंका निरूपण करनेसे प्रथम सबसे उत्कृष्ट और जघन्य शरीरकी अवगाहनाओंके स्वामियोंको दिखाते हैं ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि ।
अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अङ्गुलासंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ ९४ ॥

अर्थ—उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी अङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है । और उत्कृष्ट अवगाहना मत्स्यके होती है । भावार्थ–ऋजुगतिकेद्वारा उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी उत्पत्तिसे तीसरे[1] समयमें शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है, और इसका प्रमाण घनाङ्गुलके

१ उत्पत्तिके प्रथम समयमें आयतचतुरस्र और दूसरे समयमें समचतुरस्र होता है, इस लिये प्रथम द्वितीय समयमें जघन्य अवगाहना नहीं होती; किन्तु तीसरे समयमें गोल होजानेसे जघन्य अवगाहना होती है ।

असंख्यातमे भागप्रमाण है । उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्रके मध्यमें होनेवाले महामत्स्यकी होती है । इसका प्रमाण हजार योजन लम्बा, पांचसो योजन चौड़ा, ढ़ाईसौ योजन मोटा है । जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक २ प्रदेशकी वृद्धिके क्रमसे मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद होते हैं । अवगाहनाके सम्पूर्ण विकल्प असंख्यात होते हैं ।

इन्द्रियकी अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बताते हैं ।

साहियसहस्समेकं वारं कोसूणमेकमेकं च ।
जोयणसहस्सदीहं पम्मे वियले महामच्छे ॥ ९५ ॥

साधिकसहस्रमेकं द्वादश क्रोशोनमेकमेकं च ।
योजनसहस्रदीर्घं पद्मे विकले महामत्स्ये ॥ ९५ ॥

अर्थ—पद्म (कमल), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीरकी अवगाहना क्रमसे कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीनकोश, एक योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये । भावार्थ—एकेन्द्रियोंमें सबसे उत्कृष्ट कमलकी कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियोंमें शंखकी बारहयोजन, त्रीन्द्रियोंमें ग्रैप्मी (चीटी) की तीन कोश, चतुरिन्द्रियोंमें भ्रमरकी एक योजन, पंचेन्द्रियोंमें महामत्स्यकी एक हजार योजन लम्बी शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण है । यहांपर महामत्स्यकी एक हजार योजनकी अवगाहनासे जो पद्मकी कुछ अधिक अवगाहना बतलाई है, और पूर्वमें सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यकी ही बतलाई है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं समझना चाहिये; क्योंकि यहांपर केवल लम्बाईका वर्णन है, और पूर्वमें जो सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बताई थी वह घनक्षेत्रफलकी अपेक्षासे थी, इसलिये पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहना ही उत्कृष्ट समझनी चाहिये; क्योंकि पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहनाका क्षेत्रफल अधिक है ।

पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिकोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? और उसके धारक जीव कौन २ हैं यह बताते हैं ।

बितिचपपुण्णजहण्णं अणुंधरीकुंथुकाणमच्छीसु ।
सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखं संखगुणिदकमा ॥ ९६ ॥

द्वित्रिचपपूर्णजघन्यमनुंधरीकुंथुकाणमक्षिकासु ।
सिक्थकमत्स्ये वृन्दाङ्गुलसंख्यं संख्यगुणितक्रमाः ॥ ९६ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवोंमें अनुंधरी कुंथु काणमक्षिका सिक्थमत्स्यके क्रमसे जघन्य अवगाहना होती है । इसमें प्रथमकी घनाङ्गुलके संख्यातमें भागप्रमाण है । और पूर्वकी अपेक्षा उत्तरकी अवगाहना क्रमसे संख्यातगुणी २ अधिक है। भावार्थ—द्वीन्द्रियोंमें सबसे जघन्य अवगाहना अनुंधरीके पाई जाती है और उसक

प्रमाण घनाङ्गुलके संख्यातमें भागमात्र है। उससे संख्यातगुणी त्रीन्द्रियोंकी जघन्य अवगाहना है, यह कुंथुके पाई जाती है। इससे संख्यातगुणी चौइन्द्रियोंमें काणमक्षिकाकी, और इससे भी संख्यातगुणी पंचेन्द्रियोंमें सिक्थमत्स्यके जघन्य अवगाहना पाई जाती है। यहांपर आचार्योंने द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि शब्द न लिखकर "बि, ति, च, प," ये शब्द जो लिखे हैं वे 'नामका एकदेश भी सम्पूर्ण नामका बोधक होता है' इसनियमके आश्रयसे लाघवके लिये लिखे हैं।

जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त जितने भेद हैं उनमें किस भेदका कौन स्वामी है? और अवगाहनाकी न्यूनाधिकताका गुणाकार क्या है? यह पांच गाथाओंद्वारा बताते हैं।

सुहमणिवातेआभूवातेआपुणिपदिट्ठिदं इदरं।
बितिचपमादिल्लाणं एयाराणं तिसेढीय॥ ९७॥

सूक्ष्मनिवातेआभूवातेअप्निप्रतिष्ठितमितरत्।
द्वित्रिचपमाद्यानामेकादशानां त्रिश्रेणयः॥ ९७॥

अर्थ—एक कोठेमें सूक्ष्मनिगोदिया वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय इनका क्रमसे स्थापन करना। इसके आगे दूसरे कोठेमें वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय निगोदिया प्रतिष्ठित इनका क्रमसे स्थापन करना। और तीसरे कोठेमें अप्रतिष्ठित द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रियोंका क्रमसे स्थापन करना। इसके आगे उक्त सोलह स्थानों मेंसे आदिके ग्यारह स्थानोंकी तीन श्रेणि मांडना चाहिये। भावार्थ—तीनकोठोंमें स्थापित सोलह स्थानोंके आदिके ग्यारहस्थान जो कि प्रथम द्वितीय कोठेमें स्थापित किये गये हैं—अर्थात् सूक्ष्मनिगोदियासे लेकर प्रतिष्ठित पर्यन्तके ग्यारह स्थानोंको क्रमानुसार उक्त तीन कोठाओंके आगे पूर्ववत् दो कोठाओंमें स्थापित करना चाहिये, और इसके नीचे इनही ग्यारह स्थानोंके दूसरे और दो कोठे स्थापित करने चाहिये, तथा दूसरे दोनों कोठोंके नीचे तीसरे दो कोठे स्थापित करना चाहिये इसप्रकार तीन श्रेणिमें दो २ कोठाओंमें ग्यारह स्थानोंको स्थापित करना चाहिये। और इसके आगेः—

अपदिट्ठिदपत्तेयं बितिचपतिचबिअपदिट्ठिदंसयलं।
तिचबिअपदिट्ठिदं च य सयलं बादालगुणिदकमा॥ ९८॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येकं द्वित्रिचपत्रिचद्व्यप्रतिष्ठितं सकलम्।
त्रिचद्व्यप्रतिष्ठितं च च सकलं द्वाचत्वारिंशद्गुणितक्रमाः॥ ९८॥

अर्थ—छट्टे कोठेमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रियका स्थापन करना। इसके आगेके कोठेमें क्रमसे त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय द्वीन्द्रिय अप्रतिष्ठित प्रत्येक पंचेन्द्रियका स्थापन करना। इससे आगे के कोठेमें त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय द्वीन्द्रिय अप्रतिष्ठित प्रत्येक

पंचेन्द्रियका क्रमसे स्थापन करना। इन सम्पूर्ण चौंसठ स्थानोंमें व्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं । भावार्थ–आदिके तीन कोठोमें स्थापित सोलह स्थान और जिन ग्यारहस्थानोंको तीन श्रेणियोंमें स्थापित किया था उनमेंसे नीचेकी दो श्रेणियोंमें स्थापित वाईस स्थानोंको छोड़कर ऊपरकी श्रेणिके ग्यारहस्थान। तथा इसके आगे तीन कोठोंमें स्थापित पन्द्रह स्थान । सब मिलाकर व्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं । और दूसरी तीसरी श्रेणिके वाईस स्थान अधिकक्रम हैं । व्यालीस स्थानोंके गुणाकारका प्रमाण और वाईसस्थानोंके अधिकका प्रमाण आगे बतावेंगे । यहांपर उक्त स्थानोंके स्वामियोंको वताते हैं ।

अवरमपुण्णं पढमं सोलं पुण पढमविदियतदियोली ।
पुण्णिदरपुण्णयाणं जहण्णमुक्कस्समुक्कस्स ॥ ९९ ॥

अवरमपूर्णं प्रथमे षोडश पुनः प्रथमद्वितीयतृतीयावलिः ।
पूर्णेतरपूर्णानां जघन्यमुत्कृष्टमुत्कृष्टम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—आदिके सोलह स्थान जघन्य अपर्याप्तकके हैं । और प्रथम द्वितीय तृतीयश्रेणि क्रमसे पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा पर्याप्तककी जघन्य उत्कृष्ट और उत्कृष्ट समझनी चाहिये। भावार्थ–प्रथम तीन कोठोंमें विभक्त सोलह स्थानोंमें अपर्याप्तककी जघन्य अवगाहना बताई है । और इसके आगे प्रथम श्रेणिके ग्यारह स्थानोंमें पर्याप्तककी जघन्य और इसके नीचे दूसरी श्रेणिमें अपर्याप्तककी उत्कृष्ट तथा इसके भी नीचे तीसरी श्रेणिमें पर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये ।

पुण्णजहण्णं तत्तो वरं अपुण्णस्स पुण्णउक्कस्सं ।
वीपुण्णजहण्णोत्ति असंखं संखं गुणं तत्तो ॥ १०० ॥

पूर्णजघन्यं ततो वरमपूर्णस्य पूर्णोत्कृष्टम् ।
द्विपूर्णजघन्यमिति असंख्यं संख्यं गुणं ततः ॥ १०० ॥

अर्थ—श्रेणिके आगेके प्रथम कोठेमें (छट्टे कोठेमें) पर्याप्तककी जघन्य और दूसरे कोठेमें अपर्याप्तककी उत्कृष्ट तथा तीसरे कोठेमें पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये। द्वीन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यातका गुणाकार है, और इसके आगे संख्यातका गुणाकार है । भावार्थ–पहले जो व्यालीस स्थानोंको गुणितक्रम बताया था उनमेंसे आदिके उनतीस स्थान (सूक्ष्मनिगोदिया अपर्याप्तक जघन्यसे लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना पर्यन्त) उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे २ हैं । और इसके आगे तेरह स्थान उत्तरोत्तर संख्यातगुणे २ हैं ।

गुणाकार रूप असंख्यातका और श्रेणिगत वाईस स्थानोंके अधिकका प्रमाण बताते हैं।

सुहमेदरगुणगारो आवलिपल्लाअसंखभागो दु ।
सट्ठाणे सेढिगया अहिया तत्थेकपडिभागो ॥ १०१ ॥

सूक्ष्मेतरगुणकार आवलिपल्यासंख्येयभागस्तु।
स्वस्थाने श्रेणिगता अधिकास्तत्रैकप्रतिभाग: ॥ १०१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म और बादरोंका गुणकार स्वस्थानमें क्रमसे आवली और पल्यके असंख्यात में भाग है। और श्रेणिगत बाईस स्थान अपने २ एक प्रतिभागप्रमाण अधिक २ हैं। भावार्थ–सूक्ष्म निगोदियासे सूक्ष्म वायुकायका प्रमाण आवलीके असंख्यातमें भागसे गुणित है, और इसीप्रकार सूक्ष्मवायुकायसे सूक्ष्म तेजकायका और सूक्ष्मतेजकायसे सूक्ष्मजलकायका सूक्ष्मजलकायसे सूक्ष्म पृथिवीकायका प्रमाण उत्तरोत्तर आवलीके असंख्यातमें २ भागसे गुणित है। परन्तु सूक्ष्म पृथिवीकायसे बादर वातकायका प्रमाण परस्थान होनेसे पल्यके असंख्यातमें भागगुणित है। इसीप्रकार बादर वातकायसे बादर तेजकायका और बादर तेजकायसे बादर जलकायादिका प्रमाण उत्तरोत्तर क्रमसे पल्यके असंख्यातमें भाग २ गुणा है। इसीप्रकार आगेके स्थान भी समझना। परन्तु श्रेणिगत बाईस स्थानोंमें गुणाकार नहीं है; किन्तु उत्तरोत्तर अधिक २ हैं, अर्थात् बाईस स्थानोंमें जो सूक्ष्म हैं वे आवलीके असंख्यातमे भाग अधिक है, और जो बादर हैं वे पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक हैं।

सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म वायुकायकी अवगाहना आवलीके असंख्यातमे भाग गुणित है यह पहले कह आये हैं। अब इसमें होनेवाली चतुःस्थानपतित वृद्धिकी उत्पत्तिका क्रम तथा उसके मध्यमें होनेवाले अनेक अवगाहनाके भेदोंको कहते हैं।

अवरुवरि इगिपदेसे जुदे असंखेज्जभागवड्ढीए।
आदी णिरंतरमदो एगेगपदेसपरिवड्ढी ॥ १०२ ॥

अवरोपरि एकप्रदेशे युते असंख्यातभागवृद्धेः।
आदिः निरन्तरमतः एकैकप्रदेशपरिवृद्धिः ॥ १०२ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें एक प्रदेश और मिलानेसे जो प्रमाण होता है वह असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान है। इसके आगे भी क्रमसे एक २ प्रदेशकी वृद्धि करना चाहिये। और ऐसा करते २–

अवरोग्गाहणमाणे जहण्णपरिमिदअसंखरासिहिदे।
अवरस्सुवरिं उड्ढे जेट्ठमसंखेज्जभागस्स ॥ १०३ ॥

अवरावगाहनाप्रमाणे जघन्यपरिमितासंख्यातराशिहृते।
अवरस्योपरि वृद्धे ज्येष्ठमसंख्यातभागस्य ॥ १०३ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जघन्यपरीतासंख्यातका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने प्रदेश जघन्य अवगाहनामें मिलानेपर असंख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है।

तस्सुवरि इगिपदेसे जुदे अवत्तव्वभागपारम्भो ।
वरसंखमवहिदवरे रूऊणे अवरउवरिजुदे ॥ १०४ ॥

तस्योपरि एकप्रदेशे युते अवक्तव्यभागप्रारम्भः ।
वरसंख्यातावहितावरे रूपोने अवरोपरि युते ॥ १०४ ॥

अर्थ—असंख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानके आगे एक प्रदेशकी वृद्धि करनेसे अवक्तव्य भागवृद्धिका प्रारम्भ होता है । इसमें एक २ प्रदेशकी वृद्धि होते २, जब जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें उत्कृष्ट संख्यातका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसमें एक कमकरके जघन्यके प्रमाणमें मिलादिया जाय तबः—

तव्वड्ढीए चरिमो तस्सुवरिं रूवसंजुदे पढमा ।
संखेज्जभागउड्ढी उवरिमदो रूवपरिवड्ढी ॥ १०५ ॥

तद्वृद्धेश्चरमः तस्योपरि रूपसंयुते प्रथमा ।
संख्यातभागवृद्धिः उपर्यतो रूपपरिवृद्धिः ॥ १०५ ॥

अर्थ—अवक्तव्यभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । इसके आगे एक और मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका प्रथम स्थान होता है और इसके आगे एक २ की वृद्धि करते २ जबः—

अवरद्धे अवरुवरिं उड्ढे तव्वड्ढिपरिसमत्ती हु ।
रूवे तदुवरि उड्ढे होदि अवत्तव्वपढमपदं ॥ १०६ ॥

अवरार्द्धे अवरोपरिवृद्धे तद्वृद्धिपरिसमाप्तिर्हि ।
रूपे तदुपरि वृद्धे भवति अवक्तव्यप्रथमपदम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जघन्यका जितना प्रमाण है उसमें उसका (जघन्यका) आधा और मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्टस्थान होता है । इसके आगे भी एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवक्तव्यवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

रूऊणवरे अवरुस्सुवरिं संवड्ढिदे तदुक्कस्सं ।
तह्मि पदेसे उड्ढे पढमा संखेज्जगुणवड्ढी ॥ १०७ ॥

रूपोनावरे अवरस्योपरि संवर्द्धिते तदुत्कृष्टम् ।
तस्मिन् प्रदेशे वृद्धे प्रथमा संख्यातगुणवृद्धिः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जघन्यके प्रमाणमें एक कम जघन्यका ही प्रमाण और मिलानेसे अवक्तव्यवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । और इसमें एक प्रदेश और मिलानेसे संख्यातगुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

अवरे वरसंखगुणे तच्चरिमो तम्हि रूवसंजुत्ते ।
उग्गाहणम्हि पढमा होदि अवत्तव्वगुणवड्ढी ॥ १०८ ॥

अवरे वरसंख्यगुणे तच्चरमः तस्मिन् रूपसंयुक्ते।
अवगाहने प्रथमा भवति अवक्तव्यगुणवृद्धिः॥ १०८॥

अर्थ—जघन्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणा करनेपर संख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्टस्थान होता है। इस संख्यातगुणवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानमें ही एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवक्तव्यगुणवृद्धिका प्रथमस्थान होता है।

अवरपरित्तासंखेणवरं संगुणिय रूवपरिहीणे।
तच्चरिमो रूवजुदे तह्मि असंखेज्जगुणपढमं॥ १०९॥

अवरपरीतासंख्येनावरं संगुण्य रूपपरिहीने।
तच्चरमो रूपयुते तस्मिन् असंख्यातगुणप्रथमम्॥ १०९॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाका जघन्यपरीतासंख्यातके साथ गुणा करके उसमेंसे एक घटाने पर अवक्तव्यगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसमें एक प्रदेशकी वृद्धि होनेपर असंख्यातगुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है।

रूवुत्तरेण तत्तो आवलियासंखभागगुणगारे।
तप्पाउग्गेजादे वाउस्सोग्गाहणं कमसो॥ ११०॥

रूपोत्तरेण तत आवलिकासंख्यभागगुणकारे।
तत्प्रायोग्ये जाते वायोरवगाहनं क्रमशः॥ ११०॥

अर्थ—इस असंख्यातगुणवृद्धिके प्रथमस्थानके ऊपर क्रमसे एक २ प्रदेशकी वृद्धि होते २ जब सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य आवलिके असंख्यातमें भागका गुणाकार उत्पन्न होजाय तब क्रमसे उस वायुकायकी अवगाहना होती है। भावार्थ—जघन्य अवगाहनाके ऊपर प्रदेशोत्तर वृद्धिके क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धिको क्रमसे असंख्यात २ वार होनेपर, और इन वृद्धियोंके मध्यमें अवक्तव्यवृद्धिको भी प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे ही असंख्यात २ वार होनेपर, जब असंख्यातगुणवृद्धि होते २ अन्तमें अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाको उत्पन्न करनेमें योग्य आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण असंख्यातका गुणाकार आजाय तब उसके साथ जघन्य अवगाहनाका गुणा करननेसे अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवागाहनाका प्रमाण निकलता है। यह पूर्वोक्त कथन विना अंकसंदृष्टिके समझमें नहीं आसकता इसलिये यहांपर अंकसंदृष्टि लिखदेना उचित समझते हैं। वह इस प्रकार है—कल्पना कीजिये कि जघन्य अवगाहनाका प्रमाण ९६० है और जघन्य संख्यातका प्रमाण २ तथा उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण १५ और जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण १६ है। इस जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जघन्य अवगाहनाका ही भाग देनेसे १ लब्ध आता है

उसको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है । और जघन्य परीतासंख्यात अर्थात् १६ का भाग देनेसे ६० लब्ध आते हैं उनको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे असंख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । उत्कृष्ट संख्यातका अर्थात् १५ का जघन्य अवगाहनामें भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं इनको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है । जघन्यमें २ का भागदेनेसे जो लब्ध आवे उसको अर्थात् जघन्यके आधेको जघन्यमें मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । परन्तु उत्कृष्ट असंख्यातभागवृद्धिके आगे और जघन्य संख्यातभागवृद्धिके पूर्व जो तीन स्थान है, अर्थात् जघन्यके ऊपर ६० प्रदेशोंकी वृद्धि तथा ६४ प्रदेशोंकी वृद्धिके मध्यमें जो ६१–६२ तथा ६३ प्रदेशोंकी वृद्धिके तीन स्थान हैं, वे न तो असंख्यातभागवृद्धिमें ही आते हैं और न संख्यातभागवृद्धिमें ही, इसलिये इनको अवक्तव्यवृद्धिमें लिया है । इसके आगे गुणवृद्धिका प्रारम्भ होता है, जघन्यको दूना करनेसे संख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान (१९२०) होता है । इसके पूर्वमें उत्कृष्ट संख्यातभागवृद्धिके स्थानसे आगे अर्थात् १४४० से आगे जो १४४१ तथा १४४२ आदि १९१९ पर्यंत स्थान हैं वे सम्पूर्ण ही अवक्तव्यवृद्धिके स्थान हैं । इसही प्रकार जघन्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणित करनेपर संख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । और इसके आगे जघन्यपरीतासंख्यातका जघन्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर असंख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान होता है । तथा इन दोनोंके मध्यमें भी पूर्वकी तरह अवक्तव्य वृद्धि होती है । इस असंख्यातगुणवृद्धिमें ही प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते २ सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य गुणाकार प्राप्त होता है उसका जघन्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहना उत्पन्न होती है । इस अंकसंदृष्टिके अनुसार अर्थ संदृष्टि भी समझना चाहिये; परन्तु अंकसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझना चाहिये ।

इसप्रकार सूक्ष्म निगोदियाके जघन्य अवगाहनास्थानोंसे सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहनापर्यन्त स्थानोंको बताकर तैजस्कायादिके अवगाहनास्थानोंके गुणाकारकी उत्पत्तिके क्रमको वताते हैं ।

एवं उवरि विणेओ पदेसवड्ढिकमो जहाजोग्गं ।
सवत्थेक्केकह्मि य जीवसमासाण विच्चाले ॥ १११ ॥

एवमुपर्यपि ज्ञेयः प्रदेशवृद्धिक्रमो यथायोग्यम् ।
सर्वत्रैकैकस्मिंश्च जीवसमासानामन्तराले ॥ १११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तसे लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त वातकायकी जघन्य अवगाहना पर्यन्त प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अवगाहनाके स्थान वताये, उसही प्रकार आगे

भी तैजस्कायिकसे लेकर पर्याप्त पञ्चेन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सम्पूर्ण जीवसमासोंके प्रत्येक अन्तरालमें प्रदेशवृद्धिक्रमसे अवगाहनास्थानोंको समझना चाहिये।

उक्त सम्पूर्ण अवगाहनाके स्थानोंमें किसमें किसका अन्तर्भाव होता है इसको मत्स्यरचनाके द्वारा सूचित करते हैं।

हेट्ठा जेसिं जहण्णं उवरिं उक्कस्सयं हवे जत्थ।
तत्थंतरगा सव्वे तेसिं उग्गाहणविअप्पा॥ ११२॥

अधस्तनं येषां जघन्यमुपर्युत्कृष्टकं भवेद्यत्र।
तत्रान्तरगाः सर्वे तेषामवगाहनविकल्पाः॥ ११२॥

अर्थ—जिन जीवोंकी प्रथम जघन्य अवगाहनाका और अनन्तर उत्कृष्ट अवगाहनाका जहां २ पर वर्णन किया गया है उनके मध्यमें जितने भेद हैं उन सबका मध्यके भेदोंमें अन्तर्भाव होता है। भावार्थ–जिनके अवगाहनाके विकल्प अल्प हैं उनका प्रथम विन्यास करना, और जिनकी अवगाहनाके विकल्प अधिक हैं उनका विन्यास पीछे करना। जिसके जहांसे जहांतक अवगाहना स्थान हैं उनका वहांसे वहांतक ही विन्यास करना चाहिये। ऐसा करनेसे मत्स्यका आकार होजाता है। इस मत्स्यरचनासे किस जीवके कितने अवगाहनाके स्थान हैं और कहांसे कहांतक हैं यह प्रतीत होजाता है।

इसप्रकार स्थान योनि तथा शरीरकी अवगाहनाके निमित्तसे जीवसमासका वर्णन करके कुलोंके द्वारा जीवसमासका वर्णन करते हैं।

बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं।
णेया पुढविदगागणि वाउक्कायाण परिसंखा॥ ११३॥

द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च कुलकोटिशतसहस्राणि।
ज्ञेया पृथिवीदकाग्निवायुकायकानां परिसंख्या॥ ११३॥

अर्थ—पृथिवीकायके बाईस लाख कुलकोटि हैं,। जलकायके सात लाख कुलकोटि हैं। अग्निकायके तीन लाख कुलकोटि हैं। और वायुकायके सात लाख कुलकोटि हैं। भावार्थ-शरीरके भेदको कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते हैं। ये कुल क्रमसे पृथिवीकायके बाईस लाख कोटि, जलकायके सात लाख कोटि, अग्निकायके तीन लाख कोटि, और वायुकायके सात लाख कोटि समझने चाहिये।

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं।
जलचरपक्खिचउप्पय उरपरिसप्पेसु णव होंति॥ ११४॥

अर्द्धत्रयोदश द्वादश दशकं कुलकोटिशतसहस्राणि।
जलचरपक्षिचतुष्पदोरुपरिसर्पेषु नव भवन्ति॥ ११४॥

अर्थ—जलचरोंके कुल साढ़ेबारह लाख कोटि, पक्षियोंके बारह लाख कोटि, पशुओंके दश लाख कोटि, छातीके सहारे चलनेवाले जीव दुमुही आदिके नव लाख कोटि कुल हैं ।

छप्पंचाधियवीसं बारसकुलकोडिसदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥ ११५ ॥

षट्पञ्चाधिकविंशतिः द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि ।
सुरनैरयिकनराणां यथाक्रमं भवन्ति ज्ञेयानि ॥ ११५ ॥

अर्थ—देव नारकी तथा मनुष्य इनके कुल क्रमसे छव्वीस लाख कोटि, पच्चीस लाख कोटि, तथा बारह लाख कोटि हैं ।

पूर्वोक्तप्रकारसे भिन्न २ जीवोंके कुलोंकी संख्याको बताकर सबका जोड़ कितना है यह बताते हैं ।

एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सदसहस्साइं ।
पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ॥ ११६ ॥

एका च कोटिकोटी सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि ।
पञ्चाशत्कोटिसहस्राणि सर्वाङ्गिनां कुलानां च ॥ ११६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंके समस्त कुलोंकी संख्या, एक कोड़ाकोड़ि सतानवे लाख तथा पचास हजार कोटि है । भावार्थ–सम्पूर्ण कुलोंकी संख्या एक कोड़ि सतानवे लाख पचास हजारको एककोटिसे गुणनेपर जितना लब्ध आवे उतनी है । अर्थात् १९७५०००००००००० प्रमाण है ।

इसप्रकार स्थान योनि देहावगाहना तथा कुलके द्वारा जीवसमास नामक दूसरे अधिकारका वर्णन किया ।

इति जीवसमासप्ररूपणो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

इसके अनन्तर तीसरे पर्याप्तिनामक अधिकारका प्रतिपादन करते हैं ।

जह पुण्णापुण्णाइं गिहघडवत्थादियाइं दव्वाइं ।
तह पुण्णिदरा जीवा पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥ ११७ ॥

यथा पूर्णापूर्णानि गृहघटवस्त्रादिकानि द्रव्याणि ।
तथा पूर्णेतरा जीवाः पर्याप्तेतरा मन्तव्याः ॥ ११७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार घर घट वस्त्र आदिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं । उस ही प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारके होते हैं । जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं । भावार्थ–गृहीत आहारवर्गणाको खल-रस भागादिरूप परिणमानेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होजानेको पर्याप्ति कहते हैं । यह

पर्याप्ति जिनके पाई जाय उनको पर्याप्त, और जिनकी वह शक्ति पूर्ण नहीं हुई है उन जीवोंको अपर्याप्त कहते हैं । जिसप्रकार घटादिक द्रव्य वनचुकनेपर पूर्ण और उससे पूर्व अपूर्ण कहे जाते हैं । इसही प्रकार पर्याप्ति सहितको पर्याप्त और पर्याप्ति रहितको अपर्याप्त कहते हैं ।

पर्याप्तिके छह भेद तथा उनके स्वामियोंका नाम निर्देश करते हैं ।

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदियवियलसण्णीणं ॥ ११८ ॥

आहारशरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तयः आनप्राणभाषामनान्सि ।
चतस्रः पञ्च षडपि च एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनाम् ॥ ११८ ॥

अर्थ—आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा मन इस प्रकार पर्याप्तिके छह भेद हैं। जिनमें एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्याप्ति, और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञिपंचेन्द्रियके मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्ति होती हैं । और संज्ञि जीवोंके सभी पर्याप्ति होती हैं। भावार्थ—एक शरीरको छोड़कर नवीन शरीरको कारणभूत जिस नोकर्मवर्गणाको जीव ग्रहण करता है उसको खल रस भागरूप परिणमावनेकेलिये जीवकी शक्तिके पूर्ण होजानेको आहारपर्याप्ति कहते हैं। और खलभागको हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभागको खून आदि द्रव (नरम) अवयवरूप परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेको शरीरपर्याप्ति कहते हैं । तथा उस ही नोकर्मवर्गणाके स्कन्धमेंसे कुछ वर्गणाओंको अपनी २ इन्द्रियके स्थानपर उस उस द्रव्येन्द्रियके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होजानेको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । इसही प्रकार कुछ स्कन्धोंको श्वासोच्छ्वासरूप परिणमावनेकी जो जीवकी शक्तिकी पूर्णता उसको श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं । और वचनरूप होनेके योग्य पुद्गल स्कन्धोंको (भाषावर्गणाको) वचनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको भाषापर्याप्ति कहते हैं । तथा द्रव्यमनरूप होनेको योग्य पुद्गलस्कन्धोंको (मनोवर्गणा) द्रव्यमनक आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेको मनःपर्याप्ति कहते हैं । इन छह पर्याप्तियोंमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्याप्ति ही होती हैं। और द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्यन्त मनःपर्याप्तिको छोड़कर पांच पर्याप्ति होती हैं । और संज्ञि जीवोंके सभी पर्याप्ति होती हैं। जिन जीवोंकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं उनको पर्याप्त, और जिनकी पूर्ण नहीं होती उनको अपर्याप्त कहते हैं । अपर्याप्त जीवोंके भी दो भेद हैं—एक निर्वृत्त्यपर्याप्त दूसरा लब्ध्यपर्याप्त । जिनकी पर्याप्ति अभीतक पूर्ण नहीं हुई है; किन्तु अन्तर्मुहूर्तके वाद नियमसे पूर्ण होजायगी उनको निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं। और जिसकी अभीतक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई और पूर्ण होनेसे प्रथम ही जिसका मरण भी होजायगा—अर्थात् अपनी आयुके कालमें जिसकी पर्याप्ति कभी पूर्ण न हो उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं ।

इन पर्याप्तियोंमेंसे प्रत्येक तथा समस्तके प्रारम्भ और पूर्ण होनेमें कितना काल लगता है यह बताते हैं।

पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं ।
अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥ ११९ ॥

पर्याप्तिप्रस्थापनं युगपत्तु क्रमेण भवति निष्ठापनम् ।
अन्तर्मुहूर्तकालेन अधिकक्रमास्तावदालापात् ॥ ११९ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पर्याप्तियोंका आरम्भ तो युगपत् होता है; किन्तु उनकी पूर्णता क्रमसे होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका कुछ २ अधिक है; तथापि सामान्यकी अपेक्षा सबका अन्तर्मुहूर्तमात्र ही काल है। भावार्थ—एकसाथ सम्पूर्ण पर्याप्तियोंके प्रारम्भ होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालमें आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है। और उससे संख्यातभाग अधिक कालमें शरीर पर्याप्ति पूर्ण होती है। इस ही प्रकार आगे २ की पर्याप्तिके पूर्ण होनेमें पूर्व २ की अपेक्षा कुछ २ अधिक २ काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। क्योंकि असंख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्तके भी असंख्यात भेद हैं; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात भेद होते हैं। इस लिये सम्पूर्ण पर्याप्तियोंके समुदायका काल भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है।

पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तका काल बताते हैं।

पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि ।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥ १२० ॥

पर्याप्तस्य च उदये निजनिजपर्याप्तिनिष्ठितो भवति ।
यावत् शरीरमपूर्णं निर्वृत्यपूर्णकस्तावत् ॥ १२० ॥

अर्थ—पर्याप्त नामकर्मके उदयसे जीव अपनी २ पर्याप्तियोंसे पूर्ण होता है; तथापि जबतक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उसको पर्याप्त नहीं कहते; किन्तु निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं। भावार्थ—इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन इन पर्याप्तियोंके पूर्ण नहीं होनेपर भी यदि शरीरपर्याप्ति पूर्ण होगई है तो वह जीव पर्याप्त ही है; किन्तु उससे पूर्व निर्वृत्यपर्याप्तक कहा जाता है।

लब्ध्यपर्याप्तकका स्वरूप दिखाते हैं।

उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि ।
अंतोमुहुत्तमरणं लद्धिअपज्जत्तगो सो दु ॥ १२१ ॥

उदये तु अपूर्णस्य च स्वकस्वकपर्याप्तीर्न निष्ठापयति ।
अन्तर्मुहूर्तमरणं लब्ध्यपर्याप्तकः स तु ॥ १२१ ॥

अर्थ—अपर्याप्त नामकर्मके उदय होनेसे जो जीव अपने २ योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तकालमें ही मरणको प्राप्त होजाय उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। भावार्थ—जिन जीवोंका अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे अपने २ योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होजाय उनको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। इस गाथामें जो तु शब्द पडा है उससे इस प्रकारके जीवोंका अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होता है, और दूसरे चकारसे इन जीवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट दोंनो ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है, ऐसा समझना चाहिये। यह अन्तर्मुहूर्त एक श्वासके अठारवें भागप्रमाण है। इस प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तक जीव एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सबहीमें पाये जाते हैं।

यदि एक जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें लब्ध्यपर्याप्तक अवस्थामें ज्यादेसे ज्यादे भवोंको धारण करै तो कितने करसकता है? यह बताते है।

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि।
अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा॥ १२२॥

त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् षट्षष्टिसहस्रकाणि मरणानि।
अन्तर्मुहूर्तकाले तावन्तश्चैव क्षुद्रभवाः॥ १२२॥

अर्थ—एक अन्तर्मुहूर्तमें एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस मरण और इतने ही भवोंको (जन्म) भी धारण कर सकता है। भावार्थ—एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव यदि निरन्तर भवोंको धारण करै तो ६६३३६ जन्म और इतने ही मरणोंको धारण कर सकता है। अधिक नहीं करसकता।

उक्त भवोंमें एकेन्द्रियादिकमेंसे किसके कितने भवोंको धारण करता है यह बताते हैं।

सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठिं च सहस्सा सयं च बत्तीसमेयक्खे॥ १२३॥

अशीतिः षष्टिः चत्वारिंशद्विकले चतुर्विंशतिर्भवन्ति पंचाक्षे।
षट्षष्टिश्च सहस्राणि शतं च द्वात्रिंशमेकाक्षे॥ १२३॥

अर्थ—विकलेन्द्रियोंमें द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ४० और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके २४, तथा एकेन्द्रियोंके ६६१३२ भवोंको धारण कर सकता है, अधिकको नहीं।

एकेन्द्रियोंकी संख्याको स्पष्ट करते हैं।

पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य एकेक्के बार खं छक्कं॥ १२४॥

पृथ्वीदकाग्निमारुतसाधारणस्थूलसूक्ष्मप्रत्येकाः।
एतेषु अपूर्णेषु च एकैकस्मिन् द्वादश खं षट्कम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म दोनोंही प्रकारके जो पृथ्वी जल अग्नि वायु और साधारण, और प्रत्येक वनस्पति, इसप्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येक (हर-एक) के ६०१२ भेद होते हैं। भावार्थ—स्थूल पृथिवी सूक्ष्म पृथिवी स्थूल जल सूक्ष्म जल स्थूल वायु सूक्ष्म वायु स्थूल अग्नि सूक्ष्म अग्नि स्थूल साधारण सूक्ष्म साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येकके ६०१२ भव होते हैं। इसलिये ११ को ६०१२ से गुणा करनेपर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके उत्कृष्ट भवोंका प्रमाण (६६१३२) निकलता है।

समुद्धात अवस्थामें केवलियोंके भी अपर्याप्तता कही है सो किस प्रकार हो सकती है यह बताते हैं।

पज्जत्तसरीरस्स य पज्जत्तुदयस्स कायजोगस्स।
जोगिस्स अपुण्णत्तं अपुण्णजोगोत्ति णिद्दिट्ठं ॥ १२५ ॥

पर्याप्तशरीरस्य च पर्याप्त्युदयस्य काययोगस्य।
योगिनोऽपूर्णत्वमपूर्णयोग इति निर्दिष्टम् ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिस सयोग केवलीका शरीर पूर्ण है, और उसके पर्याप्ति नाम कर्मका उदय भी मौजूद है, तथा काययोग भी है, उसके अपर्याप्तता किसप्रकार हो सकती है? तो इसका कारण योगका पूर्ण न होना ही बताया है। भावार्थ—जिसके अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो, अथवा जिसका शरीर पूर्ण न हुआ हो उसको अपर्याप्त कहते हैं। क्योंकि पहले "जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव" ऐसा कह आये हैं। अर्थात् जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तककी अवस्थाको निर्वृत्त्यपर्याप्ति कहते हैं। परन्तु केवलीका शरीर भी पर्याप्त है, और उनके पर्याप्ति नामकर्मका उदय भी है, तथा काययोग भी मौजूद है, तब उसको अपर्याप्त क्यों कहा? इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके काययोग आदि सभी मौजूद हैं, तथापि उनके कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण तीनोंही समुद्धात अवस्थामें योग पूर्ण नहीं है, इस ही लिये उनको आगममें गौणतासे अपर्याप्त कहा है। मुख्यतासे अपर्याप्त अवस्था जहांपर पाई जाती है ऐसे प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छट्ठा ये चार ही गुणस्थान हैं।

किस २ गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था पाई जाती हैं? यह बताते हैं।

लद्धिअपुण्णं मिच्छे तत्थवि विदिये चउत्थछट्ठे य।
णिव्वत्तिअपज्जत्ती तत्थवि सेसेसु पज्जत्ती ॥ १२६ ॥

लब्ध्यपूर्णे मिथ्यात्वे तत्रापि द्वितीये चतुर्थषष्ठे च ।
निर्वृत्त्यपर्याप्तिः तत्रापि शेषेषु पर्याप्तिः ॥ १२६ ॥

अर्थ—लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं । निर्वृत्यपर्याप्तक प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छट्टे गुणस्थानमें होते हैं । और पर्याप्ति उक्त चारो और शेष सभी गुणस्थानोंमें पाई जाती है । भावार्थ—प्रथम गुणस्थानमें लब्ध्यपर्याप्ति निर्वृत्यपर्याप्ति पर्याप्ति तीनों अवस्था होती हैं । सासादन असंयत और प्रमत्तमें निर्वृत्यपर्याप्त पर्याप्त ये दो अवस्था होती हैं । उक्त तथा शेष सब ही गुणस्थानोंमें पर्याप्ति पाई जाती है । प्रमत्त गुणस्थानमें जो निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था कही है, वह आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षासे है । इस गाथामें जो च शब्द पड़ा है उससे सयोगकेवली भी निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं यह बात गौणतया सूचित की है ।

सासादन और सम्यक्त्वके अभावका नियम कहां २ पर है यह बताते हैं ।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं ।
पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥ १२७ ॥

अधःस्तनषट्पृथ्वीनां ज्योतिष्कवनभवनसर्वस्त्रीणाम् ।
पूर्णेतरस्मिन् न हि सम्यक्त्वं न सासनो नारकापूर्णे ॥ १२७ ॥

अर्थ—द्वितीयादिक छह नरक और ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी ये तीन प्रकारके देव, तथा सम्पूर्ण स्त्रियां इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता । और सासादन सम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नारकी नहीं होता । भावार्थ—सम्यक्त्वसहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी देवोंमें और समग्र स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता । और सासादनसम्यग्दृष्टि मरण कर नरकको नहीं जाता ।

इति पर्याप्तिप्ररूपणो नाम तृतीयोऽधिकारः ।

अब प्राणप्ररूपणा क्रमप्राप्त है उसमें प्रथम प्राणका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं ।
पाणंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ॥ १२८ ॥

बाह्यप्राणैर्यथा तथैवाभ्यन्तरैः प्राणैः ।
प्राणन्ति यैर्जीवाः प्राणास्ते भवन्ति निर्दिष्टाः ॥ १२८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अभ्यन्तरप्राणोंके कार्यभूत नेत्रोंका खोलना, वचनप्रवृत्ति, उच्छ्वास निःश्वास आदि बाह्य प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, उसही प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । भावार्थ—जिनके सद्भावमें जीवमें जीवितपनेका और वियोग होनेपर मरणपनेका व्यवहार

हो उनको प्राण कहते हैं । ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियोंके कार्यरूप हैं—अर्थात् प्राण और पर्याप्तिमें कार्य और कारणका अन्तर है । क्योंकि गृहीत पुद्गलस्कन्ध विशेषोंको इन्द्रिय वचन आदिरूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति, और वचन व्यापार आदिकी कारणभूत शक्तिको, तथा वचन आदिको प्राण कहते हैं ।

प्राणके भेदोंको गिनाते हैं ।

पंचवि इंदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा ।
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥ १२९ ॥

पञ्चापि इन्द्रियप्राणाः मनोवचःकायेषु त्रयो बलप्राणाः ।
आनापानप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥ १२९ ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियप्राण—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः श्रोत्र । तीन बलप्राण—मनोबल वचनबल कायबल । श्वासोच्छ्वास तथा आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं ।

द्रव्य और भाव दोनोंही प्रकारके प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री बताते हैं ।

वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेंदियेसु बला ।
देहुदये कायाणा वचीबला आउ आउदये ॥ १३० ॥

वीर्ययुतमतिक्षयोपशमोत्था नोइन्द्रियेन्द्रियेषु बलाः ।
देहोदये कायानौ वचोबल आयुः आयुरुदये ॥ १३० ॥

अर्थ—मनोबल प्राण और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारणसे उत्पन्न होते हैं । शरीरनामकर्मके उदयसे कायबलप्राण होता है । श्वासोच्छ्वास और शरीरनामकर्मके उदयसे प्राण—श्वासोच्छ्वास उत्पन्न होते हैं । स्वरनामकर्मके साथ शरीर नामकर्मका उदय होनेपर वचनबल प्राण होता है । आयुःकर्मके उदयसे आयुःप्राण होता है । भावार्थ—वीर्यान्तराय और अपने २ मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले मनोबल और इन्द्रियप्राण, निज और पर पदार्थको ग्रहण करनेमें समर्थ लब्धिनामक भावेन्द्रिय रूप होते हैं । इस ही प्रकार अपने २ पूर्वोक्त कारणसे उत्पन्न होनेवाले कायबलादिक प्राणोंमें शरीरकी चेष्टा उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यरूप कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिमें कारणभूत शक्तिरूप श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनव्यापारको कारणभूत शक्तिरूप वचोबल प्राण, नरकादि भव धारण करनेकी शक्तिरूप आयुःप्राण होता है ।

प्राणोंके स्वामियोंको बताते हैं ।

इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा ।
बीइंदियादिपुण्णे वचीमणो सण्णिपुण्णेव ॥ १३१ ॥

इन्द्रियकायायूंषि च पूर्णापूर्णेषु पूर्णके आनः।
द्वीन्द्रियादिपूर्णे वचः मनः संज्ञिपूर्णे एव ॥ १३१ ॥

अर्थ—इन्द्रिय काय आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनोंही के होते हैं। किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्तके ही होता है। और वचनबल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रियादिके ही होता है। तथा मनोबल प्राण संज्ञिपर्याप्तकके ही होता है।

एकेन्द्रियादि जीवोंमें किसके कितने प्राण होते हैं इसका नियम बताते हैं।

दस सण्णीणं पाणा सेसेगूणंतिमस्स वेऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य सत्त दुगे सेसगेगूणा ॥ १३२ ॥

दश संज्ञिनां प्राणाः शेषैकोनमन्तिमस्य द्व्यूनाः।
पर्याप्तेष्वितरेषु च सप्त द्विके शेषकैकोनाः ॥ १३२ ॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियके दश प्राण होते हैं। शेषके पर्याप्तकोंके एक २ प्राण कम होता जाता है; किन्तु एकेन्द्रियोंके दो कम होते हैं। अपर्याप्तक संज्ञि और असंज्ञी पंचेन्द्रियके सात प्राण होते हैं और शेषके अपर्याप्त जीवोंके एक २ प्राण कम होता जाता है। भावार्थ—पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियके सबही प्राण होते हैं। असंज्ञिके मनोबलप्राणको छोड़कर बाकी नव प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रियको छोड़कर आठ, और त्रीन्द्रियकें चक्षुको छोड़कर बाकी सात, द्वीन्द्रियके घ्राणको छोड़कर बाकी छह, और एकेन्द्रियके रसनेन्द्रिय तथा वचनबलको छोड़कर बाकी चार प्राण होते हैं। यह सम्पूर्ण कथन पर्याप्तककी अपेक्षासे है। अपर्याप्तकमें कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है कि संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रियके श्वासोच्छ्वास वचोबल मनोबलको छोड़कर बाकी पांच इन्द्रिय कायबल आयुःप्राण इसप्रकार सात प्राण होते हैं। आगे एक २ कम होता गया है—अर्थात् चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोड़कर बाकी ६ प्राण, त्रीन्द्रियके चक्षुः को छोड़कर ५, और द्वीन्द्रियके घ्राणको छोड़कर ४, तथा एकेन्द्रियके रसनाको छोड़कर बाकी तीन प्राण होते हैं।

इति प्राणप्ररूपणो नाम चतुर्थोऽधिकारः।

इह जाहि बाहियावि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥ १३३ ॥

इह याभिर्बाधिता अपि च जीवाः प्राप्नुवन्ति दारुणं दुःखम्।
सेवमाना अपि च उभयस्मिन् ताश्चतस्रः संज्ञाः ॥ १३३ ॥

अर्थ—जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोकमें और जिनके विषयका सेवन करनेसे दोनों ही भवोंमें दारुण दुःखको प्राप्त होता है उनको संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं।

भावार्थ—संज्ञानाम वांछाका है, जिसके निमित्तसे दोनोंही भवोंमें दारुण दुःखकी प्राप्ति होती है उस वांछाको संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं, आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा।

आहारसंज्ञाका स्वरूप बताते हैं।

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥ १३४ ॥

आहारदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमकोष्ठया ।
सातेतरोदीरणया भवति हि आहारसंज्ञा हि ॥ १३४ ॥

अर्थ—आहारके देखनेसे अथवा उसके उपयोगसे और पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीयके उदय और उदीर्णा होनेपर जीवके नियमसे आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है। भावार्थ—किसी उत्तम रसयुक्त आहारके देखनेसे अथवा पूर्वानुभूत भोजनका स्मरण करनेसे यद्वा पेटके खाली होजानेसे और असाता वेदनीयके उदय और उदीर्णासे इत्यादि और भी अनेक कारणोंसे आहारसंज्ञा अर्थात् आहारकी वाञ्छा उत्पन्न होती है।

भयसंज्ञाके कारण और उसका स्वरूप बताते हैं।

अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए ।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥ १३५ ॥

अतिभीमदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमसत्त्वेन ।
भयकर्मोदीरणया भयसंज्ञा जायते चतुर्भिः ॥ १३५ ॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर पदार्थके देखनेसे, अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थके स्मरणादिसे, यद्वा शक्तिके हीन होनेपर, और अंतरंगमें भयकर्मकी उदय उदीर्णा होनेपर इत्यादि कारणोंसे भयसंज्ञा होती है।

मैथुनसंज्ञाको बताते हैं।

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥ १३६ ॥ पञ्चसं० १-५४

प्रणीतरसभोजनेन च तस्योपयोगे कुशीलसेवया ।
वेदस्योदीरणया मैथुनसंज्ञा भवति एवम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—स्वादिष्ट और गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करनेसे, और पहले भुक्त विषयोंका स्मरण आदि करनेसे, तथा कुशीलका सेवन करनेसे और वेद कर्मका उदय उदीर्णा आदिसे मैथुनसंज्ञा होती है।

परिग्रह संज्ञाका वर्णन करते हैं।

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य ।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥ १३७ ॥

उपकरणदर्शनेन च तस्योपयोगेन मूर्च्छितायै च।
लोभस्योदीरणया परिग्रहे जायते संज्ञा ॥ १३७ ॥

अर्थ—इत्र भोजन उत्तम वस्त्र स्त्री आदि भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थोंके देखनेसे, अथवा पहले भुक्त पदार्थोंका स्मरण करनेसे, और ममत्व परिणामोंके होनेसे, लोभकर्मका उदय उदीर्णा होनेसे, इत्यादि कारणोंसे परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है।

किस जीवके कौनसी संज्ञा होती है यह बताते हैं।

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि णहि कज्जे ॥ १३८ ॥

नष्टप्रमादे प्रथमा संज्ञा न हि तत्र कारणाभावात्।
शेषाः कर्मास्तित्वेनोपचारेण सन्ति न हि कार्ये ॥ १३८ ॥

अर्थ—अप्रमत्त गुणस्थानमें आहारसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि यहांपर उसका कारण असातवेदनीय कर्मका उदय नहीं है। और शेषकी तीन संज्ञा उपचारसे वहांपर होती हैं। क्योंकि उनका कारण कर्म वहांपर मौजूद है। किन्तु उनका कार्य वहांपर नहीं होता। भावार्थ–साता असाता वेदनीय और मनुष्य आयु इन तीन प्रकृतियोंकी उदीरणा प्रमत्तविरतमें ही होती है–आगे नहीं। इसलिये सातवें गुणस्थानमें आहारसंज्ञा नहीं है। किन्तु शेष तीन संज्ञा उपचारसे होती हैं, वास्तविक नहीं। क्योंकि उनका कारणभूत कर्म वहांपर है। किन्तु भागना रतिक्रीडा परिग्रहस्वीकार आदिमें प्रवृत्तिरूप उनका कार्य नहीं है। क्योंकि वहांपर ध्यान अवस्था ही है। अन्यथा कभी भी ध्यान न हो सकेगा, और कर्मोंका क्षय तथा मुक्तिकी प्राप्ति भी नहीं होसकेगी।

इति संज्ञाप्ररूपणो नाम पञ्चमोऽधिकारः।

अथ मङ्गलपूर्वक क्रमप्राप्त मार्गणा महाधिकारको कहते हैं।

धम्मगुणमग्गणाहयमोहारिबलं जिणं णमंसित्ता।
मग्गणमहाहियारं विविहहियारं भणिस्सामो ॥ १३९ ॥

धर्मगुणमार्गणाहतमोहारिबलं जिनं नमसित्वा।
मर्गणामहाधिकारं विविधाधिकारं भणिष्यामः ॥ १३९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि अथवा उत्तमक्षमादि धर्मरूपी धनुष, और ज्ञानादि गुणरूपी प्रत्यंचा (डोरी), तथा चौदह मार्गणारूपी बाणोंसे जिसने मोहरूपी शत्रुके बलको नष्ट करदिया है इसप्रकारके जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके, मार्गणा महाधिकारको जिसमें कि और भी अनेक अधिकारोंका अन्तर्भाव होता है, वर्णन करूंगा।

इसप्रकार मार्गणानिरूपणकी प्रतिज्ञा करके प्रथम उसका (मार्गणा) निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥ १४० ॥

याभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यन्ते यथा तथा दृष्टाः ।
ताश्चतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवन्ति ॥ १४० ॥

अर्थ—जिसप्रकारसे प्रवचनमें देखेगये हों उसही प्रकारसे जीवादि पदार्थोंका जिन भावोंके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें विचार किया जाय वे ही मार्गणा हैं । ऐसा समझना चाहिये । उनके चौदह भेद हैं ।

चौदह मार्गणाओंके नाम बताते हैं ।

गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥ १४१ ॥

गतीन्द्रियेषु काये योगे वेदे कषायज्ञाने च ।
संयमदर्शनलेश्याभव्यतासम्यक्त्वसंज्ञ्याहारे ॥ १४१ ॥

अर्थ—गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा आहार । ये चौदह मार्गणा हैं ।

अन्तरमार्गणाओंके भेद तथा उनके कालका नियम बताते हैं ।

उवसमसुहमाहारे वेगुव्वियमिस्सणरअपज्जत्ते ।
सासणसम्मे मिस्से सांतरगा मग्गणा अट्ठ ॥ १४२ ॥

उपशमसूक्ष्माहारे वैगूर्विकमिश्रनरापर्याप्ते ।
सासनसम्यक्त्वे मिश्रे सान्तरका मार्गणा अष्ट ॥ १४२ ॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्व सूक्ष्मसांपराय आहारकयोग आहारकमिश्रयोग वैक्रियिकमिश्र अपर्याप्त मनुष्य सासादनसम्यक्त्व मिश्र ये आठ अन्तरमार्गणा है ।

उक्त आठ अन्तरमार्गणाओंका उत्कृष्ट और जघन्य काल बताते हैं ।

सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्तं च बारसमुहुत्ता ।
पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एगसमयो दु ॥ १४३ ॥

सप्तदिनानि षण्मासा वर्षपृथक्त्वं च द्वादशमुहूर्ताः ।
पल्यासंख्यं त्रयाणां वरमवरमेकसमयस्तु ॥ १४३ ॥

अर्थ—उक्त आठ अन्तर मार्गणाओंका उत्कृष्ट काल क्रमसे सात दिन छह महीना

पृथक्त्व वर्ष पृथक्त्व वर्ष बारहमुहूर्त और अन्तकी तीन मार्गणाओंका काल पल्यके असंख्यातवें भाग है। और जघन्य काल सबका एक समय है। भावार्थ—उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल सात दिन, सूक्ष्मसांपरायका छह महीना, आहारकयोगका पृथक्त्ववर्ष, तथा आहारकमिश्रका पृथक्त्ववर्ष, वैक्रियिकमिश्रका बारह मुहूर्त, अपर्याप्त मनुष्यका पल्यके असंख्यातवें भाग, तथा सासादन सम्यक्त्व और मिश्र इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अंतरकाल पल्यके असंख्यातवें भाग है। और जघन्य काल सबका एक समय ही है।

अंतरमार्गणाविशेषोंको दिखाते हैं।

पढमुवसमसहिदाए विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा।
विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोधव्वो ॥ १४४ ॥

प्रथमोपशमसहिताया विरताविरतेश्चतुर्दश दिवसाः।
विरतेः पञ्चदश विरहितकालस्तु बोद्धव्यः ॥ १४४ ॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छट्ठे सातमें गुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल पंद्रह दिन समझना चाहिये। भावार्थ—उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं, एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। चार अनन्तानुबन्धी तथा एक दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के, अथवा तीनों दर्शनमोहनीय और चार अनंतानुबंधी, इस प्रकार पांच या सातके उपशमसे जो हो उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका विसंयोजन और दर्शनमोहनीयत्रिकका उपशम होनेसे जो सम्यक्त्व होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इनमेंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छट्ठे सातवें गुणस्थानका पंद्रह दिन है। किन्तु जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय ही है।

गतिमार्गणाका प्रारम्भ करते हुए प्रथम गतिशब्दकी निरुक्ति और उसके भेदोंको गिनाते हैं

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइत्तिय हवे चदुधा ॥ १४५ ॥

गत्युदयजपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः।
नारकतिर्यग्मानुषदेवगतिरिति च भवेत् चतुर्धा ॥ १४५ ॥

अर्थ—गतिनाम कर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको अथवा चारों गतियोंमें गमन करनेके कारणको गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं, नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति देवगति।

गतिमार्गणामें कुछ विशेष (चारों गतियोंका पृथक् २) वर्णन पांच गाथाओं द्वारा करते हैं।

ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य कालभावे य ।
अण्णोण्णेहि य जह्मा तह्मा ते णारया भणिया ॥ १४६ ॥

न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च ।
अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता भणिताः ॥ १४६ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावमें स्वयं तथा परस्परमें प्रीतिको प्राप्त नहीं होते अतएव उनको नारत (नारकी) कहते हैं । भावार्थ—शरीर और इन्द्रियके विषयोंमें, उत्पत्ति शयन विहार उठने बैठने आदिके स्थानमें, भोजन आदिके समयमें, अथवा और भी अनेक अवस्थाओंमें जो स्वयं अथवा परस्परमें प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं । इस गाथामें जो च शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरुक्तिसिद्ध अर्थ समझना चाहिये । अर्थात् जो नरकगतिनाम कर्मके उदयसे हों उनको, अथवा (नरान्) मनुष्योंको (कायन्ति) क्लेश पहुंचावें उनको नारक कहते हैं । क्योंकि नीचे सातो ही भूमियोंमें रहनेवाले नारकी निरन्तर ही स्वाभाविक शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पांच प्रकारके दुःखोंसे दुःखी रहते हैं ।

तिर्यग्गतिका स्वरूप बताते हैं ।

तिरियंति कुडिलभावं सुविउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा ।
अच्चंतपावबहुला तह्मा तेरिच्छया भणिया ॥ १४७ ॥

तिरोञ्चन्ति कुटिलभावं सुविवृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः ।
अत्यन्तपापबहुलास्तस्मात्तैरश्चका भणिताः ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो मन वचन कायकी कुटिलताको प्राप्त हों, अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्योंको अच्छीतरह प्रकट हो, और जो निकृष्ट अज्ञानी हों, तथा जिनमें अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं । भावार्थ—जिनमें कुटिलताकी प्रधानता हो; क्योंकि प्रायःकरके सबही तिर्यंच जो उनके मनमें होता है उसको वचनद्वारा नहीं कहते; क्योंकि उनके उसप्रकारकी वचनशक्ति ही नहीं है, और जो वचनसे कहते हैं उसको कायसे नहीं करते, तथा जिनकी आहारादिसंज्ञा प्रकट हो, और श्रुतका अभ्यास तथा शुभोपयोगादिके न करसकनेसे जिनमें अत्यन्त अज्ञानता पाई जाय । तथा मनुष्यकी तरह महाव्रतादिकको धारण न करसकने और दर्शनविशुद्धि आदिके न होसकनेसे जिनमें अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं ।

मनुष्यगतिका स्वरूप बताते हैं ।

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जह्मा ।
मण्णुब्भवा य सव्वे तह्मा ते माणुसा भणिदा ॥ १४८ ॥

मन्यन्ते यतो नित्यं मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात् ।
मनूद्भवाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो नित्य ही हेय उपादेय तत्व अतत्त्व धर्म अधर्मका विचार करैं, और जो मनके द्वारा गुणदोषादिका विचार स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मनके विषयमें उत्कृष्ट हों, तथा युगकी आदिमें जो मनुओंसे उत्पन्न हुए हों उनको मनुष्य कहते हैं। भावार्थ—मनका विषय तीव्र होनेसे गुणदोषादिका विचार स्मरण आदि जिनमें उत्कट रूपसे पाया जाय, तथा चतुर्थ कालकी आदिमें आदीश्वर भगवान् तथा कुलकरोंने उनको व्यवहारका उपदेश दिया इसलिये जो आदीश्वर भगवान् अथवा कुलकरोंकी संतान कहे जाते हैं, उनको मनुष्य कहते हैं। इस गाथामें एक यतः शब्द है दूसरा यस्मात् शब्द है, अर्थ दोनोंका एक ही होता है, इसलिये एक शब्द व्यर्थ है; वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करता है कि लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंमें यद्यपि यह लक्षण घटित नहीं होता तथापि उनको मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयुकर्मके उदयमात्रकी अपेक्षासे ही मनुष्य कहते हैं ऐसा समझना चाहिये।

तिर्यंच तथा मनुष्योंके भेदोंको गिनाते हैं।

सामण्णा पंचिंदी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता ।
तिरिया णरा तहावि य पंचिंदियभंगदो हीणा ॥ १४९ ॥

सामान्याः पंचेन्द्रियाः पर्याप्ताः योनिमत्यः अपर्याप्ताः ।
तिर्यञ्चो नरास्तथापि च पंचेन्द्रियभंगतो हीनाः ॥ १४९ ॥

अर्थ—तिर्यंचोंके पांच भेद हैं, सामान्यतिर्यंच पंचेन्द्रियतिर्यंच पर्याप्ततिर्यंच योनिमतीतिर्यंच और अपर्याप्ततिर्यंच। इसही प्रकार मनुष्यके भी पंचेन्द्रियके भंगको छोड़कर बाकी चार भेद होते हैं। भावार्थ—तिर्यंचोंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षी एकेन्द्रियादि जीवोंकी सम्भावना है इसलिये तिर्यंचोंमें पंचेन्द्रियके भंगसहित पांच भेद हैं, किन्तु मनुष्योंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षकी सम्भावना नहीं है इसलिये उनके सामान्यमनुष्य पर्याप्तमनुष्य योनिमतीमनुष्य अपर्याप्तमनुष्य इसप्रकार चार ही भेद होते हैं।

देवोंका स्वरूप बताते हैं।

दीव्वंति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठहिं दिव्वभावेहिं ।
भासंतदिव्वकाया तह्मा ते वण्णिया देवा ॥ १५० ॥

दीव्यन्ति यतो नित्यं गुणैरष्टाभिर्दिव्यभावैः ।
भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः ॥ १५० ॥

अर्थ—जो देवगतिमें होनेवाले परिणामोंसे सदा सुखी रहते हैं। और अणिमा महिमा

आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूपसे विहार करते हैं। और जिनका रूप लावण्य यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहे उनको परमागममें देव कहा है।

इसप्रकार संसारसम्बन्धी चारों गतियोंका स्वरूप बताकर अब संसारसे विलक्षण पांचमी सिद्धगतिका स्वरूप बताते हैं।

जाइजरामरणभया संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ ।
रोगादिगा य जिस्से ण संति सा होदि सिद्धगई ॥ १५१ ॥

जातिजरामरणभयाः संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः ।
रोगादिकाश्च यस्यां न सन्ति सा भवति सिद्धगतिः ॥ १५१ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रियादि जाति बुढ़ापा मरण भय अनिष्टसंयोग इष्टवियोग इनसे होनेवाला दुःख आहारादिविषयक संज्ञा (वाञ्छा) और रोगादिक जिस गतिमें नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं। भावार्थ—एकेन्द्रियादि जाति, आयुःकर्मके घटनेसे शरीरके शिथिल होनेरूप जरा, आयुःकर्मके अभावसे होनेवाला प्राणत्यागरूप मरण, अनर्थकी आशंका करके अपकारक वस्तुसे भागनेकी इच्छारूप भय, क्लेशके कारणभूत अनिष्ट पदार्थ की प्राप्तिरूप संयोग, सुखके कारणभूत इष्ट पदार्थके दूर होनेरूप वियोग इत्यादि दुःख, और आहारसंज्ञा आदि तीनसंज्ञा, (क्योंकि भयसंज्ञाका पृथक् ग्रहण हो चुका है), खांसी आदि अनेक रोग, तथा आदिशब्दसे मानभंग बध बन्धन आदि दुःख जिस गतिमें अपने २ कारणभूत कर्मके अभाव होनेसे नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं।

गतिमार्गणामें जीवसंख्याका वर्णन करनेकी इच्छासे प्रथम नरकगतिमें जीवसंख्याका वर्णन करते हैं।

सामण्णा णेरइया घणअंगुलबिदियमूलगुणसेढी ।
बिदियादि बारदसअडछत्तिदुणिजपदहिदा सेढी ॥ १५२ ॥

सामान्या नैरयिका घनाङ्गुलद्वितीयमूलगुणश्रेणी ।
द्वितीयादिः द्वादशदशाष्टषट्त्रिद्विनिजपदहिता श्रेणी ॥ १५२ ॥

अर्थ—सामान्यसे सम्पूर्ण नारकियोंका प्रमाण घनाङ्गुलके[1] दूसरे वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। द्वितीयादि पृथिवियोंमें होनेवाले नारकियोंका प्रमाण क्रमसे अपने बारहमे दशमे आठमे छट्ठे तीसरे दूसरे वर्गमूलसे भक्त जगच्छ्रेणीप्रमाण समझना चाहिये। भावार्थ—घनाङ्गुलके दूसरे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उतने ही सातो पृथिवियोंके नारकी हैं। इसमेंसे द्वितीयादिक पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण बतानेके लिये कहते हैं कि अपने अर्थात् सम्पूर्ण नारकियोंका जितना प्रमाण है

१ इस ग्रन्थके अन्तमें गणितका प्रकरण लिखेंगे वहांपर इन सबका प्रमाण स्पष्ट रूपसे बताया जायगा।

उसके बारहमे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भागदेनेसे जो लब्ध आवे उतने ही दूसरी पृथिवीके नारकी हैं । इस ही प्रकार दशमे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने तीसरी पृथिवीके, और आठमे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने चौथी पृथिवीके, तथा छट्ठे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने पांचमी पृथिवीके, और तीसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने छट्ठी पृथिवीके, तथा दूसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने सातमी पृथिवीके नारकी होते हैं । यह उत्कृष्ट संख्याका प्रमाण है—अर्थात् एक समयमें जादेसे जादे इतने नारकी हो सकते हैं ।

इसतरह नीचेकी छह पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण बताकर अब प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण बताते हैं ।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं रासिविहीणो दु सव्वरासी दु ।
पढमावणिह्मि रासी णेरइयाणं तु णिद्दिट्ठो ॥ १५३ ॥

अधस्तनषट्पृथ्वीनां राशिविहीनस्तु सर्वराशिस्तु ।
प्रथमावनौ राशिः नैरयिकाणां तु निर्दिष्टः ॥ १५३ ॥

अर्थ—नीचेकी छह पृथिवियोंके नारकियोंका जितना प्रमाण हो उसको सम्पूर्ण नारकराशिमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना ही प्रथम पृथ्वीके नारकियोंका प्रमाण है ।

तिर्यग्जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

संसारी पंचक्खा तप्पुण्णा तिगदिहीणया कमसो ।
सामण्णा पंचिंदी पंचिंदियपुण्णतेरिक्खा ॥ १५४ ॥

संसारिणः पञ्चाक्षास्तत्पूर्णाः त्रिगतिहीनकाः क्रमशः ।
सामान्याः पञ्चेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियपूर्णतैरश्चाः ॥ १५४ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवराशिमेंसे सिद्धराशिको घटानेपर जितना प्रमाण रहे उतना ही संसारराशिका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे नारक मनुष्य देव इन तीन राशियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना ही सामान्य तिर्यंचोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण पंचेन्द्रियोंमेंसे[1] उक्त तीन गतिके पंचेन्द्रियोंको घटानेपर जो शेष रहें उतने पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं । तथा पंचेन्द्रिय पर्याप्तकोंके[2] प्रमाणमेंसे उक्त तीन गतिके पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहें उतने ही पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव हैं ।

छस्सयजोयणकदिहिदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं ।
पुण्णूणा पंचक्खा तिरियअपज्जत्तपरिसंखा ॥ १५५ ॥

१—२ पंचेन्द्रिय और पर्याप्तकोंका प्रमाण आगे बतावेंगे ।

षट्शतयोजनकृतिहितजगत्प्रतरं योनिमतीनां परिमाणम् ।
पूर्णोनाः पंचाक्षाः तिर्यगपर्याप्तपरिसंख्या ॥ १५५ ॥

अर्थ—छहसौ योजनके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही योनिमती तिर्यंचोंका प्रमाण है। और पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमेंसे पर्याप्त तिर्यंचोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका प्रमाण है।

मनुष्योंका प्रमाण बतानेके लिये तीन गाथाओंको कहते हैं।

सेढीसूईअंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा ।
सामण्णमणुसरासी पंचमकदिघणसमा पुण्णा ॥ १५६ ॥

श्रेणी सूच्यङ्गुलादिमतृतीयपदभाजितैकोना ।
सामान्यमनुष्यराशिः पञ्चमकृतिघनसमाः पूर्णाः ॥ १५६ ॥

अर्थ—सूच्यंगुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भाग देनेसे जो शेष रहे उसमें एक और घटानेपर जो शेष रहे उतना सामान्य मनुष्य राशिका प्रमाण है। इसमेंसे द्विरूपवर्गधारामें उत्पन्न पांचमे वर्ग (वादाल) के घनप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है।

पर्याप्त मनुष्योंकी संख्याको स्पष्टरूपसे बताते हैं।

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ॥ १५७ ॥

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा भवन्ति हि मानुषपर्याप्तसंख्याङ्काः ॥ १५७ ॥

अर्थ—तकारसे लेकर सकारपर्यन्त जितने अक्षर इसगाथामें बताये हैं, उतने ही अङ्कप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या है। भावार्थ—इस गाथामें तकारादि अक्षरोंसे अङ्कोंका ग्रहण करना चाहिये; परन्तु किस अक्षरसे किस अङ्कका ग्रहण करना चाहिये इसके लिये "**कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः । स्वरञनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्** । यह गाथा उपयोगी है। अर्थात् कसे लेकर आगेके झ तकके नव अक्षरोंसे क्रमसे एक दो आदि नव अङ्क समझने चाहिये। इस ही प्रकार टसे लेकर नव अक्षरोंसे नव अङ्क, और पसे लेकर पांच अक्षरोंसे पांच अङ्क, तथा यसे लेकर आठ अक्षरोंसे आठ अङ्क, एवं सोलह स्वर और ञ न इनसे शून्य (०) समझना चाहिये। किन्तु मात्रा और ऊपरका अक्षर, इससे कोई भी अङ्क ग्रहण नहीं करना चाहिये। इस नियमके और "अङ्कोंकी विपरीत गति होती है" इस नियमके अनुसार इस गाथामें कहे हुए अक्षरोंसे पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ निकलती है

मानुषी तथा अपर्याप्त मनुष्योंकी संख्या बताते हैं ।

पज्जत्तमणुस्साणं तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं ।
सामण्णा पुण्णूणा मणुवअपज्जत्तगा होंति ॥ १५८ ॥

पर्याप्तमनुष्याणां त्रिचतुर्थो मानुषीणां परिमाणम् ।
सामान्याः पूर्णोना मानवा अपर्याप्तका भवन्ति ॥ १५८ ॥

अर्थ—पर्याप्त मनुष्योंका जितना प्रमाण है उसमें तीन चोथाई ($\frac{3}{4}$) मानुषियोंका प्रमाण है । सामान्य मनुष्यराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है ।

इसप्रकार चारों ही प्रकारके मनुष्योंकी संख्या बताकर अब देवगतिके जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

तिण्णिसयजोयणाणं बेसदछप्पण्ण अंगुलाणं च ।
कदिहिदपदरं वेंतरजोइसियाणं च परिमाणं ॥ १५९ ॥

त्रिशतयोजनानां द्विशतषट्पञ्चाशदङ्गुलानां च ।
कृतिहितप्रतरं व्यन्तरज्योतिष्काणां च परिमाणम् ॥ १५९ ॥

अर्थ—तीनसौ योजन[1]के वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना व्यन्तरदेवोंका प्रमाण है । और २५६ प्रमाणाङ्गुलोंके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ज्योतिषियोंका प्रमाण है ।

घणअङ्गुलपढमपदं तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो ।
भवणे सोहम्मदुगे देवाणं होदि परिमाणं ॥ १६० ॥

घनाङ्गुलप्रथमपदं तृतीयपदं श्रेणिसंगुणं क्रमशः ।
भवने सौधर्मद्विके देवानां भवति परिमाणम् ॥ १६० ॥

अर्थ—जगच्छ्रेणीके साथ घनाङ्गुलके प्रथम वर्गमूलका गुणा करनेसे भवनवासी, और तृतीय वर्गमूलका गुणा करनेसे सौधर्मद्विकके देवोंका प्रमाण निकलता है ।

तत्तो एगारणवसगपणचउणियमूलभाजिदा सेढी ।
पल्लासंखेज्जदिमा पत्तेयं आणदादिसुरा ॥ १६१ ॥

तत एकादशनवसप्तपञ्चचतुर्निजमूलभाजिता श्रेणी ।
पल्यासंख्यातकाः प्रत्येकमानतादिसुराः ॥ १६१ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर अपने (जगच्छ्रेणी) ग्यारहमें नवमे सातमे पांचमे चौथे वर्गमूलसे भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण देवोंका प्रमाण है । आनतादिकमें प्रत्येक कल्पके देवोंका

---

१ यह योजन प्रमाणाङ्गुलकी अपेक्षासे है ।

प्रमाण पल्यके असंख्यातमें भाग प्रमाण है । भावार्थ—ऐशान स्वर्गसे आगे सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोंका प्रामाण जगच्छ्रेणीमें जगच्छ्रेणीके ग्यारहमे वर्गमूलका भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतना ही है । इसही प्रकार जगच्छ्रेणीके नवमे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भाग देनेपर जो लब्ध आने उतना ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोंका प्रमाण है, और सातमे वर्गमूल (जगच्छ्रेणीका) का जगच्छ्रेणीमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना लान्तव कापिष्ठ स्वर्गके देवोंका प्रमाण है । पांचमे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना शुक्र महाशुक्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण है । चौथे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सतार सहस्रार स्वर्गके देवोंका प्रमाण है । आनत प्राणत आरण अच्युत नव ग्रैवेयक नव अनुदिश विजय वैजयंत जयंत अपराजित इन छव्वीस कल्पोंमेंसे प्रत्येक कल्पमें देवोंका प्रमाण पल्यके असख्यातमें भाग है ।

सर्वार्थसिद्धिके देवोंका तथा सामान्यदेवराशिका प्रमाण बताते हैं ।

तिगुणा सत्तगुणा वा सवट्ठा माणुसीपमाणादो ।
सामण्णदेवरासी जोइसियादो विसेसहिया ॥ १६२ ॥

त्रिगुणा सप्तगुणा वा सर्वार्था मानुषीप्रमाणतः ।
सामान्यदेवराशिः ज्योतिष्कतो विशेषाधिकः ॥ १६२ ॥

अर्थ—मनुष्यस्त्रियोंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सतगुना सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है । ज्योतिष्क देवोंका जितना प्रमाण है उससे कुछ अधिक सम्पूर्ण देवराशिका प्रमाण है । भावार्थ—मानुषियोंसे तिगुना और सतगुना इसतरह दो प्रकारसे जो सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण बताया है वह दो आचार्योंके मतकी अपेक्षासे है । सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंका प्रमाण बहुत अधिक है, शेष तीन जातिके देवोंका प्रमाण बहुत अल्प है इसलिये ऐसा कहा है कि सामान्यदेवराशि ज्योतिषियोंसे कुछ अधिक है ।

॥ इति गतिमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त इन्द्रियमार्गणामें इन्द्रियोंका विषय स्वरूप भेद आदिका वर्णन करनेसे प्रथम उसका निरुक्तिपूर्वक अर्थ बताते हैं ।

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदिये जाण ॥ १६३ ॥

अहमिन्द्रा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः ।
ईशते एकैकमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि जानीहि ॥ १६३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्र देवोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने २ को स्वामी मानते हैं, उसही प्रकार इन्द्रियां भी हैं । भावार्थ—इन्द्रके समान जो हो उसको इन्द्रिय कहते हैं । इसलिये जिस प्रकार नव ग्रैवेयकादिवासी देव अपने २ विषयोंमें

दूसरेकी अपेक्षा न रखनेसे अर्थात् स्वतन्त्र होनेसे अपने २ को इन्द्र मानते हैं। उस ही प्रकार स्पर्शनादिक इन्द्रियां भी अपने २ स्पर्शादिक विषयोंमें दूसरेकी (रसना आदिकी) अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र हैं। अतएव इनको इन्द्रके (अहमिन्द्रके) समान होनेसे इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियके संक्षेपसे भेद और उनका स्वरूप बताते हैं।

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।
भाविंदियं तु दव्वं देहुदयजदेहचिण्हं तु ॥ १६४ ॥

मत्यावरणक्षयोपशमोत्थविशुद्धिर्हि तज्जबोधो वा।
भावेन्द्रियं तु द्रव्यं देहोदयजदेहचिह्नं तु ॥ १६४ ॥

अर्थ—इन्द्रियके दो भेद हैं एक भावेन्द्रिय दूसरा द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा उस विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। और शरीरनामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरके चिह्नविशेषको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियकी अपेक्षासे जीवोंके भेद कहते हैं।

फासरसगंधरूवे सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं।
इगिबितिचदुपंचिंदियजीवा णियभेयभिण्णाओ ॥ १६५ ॥

स्पर्शरसगंधरूपे शब्दे ज्ञानं च चिह्नकं येषाम्।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवा निजभेदभिन्नाः ॥ १६५ ॥

अर्थ—जिन जीवोंके बाह्य चिह्न (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होनेवाला स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन विषयोंका ज्ञान हो उनको क्रमसे एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। और इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं। भावार्थ—जिन जीवोंके स्पर्शविषयक ज्ञान और उसका अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रिय मौजूद हो उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। इस ही प्रकार अपने २ अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रियके साथ २ जिन जीवोंके रसविषयक ज्ञान हो उनको द्वीन्द्रिय, और गंधविषयक ज्ञानवालोंको त्रीन्द्रिय, तथा रूपविषयक ज्ञानवालोंको चतुरिन्द्रिय, और शब्दविषयक ज्ञानवालोंको पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इन इकेन्द्रियादि जीवोंके भी अनेक अवान्तर भेद हैं। तथा आगे २ की इन्द्रियवालोंके पूर्व २ की इन्द्रिय अवश्य होती है। जैसे रसनेन्द्रियवालोंके स्पर्शनेन्द्रिय अवश्य होगी और घ्राणेन्द्रियवालोंके स्पर्शन और रसना अवश्य होगी। इत्यादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त ऐसा ही समझना।

इसप्रकार एकेन्द्रियादि जीवोंके इन्द्रियोंके विषयकी वृद्धिका क्रम बताकर अब इन्द्रियवृद्धिका क्रम बताते हैं ।

एइंदियस्स फुसणं एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं ।
होंति कमउड्ढियाइं जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं ॥ १६६ ॥

एकेन्द्रियस्य स्पर्शनमेकमपि च भवति शेषजीवानाम् ।
भवन्ति क्रमवर्द्धितानि जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्राणि ॥ १६६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है । शेष जीवोंके क्रमसे जिह्वा घ्राण चक्षु और श्रोत्र बढ़ जाते हैं । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रियके स्पर्शन रसना (जिह्वा), त्रीन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण (नासिका), चतुरिन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु, और पंचेन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र होते हैं ।

स्पर्शनादिक इन्द्रियां कितनी दूर तक रक्खे हुए अपने विषयका ज्ञान कर सकती हैं यह बतानेके लिये तीन गाथाओंमें इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं ।

धणुवीसडदसयकदी जोयणछादालहीणतिसहस्सा ।
अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णित्ति ॥ १६७ ॥

धनुर्विंशत्यष्टदशककृतिः योजनपट्चत्वारिंशद्धीनत्रिसहस्राणि ।
अष्टसहस्रं धनुषां विषया द्विगुणा असंज्ञीति ॥ १६७ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घ्राण इनका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र क्रमसे चारसौ धनुष चौसठ धनुष सौ धनुष प्रमाण है । चक्षुका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दो हजार नवसौ चौअन योजन है । और श्रोत्रेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र आठ हजार धनुष प्रमाण है । और आगे असंज्ञिपर्यन्त दूना दूना विषय बढ़ता गया है । भावार्थ—एकेन्द्रियके स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चारसौ धनुष है । और द्वीन्द्रियादिकके वह दूना २ होता गया है । अर्थात् द्वीन्द्रियके आठसौ त्रीन्द्रियके सोलहसौ चतुरिन्द्रियके बत्तीससौ असंज्ञीपंचेन्द्रियके चौंसठसौ धनुष स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है । द्वीन्द्रियके रसनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चौंसठ धनुष है और वह भी त्रीन्द्रियादिकके स्पर्शनेन्द्रियके विषयक्षेत्रकी तरह दूना २ होता गया है । इस ही प्रकार घ्राण चक्षु और श्रोत्रका विषयक्षेत्र भी समझना ।

संज्ञी जीवकी इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं ।

सण्णिस्स बार सोदे तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स ।
सत्तेतालसहस्सा बेसदतेसट्ठिमदिरेया ॥ १६८ ॥

संज्ञिनो द्वादश श्रोत्रे त्रयाणां नव योजनानि चक्षुषः ।
सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशतत्रिषष्ठ्यतिरेकाणि ॥ १६८ ॥

अर्थ—संज्ञी जीवके स्पर्शन रसन घ्राण इन तीनमें प्रत्येकका विषय क्षेत्र नव २ योजन है। और श्रोत्रेन्द्रियका बारह योजन, तथा चक्षुका सेंतालीस हजार दोसौ त्रेसठसे कुछ अधिक उत्कृष्ट विषयक्षेत्र है।

चक्षुके उत्कृष्ट विषयक्षेत्रकी उपपत्तिको बताते हैं।

तिण्णिसयसट्ठिविरहिदलक्खं दसमूलताडिदे मूलम्।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ॥ १६९ ॥

त्रिशतषष्टिविरहितलक्षं दशमूलताडिते मूलम्।
नवगुणिते षष्टिहिते चक्षुःस्पर्शस्य अध्वा ॥ १६९ ॥

अर्थ—तीनसौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीपके विस्कम्भका वर्ग करना और उसका दशगुणा करके वर्गमूल निकालना, इससे जो राशि उत्पन्न हो उसमें नवका गुणा और साठका भाग देनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र निकलता है। भावार्थ—सूर्यका चारक्षेत्र पांचसौ बारह योजन चौड़ा है। उसमें तीनसौ वत्तीस योजन तो लवणसमुद्रमें हैं और शेष एकसौ अस्सी योजन जम्बूद्वीपमें हैं। इस लिये जम्बूद्वीपके दोनों भागके तीनसौ साठ योजन क्षेत्रको छोड़कर वाकी निन्यानवे हजार छहसौ चालीस योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विष्कम्भकी परिधि करणसूत्रके[1] अनुसार तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन होती है। इस अभ्यन्तर परिधिको एक सूर्य अपने भ्रमणके द्वारा साठ मुहूर्तमें समाप्त करता है। और निषधगिरिके एक भागसे दूसरे भाग तककी अभ्यन्तर वीथीको अठारह मुहूर्तमें अपने भ्रमण द्वारा समाप्त करता है। इसके विलकुल वीचमें अयोध्या नगरी पड़ती है। इस अयोध्या नगरीके वीचमें वने हुए अपने महलके ऊपरले भागपरसे भरतादि चक्रवर्ती निषिधगिरिके ऊपर अभ्यन्तर वीथीमें उदय होते हुए सूर्यके भीतरकी जिन प्रतिविम्बका दर्शन करते हैं। और निषधगिरिके उस उदयस्थानसे अयोध्या पर्यन्त उक्तरीतिके अनुसार सूर्यको भ्रमण करनेमें नव मुहूर्त लगते हैं। इसलिये साठ मुहूर्तमें इतने क्षेत्रपर भ्रमण करै तो नव मुहूर्तमें कितने क्षेत्रपर भ्रमण करै? इसप्रकार त्रैराशिक करनेसे अर्थात् फलराशि (परिधिका[2] प्रमाण) और इच्छाराशिका (नव) गुणा कर उसमें प्रमाणराशि साठका भागदेनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र सेतालीस हजार दोसौ त्रेसठसे कुछ अधिक[3] निकलता है। अर्थात् ज्यादेसे ज्यादे इतनी दूर तकका पदार्थ चक्षुकेद्वारा जाना जा सकता है।

---

१ "विक्कम्भवग्गदहगुणकरिणी वट्टस्स परिरहो होदि" अर्थात् विष्कम्भका जितना प्रमाण है उसका वर्गकर दशगुणा करना पीछे उसका वर्गमूल निकालना ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतना ही वृत्तक्षेत्रकी परिधिका प्रमाण होता है। २ तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन। ३ सातयोजनके वीस भोगोंमेंसे एक भाग।

इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताकर अब उनका आकार बताते हैं ।

चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली ।
अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥ १७० ॥

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिव्हाकारं मसूरयवनाल्य–।
तिमुक्तक्षुरप्रसमं स्पर्शनं तु अनेकसंस्थानम् ॥ १७० ॥

अर्थ—मसूरके समान चक्षुका जवकी नलीके समान श्रोत्रका तिलके फूलके समान घ्राणका तथा खुरपाके समान जिव्हाका आकार है। और स्पर्शनेन्द्रियके अनेक आकार हैं।

इन्द्रियोंके (द्रव्येन्द्रियोंके[1]) आकारमें जो आत्माके प्रदेश हैं उनका अवगाहन प्रमाण बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागं संखेज्जगुणं तदो विसेसहियं ।
तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु ॥ १७१ ॥

अङ्गुलासंख्यभागं संख्यातगुणं ततो विशेषाधिकम् ।
ततोऽसंख्यगुणितमङ्गुलसंख्यातं तत्तु ॥ १७१ ॥

अर्थ—आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रियका अवगाहन घनाङ्गुलके असंख्यातमे भाग-प्रमाण है। और इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रियका अवगाहन है। श्रोत्रेन्द्रियका जितना प्रमाण है उससे पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक घ्राणेन्द्रियका अवगाहन है। घ्राणेन्द्रियके अवगाहसे पल्यके असंख्यातमे भाग गुणा रसनेन्द्रियका अवगाहन है। परन्तु सामान्यकी अपेक्षा गुणाकार और भागहारका अपवर्तन करनेसे उक्त चारों ही इन्द्रियोंका अवगाहन प्रमाण घनाङ्गुलके संख्यातमे भागमात्र है।

स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेशोंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयह्मि ।
अङ्गुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ १७२ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अङ्गुलासंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ १७२ ॥

अर्थ—स्पर्शनेन्द्रियकी जघन्य अवगाहना घनाङ्गुलके असंख्यातमे भाग प्रमाण है। और यह अवगाहना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें होती है। उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यके होती है इसका प्रमाण संख्यातघनाङ्गुल है।

---

१ द्रव्येन्द्रियके दो भेद हैं, निर्वृति और उपकरण। निर्वृतिके भी दो भेद हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर। यहांपर आभ्यन्तर निर्वृतिरूप द्रव्येन्द्रियका प्रमाण बताते हैं।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञानवाले संसारी जीवोंका वर्णन करके अतीन्द्रियज्ञानवालोंका निरूपण करते हैं ।

णवि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे ।
णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंतणाणसुहा ॥ १७३ ॥

नापि इन्द्रियकरणयुता अवग्रहादिभिः ग्राहका अर्थे ।
नैव च इन्द्रियसौख्या अनिन्द्रियानन्तज्ञानसुखाः ॥ १७३ ॥

अर्थ—वे मुक्त जीव इन्द्रियोंकी क्रियासे युक्त नहीं हैं । तथा अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थका ग्रहण नहीं करते । और इन्द्रियजन्य सुखसे भी युक्त नहीं हैं; क्योंकि उन मुक्त जीवोंका अनन्तज्ञान और अनन्तसुख अनिन्द्रिय है । भावार्थ—मुक्तजीवोंका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह निरावरण है जो सावरण होता है उसको दूसरेकी अपेक्षा होती है । और जो स्वयं अपने कार्यके करनेमें समर्थ है उसको दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । इस ही लिये वे मुक्त जीव इन्द्रियव्यापारसे रहित हैं । और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको अनन्तज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष जानते हैं, अवग्रह ईहा अवाय धारणा स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा नहीं जानते । और उनके इन्द्रियजन्य सुख भी नहीं है । क्योंकि उसके कारणभूत प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव होचुका है ।

संक्षेपसे एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

थावरसंखपिपीलियभमरमणुस्सादिगा सभेदा जे ।
जुगवारमसंखेज्जाणंताणंता णिगोदभवा ॥ १७४ ॥

स्थावरशङ्खपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिकाः सभेदा ये ।
युगवारमसंख्येया अनन्तानन्ता निगोदभवाः ॥ १७४ ॥

अर्थ—स्थावर एकेन्द्रिय जीव, शङ्ख आदिक द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय, मनुष्यादिक पंचेन्द्रिय जीव अपने २ अन्तर्भेदोंसे युक्त असंख्यातासंख्यात हैं । और निगोदिया जीव अनन्तानन्त हैं । भावार्थ—त्रस प्रत्येक वनस्पति पृथिवी जल अग्नि वायु इनको छोड़कर वाकी संसारी जीवोंका (साधारण जीवोंका) प्रमाण अनन्तानन्त है । और साधारणको छोड़कर वाकी एकेन्द्रिय स्थावर तथा द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इनमें प्रत्येकका प्रमाण जगत्प्रतरके असंख्यातमे भागमात्र असंख्यातासंख्यात है ।

तसहीणो संसारी एयक्खा ताण संखगा भागा ।
पुण्णाणं परिमाणं संखेज्जदिमं अपुण्णाणं ॥ १७५ ॥

त्रसहीनाः संसारिण एकाक्षास्तेषां संख्यका भागाः ।
पूर्णानां परिमाणं संख्येयकमपूर्णानाम् ॥ १७५ ॥

अर्थ—संसारराशिमेंसे त्रसराशिको घटानेपर जितना शेष रहे उतने ही एकेन्द्रिय जीव हैं । और एकेन्द्रियजीवोंकी राशिमें संख्यातका भाग देना उसमें एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और शेष बहुभागप्रमाण पर्याप्तक जीव हैं ।

बादरसुहमा तेसिं पुण्णापुण्णेत्ति छविहाणंपि ।
तक्कायमग्गणाये भणिज्जमाणक्कमो णेयो ॥ १७६ ॥

बादरसूक्ष्मास्तेषां पूर्णापूर्ण इति षड्विधानामपि ।
तत्कायमार्गणायां भणिष्यमाणक्रमो ज्ञेयः ॥ १७६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियजीवोंके सामान्यसे दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म । इसमें भी प्रत्येकके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो २ भेद हैं । इस प्रकार एकेन्द्रियोंकी छह राशियोंकी संख्याका क्रम कायमार्गणामें कहेंगे वहांसे ही समझलेना । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंकी छह राशियोंका प्रमाण कायमार्गणामें विशेषरूपसे कहेंगे ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंकी संख्याको सामान्यसे बताकर अब त्रसजीवोंकी संख्याको तीन गाथाओंमें बताते हैं ।

बितिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं ।
हीणकमं पडिभागो आवलियासंखभागो दु ॥ १७७ ॥

द्वित्रिचतुःपञ्चमानमसंख्येनावहितप्रतराङ्गुलेन हितप्रतरम् ।
हीनक्रमं प्रतिभाग आवलिकासंख्यभागस्तु ॥ १७७ ॥

अर्थ—प्रतराङ्गुलके असंख्यातमें भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सामान्यसे त्रसराशिका प्रमाण है । परन्तु पूर्व २ द्वीन्द्रियादिककी अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिकका प्रमाण क्रमसे हीन २ है । और इसका प्रतिभागहार आवलिका असंख्यातमा भाग है ।

इस उक्त त्रसराशिके प्रमाणको स्पष्टरूपसे विभक्त करते हैं ।

बहुभागे समभागो चउण्णमेदेसिमेकभागह्मि ।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १७८ ॥

बहुभागे समभागश्चतुर्णामेतेषामेकभागे ।
उक्तक्रमस्तत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ॥ १७८ ॥

अर्थ—त्रसराशिमें आवलिके असंख्यातमे भागका भाग देकर लब्ध बहुभागके समान चार भाग करना । और एक २ भागको द्वीन्द्रियादि चारोहीमें विभक्त कर, शेष एक भागमें

फिरसे आवलिके असंख्यातमे भागका भाग देना चाहिये, और लब्ध बहुभागको बहुतसंख्यावालेको देना चाहिये। इस प्रकार अन्तपर्यन्त करना चाहिये। भावार्थ—कल्पना कीजिये कि त्रसराशिका प्रमाण दोसौ छप्पन है। और प्रतिभागहाररूप आवलीके असंख्यातमे भागका प्रमाण ४ चार है। इसलिये दोसौ छप्पनमें चारका भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं। इस ६४ के एक भागको अलग रखदेने पर बहुभागका प्रमाण एकसौ बानवे बाकी रहता है। इस बहुभागके अड़तालीस २ के समान चार भाग करके द्वीन्द्रियादि चारोंको विभक्त करना चाहिये। और शेष चौसठमें फिर चारका भाग देना चाहिये। इससे लब्ध सोलहके एक भागको अलग रखकर बाकी अड़तालीसके बहुभागको बहुतसंख्यावाले द्वीन्द्रियको देना चाहिये। और शेष सोलहके एकभागमें फिर चारका भाग देनेसे लब्ध बारहके बहुभागको क्रमप्राप्त त्रीन्द्रियको देना चाहिये। और शेष चारके एक भागमें फिर चारका भाग देनेसे लब्ध तीनके बहुभागको चतुरिन्द्रियको देना चाहिये। और शेष एक पंचेन्द्रियको देना चाहिये। इस प्रकार त्रसोंकी २५६ राशिमेंसे द्वीन्द्रियोंका प्रमाण ९६, त्रीन्द्रियोंका प्रमाण ६०, चतुरिन्द्रियोंका प्रमाण ५१, और पंचेन्द्रियोंका प्रमाण ४९ हुआ। जिसप्रकार अंकसंदृष्टिमें यह प्रमाण बताया है उसही प्रकार अर्थसंदृष्टिमें भी समझना; परन्तु अङ्कसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझना चाहिये।

त्रसोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका प्रमाण बताते हैं।

तिबिपचपुण्णपमाणं पदरंगुलसंखभागहिदपदरं।
हीणकमं पुण्णूणा बितिचपजीवा अपज्जत्ता॥ १७९॥

त्रिद्विपञ्चचतुःपूर्णप्रमाणं प्रतराङ्गुलसंख्यभागहितप्रतरम्।
हीनक्रमं पूर्णोना द्वित्रिचतुःपंचजीवा अपर्याप्ताः॥ १७९॥

अर्थ—प्रतराङ्गुलके संख्यातमे भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही त्रीन्द्रिय द्वीन्द्रिय पंचेन्द्रिय चतुरिन्द्रियमें प्रत्येक पर्याप्तकका प्रमाण है। परन्तु यह प्रमाण "बहुभागे समभागो" इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार उत्तरोत्तर हीन २ है। अपनी २ समस्तराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंका प्रमाण निकलता है।

इति इन्द्रियमार्गणाधिकारः समाप्तः॥

कायमार्गणाका वर्णन क्रमसे प्राप्त है। अतः उसकी आदिमें कायका लक्षण और उसके भेदोंको बताते हैं।

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ।
सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेयो॥ १८०॥

जात्यविनाभावित्रसस्थावरोदयजो भवेत् कायः ।
स जिनमते भणितः पृथ्वीकायादिषड्भेदः ॥ १८० ॥

अर्थ—जातिनामकर्मके अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी पर्यायको जिनमतमें काय कहते हैं । इसके छह भेद हैं, पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और त्रस ।

पांच स्थावरोंमेंसे वनस्पतिको छोड़कर बाकी पृथिवी आदि चार स्थावरोंकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं ।

पुढवीआऊतेऊवाऊकम्मोदयेण तत्थेव ।
णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा ॥ १८१ ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुकर्मोदयेन तत्रैव ।
निजवर्णचतुष्कयुतस्तेषां देहो भवेन्नियमात् ॥ १८१ ॥

अर्थ—पृथिवी अप् (जल) तेज (अग्नि) वायु इनका शरीर, नियमसे अपने २ पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे, अपने २ योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदिकमें ही बनता है । भावार्थ—पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे पृथिवीकायिकादि जीवोंके अपने २ योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदि पुद्गलस्कन्ध ही शरीररूप परिणत होजाते हैं ।

शरीरके भेद और उनके लक्षण बताते हैं ।

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा ।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ॥ १८२ ॥

बादरसूक्ष्मोदयेन च बादरसूक्ष्मा भवन्ति तद्देहाः ।
घातशरीरं स्थूलमघातदेहं भवेत् सूक्ष्मम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—बादर नामकर्मके उदयसे बादर और सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म शरीर होता है । जो शरीर दूसरेको रोकनेवाला हो अथवा जो दूसरेसे रुके उसको बादर (स्थूल) कहते हैं । और जो दूसरेको न तो रोके और न स्वयं दूसरेसे रुके उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं ।

शरीरका प्रमाण बताते हैं ।

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स बिंदमाणं तु ।
आधारे थूला ओ[1] सवत्थ णिरंतरा सुहुमा ॥ १८३ ॥

तद्देहमङ्गुलस्यासंख्यभागस्य वृन्दमानं तु ।
आधारे स्थूलाः ओ सर्वत्र निरन्तराः सूक्ष्माः ॥ १८३ ॥

---

१ इस गाथामें " ओ " शिष्यसम्बोधनके लिये आया है ।

अर्थ—बादर और सूक्ष्म दोनो ही तरहके शरीरोंका प्रमाण घनाङ्गुके असंख्यातमे भागप्रमाण है। इनमें से स्थूल शरीर आधारकी अपेक्षा रखता है; किन्तु सूक्ष्म शरीर विना व्यवधानके सब जगह अनन्तानन्त भरे हुए हैं।

वनस्पतिकायका स्वरूप और भेद बताते हैं।

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं॥ १८४॥

उदये तु वनस्पतिकर्मणश्च जीवा वनस्पतयो भवन्ति।
प्रत्येकं सामान्यं प्रतिष्ठितेतरे इति प्रत्येकम्॥ १८४॥

अर्थ—वनस्पति नामकर्मके उदयसे जीव वनस्पतिकायिक होते हैं। उनके दो भेद हैं, एक प्रत्येक दूसरा साधारण। प्रत्येकके भी दो भेद हैं, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। भावार्थ—प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिसके एक शरीरका एक जीव मालिक हो। जहांपर अनेक जीव समानरूपसे रहें उसको साधारण शरीर कहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं। एक प्रतिष्ठित दूसरी अप्रतिष्ठित। प्रतिष्ठित प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिस एक शरीरमें एक जीवके मुख्यरूपसे रहनेपर भी उस जीवके आश्रय से अनेक निगोदिया जीव रहें। और जहांपर एक मुख्य जीवके आश्रयसे अनेक निगोदिया जीव नहीं रहते उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य॥ १८५॥

मूलाग्रपर्वबीजाः कन्दास्तथा स्कन्धबीजबीजरुहाः।
सम्मूर्च्छिमाश्च भणिताः प्रत्येकानंतकायाश्च॥ १८५॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंका बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द, अथवा स्कन्ध है, अथवा जो बीजसे ही उत्पन्न होजाती हैं, यद्वा सम्मूर्छन हैं, वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनो प्रकार की होती हैं। भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकारकी होती हैं। कोई तो मूलसे उत्पन्न होती हैं, जैसे अदरख हल्दी आदि। कोई अग्रसे उत्पन्न होती हैं जैसे गुलाब। कोई पर्वसे (पंगोली) उत्पन्न होती हैं, जैसे ईख वेंत आदि। कोई कन्दसे उत्पन्न होती हैं, जैसे सूरण आदि। कोई स्कन्धसे उत्पन्न होती हैं, जैसे ढाक। कोई अपने २ बीजसे उत्पन्न होती हैं, जैसे गेहूं चना आदि। कोई मट्टी जल आदिके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होजाती हैं, जैसे घास आदि। परन्तु ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकारकी होती हैं।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकी पहचान (परीक्षा–चिन्ह) बताते हैं ।

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ १८६ ॥

गूढशिरासन्धिपर्व समभङ्गमहीरुकं च छिन्नरुहम् ।
साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—जिनकी शिरा संधि पर्व अप्रकट हों, और जिसका भङ्ग करनेपर समान भंग हों, और दोनों भङ्गोमें परस्पर तन्तु न लगा रहै, तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि होजाय उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक, और इससे विपरीतको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे ।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८७ ॥

मूले कन्दे त्वक्प्रवालशालादलकुसुमफलबीजे ।
समभङ्गे सति नान्ता असमे सति भवन्ति प्रत्येकाः ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंके मूल कन्द त्वचा प्रवाल (नवीन कोंपल) क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र फूल फल तथा बीजोंको तोड़नेसे समान भङ्ग हो उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं । और जिनका भङ्ग समान न हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वावि बहुलतरी ।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८ ॥

कन्दस्य वा मूलस्य वा शालास्कन्धस्य वापि बहुलतरा ।
त्वक् सा अनन्तजीवा प्रत्येकजीवा तु तनुकतरा ॥ १८८ ॥

अर्थ—जिस वनस्पतिके कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्धकी छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं । और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा ।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥ १८९ ॥

बीजे योनीभूते जीवः चङ्क्रामति स वा अन्यो वा ।
येपि च मूलादिकास्ते प्रत्येकाः प्रथमतायाम् ॥ १८९ ॥

अर्थ—जिस योनीभूत बीजमें वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूलादिक प्रथम अवस्थामें अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं । भावार्थ—वे बीज जिनकी कि

अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है, और जिनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो जो पहले उसमें था, या कोई दूसरा जीव कहीं अन्यत्रसे मरण करके आकर उत्पन्न हो, और मूल कन्द आदि जिनको कि पहले सप्रतिष्ठित कहा है वे भी अपनी उत्पत्तिके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारकी वनस्पतियोंमेंसे प्रत्येकका वर्णन करके अब साधारणका वर्णन करते हैं।

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहमात्ति विण्णेया॥ १९०॥

साधारणोदयेन निगोदशरीरा भवन्ति सामान्याः।
ते पुनर्द्विविधा जीवा बादरसूक्ष्मा इति विज्ञेयाः॥ १९०॥

अर्थ—जिन जीवोंका शरीर साधारण नामकर्मके उदयसे निगोदरूप होजाता है उनही को सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं, एक बादर दूसरा सूक्ष्म। भावार्थ—साधारण नामकर्मके उदयसे इस प्रकारका जीवोंका शरीर होता है कि जो अनन्तानन्त जीवोंको आश्रय दे सकें। इस सरीरमें एक मुख्य जीव नहीं रहता; किन्तु अनन्तानन्त जीव समानरूपसे रहते हैं। अत एव इनका नाम सामान्य या साधारण जीव है। इनके दो भेद हैं, एक बादर दूसरा सूक्ष्म।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥ १९१॥

साधारणमाहारः साधारणमानापानग्रहणं च।
साधारणजीवानां साधारणलक्षणं भणितम्॥ १९१॥

अर्थ—इनका (साधारण जीवोंका) साधारण (समान) ही तो आहार होता है, और साधारण ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है। साधारण जीवोंका लक्षण साधारण ही परमागममें कहा है। भावार्थ—साथ ही उत्पन्न होनेवाले जिन अनन्तानन्त (साधारण) जीवोंकी आहारादिक पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश और समान कालमें होते हों उनको साधारण कहते हैं।

जत्थेक्कमरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं॥ १९२॥

यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र तु मरणं भवेत् अनन्तानाम्।
प्रक्रामति यत्र एकः प्रक्रमणं तत्रानन्तानाम्॥ १९२॥

अर्थ—साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहांपर अनन्त जीवोंका

मरण होता है । और जहांपर एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है । भावार्थ—साधारण जीवोंमें उत्पत्ति और मरणकी अपेक्षा भी सादृश्य है । प्रथम समयमें उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंकी तरह द्वितीयादि समयोंमें भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंका जन्म मरण साथ ही होता है । यहां इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीरमें या सूक्ष्म निगोद शरीरमें साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक ही होते हैं । किन्तु मिश्ररूप नहीं होते; क्योंकि उनके समान कर्मोदयका नियम है ।

बादर निगोदिया जीवोंकी संख्या बतानेको दो गाथा कहते हैं ।

खंधा असंखलोगा अंडरआवासपुलविदेहा वि ।
हेट्ठिल्लजोणिगाओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ १९३ ॥

स्कन्धा असंख्यलोका अंडरावासपुलविदेहा अपि ।
अधस्तनयोनिका असंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ॥ १९३ ॥

अर्थ—स्कन्धोंका[1] प्रमाण असंख्यातलोकप्रमाण है । और अंडर आवास पुलवि तथा देह ये क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातलोक २ गुणित हैं । भावार्थ—अपने योग्य असंख्यातका लोकके समस्त प्रदेशोंसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उतना समस्त स्कन्धोंका प्रमाण है । और एक एक स्कन्धमें असंख्यातलोक प्रमाण अंडर हैं, एक २ अंडरमें असंख्यातलोक प्रमाण आवास हैं, एक २ आवसमें असंख्यातलोक प्रमाण पुलवि हैं, एक २ पुलविमें असंख्यातलोकप्रमाण बादर निगोदिया जीवोंके शरीर हैं । इस लिये जब एक स्कन्धमें असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं तब समस्त स्कन्धोंमें कितने अंडर होंगे ? इस प्रकार इनका त्रैराशिक करनेसे अंडर आवास पुलवि तथा देह इनका उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यातलोक असंख्यातलोक गुणा प्रमाण निकलता है ।

इसका दृष्टान्त बताते हैं ।

जम्बूदीवं भरहो कोसलसागेदतग्घराइं वा ।
खंधंडरआवासापुलविशरीराणि दिट्ठंता ॥ १९४ ॥

जम्बूद्वीपो भरतः कोशलसाकेततद्गृहाणि वा ।
स्कन्धाण्डरावासाः पुलविशरीराणि दृष्टान्ताः ॥ १९४ ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र कोशलदेश साकेतनगरी (अयोध्या) और साकेत नगरीके घर ये क्रमसे स्कन्ध अंडर आवास पुलवि और देहके दृष्टान्त हैं । भावार्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप आदिक एक २ द्वीपमें भरतादिक अनेक क्षेत्र, एक २ भरतादि क्षेत्रमें

१ स्कन्ध अंडर आवास आदि प्रत्येकजीवोंके शरीरविशेष हैं ।

कोशल आदि अनेक देश, एक २ देशमें अयोध्या आदि अनेक नगरी, और एक २ नगरीमें अनेक घर होते हैं। उस ही प्रकार एक २ स्कन्धमें असंख्यातलोक २ प्रमाण अंडर, एक २ अंडरमें असंख्यातलोक २ प्रमाण आवास, एक २ आवासमें असंख्यातलोक २ प्रमाण पुलवि, और एक २ पुलविमें असंख्यातलोक २ प्रमाण बादर निगोदियाजीवोंके शरीर होते हैं।

एक निगोदशरीरमें द्रव्यकी अपेक्षा जीवोंका प्रमाण बताते हैं।

एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥ १९५॥

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः।
सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन॥ १९५॥

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और सम्पूर्ण अतीतकालके समयोंसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीरमें रहते हैं।

नित्यनिगोदका लक्षण कहते हैं।

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलङ्कसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति॥ १९६॥

सन्ति अनन्ता जीवा यैर्न प्राप्तः त्रसानां परिणामः।
भावकलङ्कसुप्रचुरा निगोदवासं न मुञ्चन्ति॥ १९६॥

अर्थ—ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसोंकी पर्याय अभीतक कभी नहीं पाई है, और जो निगोद अवस्थामें होनेवाले दुर्लेश्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहनेके कारण निगोदस्थानको कभी नहीं छोड़ते। भावार्थ—निगोदके दो भेद हैं, एक इतरनिगोद दूसरा नित्यनिगोद। जिसने कभी त्रस पर्यायको प्राप्त करलिया हो उसको इतरनिगोद कहते हैं। और जिसने अभीतक कभी त्रसपर्यायको नहीं पाया, अथवा जो कभी त्रस पर्यायको नहीं पावेगा, उसको नित्यनिगोद कहते हैं। क्योंकि नित्यशब्दके दो अर्थ होते हैं, एक तो अनादि दूसरा अनादि अनन्त। इन दोनों ही प्रकारके जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है।

दो गाथाओंमें त्रस जीवोंका स्वरूप भेद और उनका क्षेत्र आदि बताते हैं।

बिहि तिहि चदुहिं पंचहि सहिया जे इंदिएहिं लोयम्हि।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोवदेसेण॥ १९७॥

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिः सहिता ये इन्द्रियैर्लोके।
ते त्रसकाया जीवा ज्ञेया वीरोपदेशेन॥ १९७॥

अर्थ—जो जीव दो तीन चार पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उनको वीर भगवान्‌के उपदेशसे त्रस काय समझना चाहिये। भावार्थ—पूर्वोक्त स्पर्शनादिक पांच इन्द्रियोंमें से आदिकी दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंसे जो युक्त है उसको त्रस कहते हैं। अत एव इन्द्रियोंकी अपेक्षा त्रसोंके चार भेद हुए—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

उववादमारणंतियपरिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा।
तसणालिबाहिरह्मि य णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ १९८ ॥

उपपादमारणान्तिकपरिणतत्रसमुज्झित्वा शेषत्रसाः।
त्रसनालीबाह्ये च न सन्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—उपपाद और मारणान्तिक समुद्धातवाले त्रस जीवोंको छोड़कर बाकीके त्रस जीव त्रसनालीके बाहर नहीं होते यह जिनेन्द्रदेवने कहा है। भावार्थ—किसी विवक्षित भवके प्रथम समयकी पर्यायको उपपाद कहते हैं। अपनी आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जो समुद्धात होता है उसको मारणान्तिक समुद्धात कहते हैं। लोकके बिलकुल मध्यमें एक २ राजू चौड़ी और मोटी तथा चौदह राजू ऊंची नाली है—उसको त्रसनाली कहते हैं; क्योंकि त्रस जीव इसके भीतर ही होते हैं—बाहर नहीं होते। किन्तु उपपाद और मारणान्तिक समुद्धातवाले त्रस, तथा इस गाथामें च शब्दका ग्रहण किया है इसलिये केवल-समुद्धातवाले भी त्रसनालीके बाहर कदाचित् रहते हैं। वह इस प्रकारसे कि लोकके अन्तिम वातवलयमें स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगतिद्वारा त्रसनालिमें त्रसपर्यायसे उत्पन्न होनेवाला है, वह जीव जिस समयमें मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है उस समयमें त्रसपर्यायको धारण करने पर भी त्रसनालीके बाहर है। इस लिये उपपादकी अपेक्षा त्रस जीव त्रसनालीके बाहर रहता है। इसही प्रकार त्रसनालीमें स्थित किसी त्रसने मारणान्तिक समुद्धातके द्वारा त्रसनालीके बाहिरके प्रदेशोंका स्पर्श किया; क्योंकि उसको मरण करके वहीं उत्पन्न होना है, तो उस समयमें भी त्रस जीवका अस्तित्व त्रसनालीके बाहिर पाया जाता है। इस ही तरह जब केवली केवलसमुद्धातके द्वारा त्रसनालीके बाह्य प्रदेशोंका स्पर्श करते हैं उस समयमें भी त्रसनालीके बाहर त्रस जीवका सद्भाव पाया जाता है। परन्तु इन तीनको छोड़कर बाकी त्रस जीव त्रसनालीके बाहर कभी नहीं रहते।

जिस तरह वनस्पतियोंमें प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित भेद हैं उस ही तरह दूसरे जीवों में भी ये भेद होते हैं यह बताते हैं।

पुढवीआदिचउण्हं केवलिआहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥ १९९ ॥

पृथिव्यादिचतुर्णां केवल्याहारदेवनिरयाङ्गानि।
अप्रतिष्ठितानि निगोदैः प्रतिष्ठिताङ्गा भवन्ति शेषाः ॥ १९९ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुकायके जीवोंका शरीर तथा केवलिशरीर आहार-शरीर और देवनारकियोंका शरीर निगोदिया जीवोंसे अप्रतिष्ठित है। और शेष वनस्पतिकायके जीवोंका शरीर तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योंका शरीर निगोदिया जीवोंसे प्रतिष्ठित है।

स्थावरकायिक और त्रसकायिक जीवोंका आकार बताते हैं।

मसुरंबुबिंदुसूईकलावधयसण्णिहो हवे देहो।
पुढवीआदिचउण्हं तरुतसकाया अणेयविहा ॥ २०० ॥

मसूराम्बुबिन्दुसूचीकलापध्वजसन्निभो भवेद्देहः।
पृथिव्यादिचतुर्णां तरुत्रसकाया अनेकविधाः ॥ २०० ॥

अर्थ—मसूर (अन्नविशेष), जलकी बिन्दु, सुइयोंका समूह, ध्वजा, इनके सदृश क्रमसे पृथिवी अप् तेज वायुकायिक जीवोंका शरीर होता है। और वृक्ष तथा त्रसोंका शरीर अनेक प्रकारका होता है। भावार्थ—जिस तरहका मसूरादिकका आकार है उस ही तरहका पृथ्वीकायिकादिकका शरीर होता है; किन्तु वृक्ष और त्रसोंका शरीर एक प्रकारका नहीं; किन्तु अनेक आकारका होता है।

इस प्रकार कायमार्गणाका निरूपण करके, अब कायविशिष्ट यह संसारी जीव कायके द्वारा ही कर्मभारका वहन करता है यह दृष्टान्तद्वारा बताते हैं।

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावलियं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावलियं ॥ २०१ ॥

यथा भारवहः पुरुषो वहति भारं गृहीत्वा कावटिकाम्।
एवमेव वहति जीवः कर्म्मभरं कायकावटिकाम् ॥ २०१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावटिकाके[2] द्वारा भारका वहन करता है, उस ही प्रकार यह जीव कायरूपी कावटिकाके द्वारा कर्मभारका वहन करता है। भावार्थ—जिस प्रकार मजूर कावटिकाके द्वारा निरन्तर बोझा ढोता है, और उससे रहित होनेपर सुखी होता है, उस ही प्रकार यह संसारी जीव कायके द्वारा कर्मरूपी बोझाको नाना गतियोंमें लिये फिरता है; किन्तु इस काय और कर्मके अभावमें परम सुखी होता है।

कायमार्गणासे रहित सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं।

जह कंचणमग्गिगयं मुंचइ किट्टेण कालियाए य।
तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोगेण ॥ २०२ ॥

१ अर्थात् इतने जीवोंके शरीरके आश्रय निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। २ बहँगी—कावड़ी।

यथा कंचनमग्निगतं मुच्यते किट्टेन कालिकया च ।
तथा कायबन्धमुक्ता अकायिका ध्यानयोगेन ॥ २०२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निके द्वारा सुसंस्कृत सुवर्ण बाह्य और अभ्यन्तर दोनो ही प्रकारके मलसे रहित होजाता है। उस ही प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव शरीर और कर्मबन्धसे रहित होकर सिद्ध होजाता है। भावार्थ—जिस प्रकार सोलह तावके द्वारा तपाये हुए सुवर्णमें बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके मलका बिलकुल अभाव होजानेपर फिर किसी दूसरे मलका सम्बन्ध नहीं होता। उस ही प्रकार शुक्लध्यान आदिरूपी अग्निके द्वारा सुतप्त आत्मामें काय और कर्मके सम्बन्धके सर्वथा छूटने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता।

ग्यारह गाथाओंमें पृथिवी कायिकादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं।

आउट्ठरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ ।
भूजलवाऊ अहिया पडिभागोऽसंखलोगो दु ॥ २०३ ॥

सार्धत्रयराशिवारं लोके अन्योन्यसंगुणे तेजः ।
भूजलवायवः अधिकाः प्रतिभागोऽसंख्यलोकस्तु ॥ २०३ ॥

अर्थ—शलाकात्रयनिष्ठापनकी विधिसे लोकका साढ़े तीन वार परस्पर गुणा करनेसे तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है। पृथिवी जल वायुकायिक जीवोंका उत्तरोत्तर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अधिक २ प्रमाण है। इस अधिकताके प्रतिभागहारका प्रमाण असंख्यातलोक है। भावार्थ—लोकप्रमाण (जगच्छ्रेणीके घनका जितना प्रमाण है उसके बराबर) शलाका विरलन देय इस प्रकार तीन राशि स्थापन करना। विरलन राशिका विरलन कर (एक २ वखेर कर) प्रत्येक एकके ऊपर उस लोकप्रमाण देय राशिका स्थापन करना, और उन देय राशियोंका परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक कम करना। इस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन और देय ये दो राशि स्थापन करना, तथा विरलन राशिका विरलन कर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर पूर्वकी तरह परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक और कम करना। इस ही प्रकारसे एक २ कम करते २ जब समस्त शलाका राशि समाप्त होजाय तब उस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन देय शलाका ये तीन राशि स्थापन करना, और विरलन राशिका विरलन और देय राशिका उक्तरीतिसे गुणा करते २ तथा पूर्वोक्त रीतिसे ही शलाका राशिमेंसे एक २ कम करते २ जब दूसरी वार भी शलाका राशि समाप्त होजाय, तब उत्पन्न महा-राशिप्रमाण फिर तीसरी वार उक्त तीन राशि स्थापन करना। और उक्त विधानके अनुसार ही विरलन राशिका विरलन देय राशिका परस्पर गुणाकार तथा शलाका राशिमेंसे एक २

कम करना। इस प्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन कर चौथी वारकी स्थापित महाशलाकाराशिमेंसे पहली दूसरी तीसरी शलाका राशिका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना वार उक्त क्रमसे विरलन राशिका विरलन और देयराशिका परस्पर गुणाकार तथा शेष महाशलाकाराशिमेंसे एक २ कम करना। ऐसा करनेसे अन्तमें जो महाराशि उत्पन्न हो उतनाही तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण है। इस तेजस्कायिक जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको तेजस्कायिक जीवराशिमें मिलानेपर पृथिवीकायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है। और पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें मिलानेपर जलकायके जीवोंका प्रमाण निकलता है। जलकायके जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको जलकायकी जीवराशिमें मिलानेपर वायुकायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है।

अपदिट्ठिदपत्तेया असंखलोगप्पमाणया होंति।
तत्तो पदिट्ठिदा पुण असंखलोगेण संगुणिदा॥ २०४॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येका असंख्यलोकप्रमाणका भवन्ति।
ततः प्रतिष्ठिताः पुनः असंख्यलोकेन संगुणिताः॥ २०४॥

अर्थ—अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यातलोकप्रमाण हैं, और इससे भी असंख्यातलोकगुणा प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण है।

तसरासिपुढविआदीचउक्कपत्तेयहीणसंसारी।
साहारणजीवाणं परिमाणं होदि जिणदिट्ठं॥ २०५॥

त्रसराशिपृथिव्यादिचतुष्कप्रत्येकहीनसंसारी।
साधारणजीवानां परिमाणं भवति जिनदिष्टम्॥ २०५॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे, त्रस, पृथिव्यादि चतुष्क (पृथिवी अप् तेज वायु) प्रत्येक वनस्पतिकायका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवोंका प्रमाण है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

सगसगअसंखभागो बादरकायाण होदि परिमाणं।
सेसा सुहमपमाणं पडिभागो पुव्वणिद्दिट्ठो॥ २०६॥

स्वकस्वकासंख्यभागो बादरकायानां भवति परिमाणम्।
शेषाः सूक्ष्मप्रमाणं प्रतिभागः पूर्वनिर्दिष्टः॥ २०६॥

अर्थ—अपनी २ राशिका असंख्यातमा भाग बादरकाय जीवोंका प्रमाण है। और

शेष सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है । इसके प्रतिभागहारका प्रमाण पूर्वोक्त असंख्यातलोकप्रमाण है । भावार्थ–पृथिवीकायिकादि जीवोंकी अपनी २ राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह एक भाग प्रमाण बदर, शेष बहुभागप्रमाण सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है ।

सुहमेसु संखभागं संखा भागा अपुण्णगा इदरा ।
जस्सि अपुण्णद्धादो पुण्णद्धा संखगुणिदकमा ॥ २०७ ॥

सूक्ष्मेषु संख्यभागः संख्या भागा अपूर्णका इतरे ।
यस्मादपूर्णाद्धातः पूर्णाद्धा संख्यगुणितक्रमाः ॥ २०७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म जीवोंमें संख्यात भागमेंसे एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और बहुभागप्रमाण पर्याप्तक हैं । क्योंकि अपर्याप्तकके कालसे पर्याप्तकका काल संख्यातगुणा है ।

पल्लासंखेज्जवहिदपदरंगुलभाजिदे जगप्पदरे ।
जलभूणिपबादरया पुण्णा आवलिअसंखभजिदकमा ॥ २०८ ॥

पल्यासंख्यावहितप्रतराङ्गुलभाजिते जगत्प्रतरे ।
जलभूनिपबादरकाः पूर्णा आवल्यसंख्यभजितक्रमाः ॥ २०८ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवोंका प्रमाण है । इसमें अवलिके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवोंका प्रमाण है । इसमें भी आवलिके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है । पूर्वकी तरह इसमें भी आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है ।

बिंदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं ।
पज्जत्ताण पमाणं तेहिं विहीणा अपज्जत्ता ॥ २०९ ॥

वृन्दावलिलोकानामसंख्यं संख्यं च तेजोवायूनाम् ।
पर्याप्तानां प्रमाणं तैर्विहीना अपर्याप्ताः ॥ २०९ ॥

अर्थ—घनावलिके असंख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण पर्याप्त तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण है । और लोकके संख्यात भागोंमेंसे एक भागप्रमाण पर्याप्त वायुकायिक जीवोंका प्रमाण है । अपनी २ सम्पूर्ण राशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे वही अपर्याप्तकोंका प्रमाण है । भावार्थ सूक्ष्म जीवोंका अलग वर्णन किया गया है । इसलिये "पल्लासंखेज्जवहिद" और "बिंदावलिलोगाण" इन दो गाथाओंमें बादर जीवोंका ही प्रमाण

समझना। और इन दो गाथाओंमें कहे हुए पर्याप्तक जीवोंके प्रमाणको अपनी २ सामान्य राशिमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना अपर्याप्तकोंका प्रमाण है।

साहरणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा।
पुण्णाणमपुण्णाणं परिमाणं होदि अणुकमसो॥ २१०॥

साधारणबादरेषु असंख्यं भागमसंख्यका भागाः।
पूर्णानामपूर्णानां परिमाणं भवत्यनुक्रमशः॥ २१०॥

अर्थ—साधारण बादर जीवोंमें असंख्यात भागमेंसे एक भागप्रमाण पर्याप्त और बहुभागप्रमाण अपर्याप्त हैं।

आवलिअसंखसंखेणवहिदपदरङ्गुलेण हिदपदरं।
कमसो तसतप्पुण्णा पुण्णूणतसा अपुण्णा हु॥ २११॥

आवल्यसंख्यसंख्येनावहितप्रतराङ्गुलेन हितप्रतरम्।
क्रमशस्त्रसतत्पूर्णाः पूर्णोनत्रसा अपूर्णा हि॥ २११॥

अर्थ—आवलीके असंख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही सामान्य त्रसराशिका प्रमाण है। और आवलीके संख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना पर्याप्त त्रस जीवोंका प्रमाण है। सामान्य त्रसराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर शेष अपर्याप्त त्रसोंका प्रमाण निकलता है।

बादर तेजस्कायिकादि जीवोंकी अर्द्धच्छेद संख्याको बताते हैं।

आवलिअसंखभागेणवहिदपल्लूणसायरद्धछिदा।
बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसायरं पुण्णं॥ २१२॥

आवल्यसंख्यभागेनावहितपल्योनसागरार्धच्छेदाः।
बादरतेपनिभूजलवातानां चरमः सागरः पूर्णः॥ २१२॥

अर्थ—आवलीके असंख्यातमे भागसे भक्त पल्यको सागरमेंसे घटानेपर जो शेष रहें उतने बादर तेजस्कायिक जीवोंके अर्द्धच्छेद हैं। और अप्रतिष्ठित प्रत्येक, प्रतिष्ठित प्रत्येक, बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण क्रमसे आवलीके असंख्यातमे भागका दो वार, तीन वार, चार वार, पांच वार पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको सागरमें घटानेसे निकलता है। और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदका प्रमाण पूर्ण सागरप्रमाण है। भावार्थ—किसी राशिको जितनी वार आधा २ करनेसे एक शेष रहे उसको अर्द्धच्छेद राशि कहते हैं। जैसे दोकी एक, चारकी दो, आठकी तीन, सोलहकी चार, और बत्तीसकी पांच अर्द्धच्छेद राशि है। इस ही प्रकार बादर तेजस्कायिक जीवोंकी

अर्द्धच्छेद राशिका प्रमाण एक वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर जो शेष रहे उतना है । दो वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है । तीन वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेसे शेष प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है । चार वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेसे बादर पृथ्वीकायिक जीवोंके अर्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है । पांच वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमेंसे घटानेपर शेष बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है । और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदों का प्रमाण पूर्ण सागर प्रमाण है ।

तेवि विसेसेणहिया पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण ।
तम्हा ते रासीओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ २१३ ॥

तेपि विशेषेणाधिकाः पल्यासंख्यातभागमात्रेण ।
तस्मात्ते राशयोऽसंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ॥ २१३ ॥

अर्थ—ये प्रत्येक अर्द्धच्छेद राशि पल्यके असंख्यातमे २ भाग उत्तरोत्तर अधिक हैं । इसलिये ये सभी राशि (तेजस्कायिकादि जीवों के प्रमाण) क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातलोकगुणी हैं । भावार्थ—बादर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अप्रतिष्ठित, और अप्रतिष्ठितोंकी अपेक्षा प्रतिष्ठित जीवोंके अर्द्धच्छेद पल्यके असंख्यातमे २ भाग अधिक हैं । इसी प्रकार पृथिवीकायिकादि के भी अर्द्धच्छेद पूर्व २ की अपेक्षा पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक हैं । इस लिये पूर्व २ राशिकी अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि (मूल) असंख्यात लोकगुणी है ।

उक्त असंख्यातलोकगुणितक्रमको निकालनेके लिये करणसूत्रको कहते हैं ।

दिण्णच्छेदेणवहिदइट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे ।
लद्धमिदइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयदधणं ॥ २१४ ॥

देयच्छेदेनावहितेष्टच्छेदैः प्रकृतविरलनं भाजिते ।
लब्धमितेष्टराश्यन्योन्यहत्या भवति प्रकृतधनम् ॥ २१४ ॥

अर्थ—देयराशिके अर्द्धच्छेदोंसे भक्त इष्ट राशिके अर्धच्छेदोंका प्रकृत विरलन राशिमें भागदेनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह इष्ट राशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे प्रकृतधन होता है । **भावार्थ**—इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है कि जब सोलह जगह दूआ माड़ (सोलह जगह दोका अंक रखकर) परस्पर गुणा करनेसे पण्णट्ठी (६५५३६) उत्पन्न होती है तब ६४ जगह दूआ माड़ परस्परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? तो देयराशि दोके अर्धच्छेद एकका इष्टराशि पण्णट्ठीके अर्धच्छेद सोलहमें भागदेनेसे लब्ध

सोलहका भाग प्रकृतविरलन राशि ६४ में दिया, इससे चारकी संख्या लब्ध आई इसलिये चार जगह पर पण्णट्ठीको रखकर परस्पर गुणा करनेसे प्रकृतधन होता है। इस ही प्रकार अर्थसंदृष्टिमें जब इतनी जगह (अर्धच्छेदोंकी राशिप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे इतनी राशि उत्पन्न होती है तब इतनी जगह (आगेकी राशिके अर्धच्छेदप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी? इस प्रकार उक्त क्रमसे त्रैराशिक विधान करनेपर पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि असंख्यातलोकगुणी सिद्ध होती है।

इति कायमार्गणाधिकारः

योगमार्गणा क्रमप्राप्त है इसलिये प्रथम ही योगका सामान्य लक्षण कहते हैं।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो॥ २१५॥

पुद्गलविपाकिदेहोदयेन मनोवचनकाययुक्तस्य।
जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः॥ २१५॥

अर्थ—पुद्गलविपाकिशरीरनामकर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उस ही को योग कहते हैं। भावार्थ—आत्माकी अनन्त शक्तियोंमेंसे एक योग शक्ति भी है। उसके दो भेद हैं, एक भावयोग दूसरा द्रव्ययोग। पुद्गलविपाकी आङ्गोपाङ्गनामकर्म और शरीरनामकर्मके उदयसे, मनो वचन काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण होचुकी हैं और जो मनोवाक्कायवर्गणाका अवलम्बन रखता है ऐसे संसारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्मोंके ग्रहण करनेमें करणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं। और इस ही प्रकारके जीवके प्रदेशोंका जो परिस्पन्द है उसको द्रव्ययोग कहते हैं। यहां पर कर्मशब्द उपलक्षण है इसलिये कर्म और नोकर्म दोनोंको ग्रहण करनेवाला योग होता है ऐसा समझना चाहिये।

योगविशेषका लक्षण कहते हैं।

मणवयणाणपउत्ती सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु।
तण्णामं होदि तदा तेहि दु जोगा हु तज्जोगा॥ २१६॥

मनोवचनयोः प्रवृत्तयः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगात् हि तद्योगाः॥ २१६॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे जिस पदार्थको जानने या कहनेकेलिये जीवके मन वचनकी प्रवृत्ति होती है उस समयमें मन और वच-

नका वही नाम होता है। और उसके सम्बन्धसे उस प्रवृत्तिका भी वही नाम होता है। **भावार्थ**—सत्य पदार्थको जाननेकेलिये किसी मनुष्यके मन या वचन की प्रवृत्ति हुई तो उसके मनको सत्यमन और वचनको सत्य वचन कहेंगे। तथा उनके द्वारा होनेवाले योगको सत्यमनोयोग और सत्य वचनयोग कहेंगे। इस ही प्रकार मन और वचनके सत्य असत्य उभय अनुभय इन चारों भेदोंको भी समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते हैं, जैसे यह जल है। मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको मिथ्या कहते हैं, जैसे मरीचिकामें यह जल है। दोनोंके विषयभूत पदार्थको उभय कहते हैं जैसे कमण्डलुमें यह घट है; क्योंकि कमण्डलु घटका काम देता है इसलिये कथंचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिये असत्य भी है। जो दोनोंही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं जैसे सामान्यरूपसे यह प्रतिभास होना कि "यह कुछ है"। यहां पर सत्य असत्यका कुछ भी निर्णय नहीं होसकता इसलिये अनुभय है।

योगविशेषोंका लक्षण कहते हैं।

सब्भावमणो सच्चो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥ २१७ ॥

सद्भावमनः सत्यं यो योगस्तेन सत्यमनोयोगः।
तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१७ ॥

अर्थ—समीचीन भावमनको (पदार्थको जाननेकी शक्तिरूप ज्ञानको) अर्थात् समीचीन पदार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको सत्यमनोयोग कहते हैं। सत्यसे जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं। तथा सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकारके मनको उभय मन कहते हैं।

ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥ २१८ ॥

न च सत्यमृषायुक्तं यत्तु मनः तदसत्यमृषामनः।
यो योगस्तेन भवेत् असत्यमृषा तु मनोयोगः ॥ २१८ ॥

अर्थ—जो न तो सत्य हो ओर न मृषा हो उसको असत्यमृषा मन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं।

दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥ २१९ ॥

दशविधसत्ये वचने यो योगः स तु सत्यवचोयोगः।
तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१९ ॥

अर्थ—दश प्रकारके सत्य अर्थके वाचक वचनको सत्यवचन और उससे होनेवाले योगको सत्यवचनयोग कहते हैं। तथा इससे जो विपरीत है उसको मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषाका वाचक है उसको उभयवचनयोग कहते हैं।

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥ २२० ॥

यो नैव सत्यमृषा स जानीहि असत्यमृषावचोयोगः।
अमनसां या भाषा संज्ञिनामामन्त्रण्यादिः ॥ २२० ॥

अर्थ—जो न सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो उसको अनुभय वचनयोग कहते हैं। असंज्ञियोंकी समस्त भाषा और संज्ञियोंकी आमन्त्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती हैं।

दशप्रकारका सत्य बताते हैं।

जणवदसम्मदिठवणाणामे रूवे पडुच्चववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ॥ २२१ ॥

जनपदसम्मतिस्थापनानाम्नि रूपे प्रतीत्यव्यवहारयोः।
संभावनायां च भावे उपमायां दशविधं सत्यम् ॥ २२१ ॥

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्यके दश भेद हैं।

दश प्रकारके सत्यका दो गाथाओंमें दृष्टान्त बताते हैं।

भत्तं देवी चंदप्पहपडिमा तह य होदि जिणदत्तो।
सेदो दिग्घो रज्झदि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥ २२२ ॥
सक्को जंबूदीपं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च।
पल्लोवमं कमसो जणवदसच्चादिदिट्ठंता ॥ २२३ ॥

भक्तं देवी चन्द्रप्रभप्रतिमा तथा च भवति जिनदत्तः।
श्वेतो दीर्घो रध्यते क्रूरमिति च यद्भवेद्वचनम् ॥ २२२ ॥
शक्रो जम्बूद्वीपं परिवर्तयति पापवर्जवचनं च।
पल्योपमं च क्रमशो जनपदसत्यादिदृष्टान्ताः ॥ २२३ ॥

अर्थ—उक्त दश प्रकारके सत्यवचनके ये दश दृष्टान्त हैं। **भावार्थ**—१ देशवासी मनुष्योंके व्यवहारमें जो शब्द रूढ होरहा है उसको जनपद सत्य कहते हैं। जैसे भक्त=

भात=कुलु । बहुत मनुष्योंकी सम्मतिसे जो साधारणमें रूढ हो उसको सम्मतिसत्य या संवृतिसत्य कहते हैं । जैसे पट्टराणीके सिवाय किसी साधारण स्त्रीको भी देवी कहना । भिन्न वस्तुमें भिन्न वस्तुके समारोप करनेवाले वचनको स्थापनासत्य कहते हैं । जैसे प्रतिमाको चन्द्रप्रभ कहना । दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहारकेलिये जो किसीका संज्ञाकर्म करना इसको नामसत्य कहते हैं । जैसे जिनदत्त । यद्यपि उसको जिनेन्द्रने दिया नहीं है तथापि व्यवहारकेलिये उसको जिनदत्त कहते हैं । पुद्गलके रूपादिक अनेकगुणोंमेंसे रूपकी प्रधानतासे जो वचन कहा जाय उसको रूपसत्य कहते हैं । जैसे किसी मनुष्यके केशोंको काला कहना, अथवा उसके शरीरमें रसादिकके रहने पर भी उसको श्वेत कहना ।किसी विवक्षित पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थके स्वरूपका कथन करना इसको प्रतीत्यसत्य अथवा आपेक्षिकसत्य कहते हैं । जैसे किसीको बड़ा लम्बा या स्थूल कहना । नैगमादि नयोंकी प्रधानतासे जो वचन बोला जाय उसको व्यवहारसत्य कहते हैं । जैसे नैगम नयकी प्रधानतासे 'भात पकाता हूं ' संग्रहनयकी अपेक्षा 'सम्पूर्ण सत् हैं 'अथवा' सम्पूर्ण असत् हैं" आदि । असंभवताका परिहार करते हुए वस्तुके किसी धर्मको निरूपण करनेमें प्रवृत्त वचनको संभावना सत्य कहते हैं । जैसे इन्द्र जम्बूद्वीपको लौटादे अथवा लौटा सकता है । आगमोक्त विधि निषेधके अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थोंमें संकल्पित परिणामोंको भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हों उसको भावसत्य कहते हैं । जैसे शुष्क पक्व तप्त और निमक मिर्च खटाई आदिसे अच्छीतरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है । यहां पर यद्यपि सूक्ष्म जीवोंको इन्द्रियोंसे देख नहीं सकते तथापि आगमप्रामाण्यसे उसकी प्रासुकताका वर्णन किया जाता है । इसलिये इसही तरहके पापवर्ज वचनको भावसत्य कहते हैं । दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थको उपमा कहते हैं । इसके आश्रयसे जो वचन बोला जाय उसको उपमासत्य कहते हैं । जैसे पल्य । यहां पर रोमखण्डोंका आधारभूत गड्ढा, पल्य अर्थात् खासके सदृश होता है इसलिये उसको पल्प कहते हैं। इस संख्याको उपमासत्य कहते हैं। इस प्रकार ये दशप्रकारके सत्यके दृष्टान्त हैं इसलिये और भी इस ही तरह जानना ।

दो गाथाओंमें अनुभय वचनके भेदोंको गिनाते हैं ।

आमंतणि आणवणी याचणिया पुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमा य ॥ २२४ ॥

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवंति भासाओ ।
सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तंससंजणया ॥ २२५ ॥

आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी आपृच्छनी च प्रज्ञापनी ।
प्रत्याख्यानी संशयवचनी इच्छानुलोम्नी च ॥ २२४ ॥

नवमी अनक्षरगता असत्यमृपा भवन्ति भाषाः ।
श्रोतॄणां यस्मात् व्यक्ताव्यक्तांशसंज्ञापिकाः ॥ २२५ ॥

अर्थ—आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोम्नी, अनक्षरगता ये नव प्रकारकी अनुभयात्मक भाषा है। क्योंकि इनके सुननेवालेको व्यक्त और अव्यक्त दोनोंही अंशोंका ज्ञान होता है। **भावार्थ**—हे देवदत्त ! यहां आओ इसतरहके बुलानेवाले वचनोंको आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। यह काम करो इसतरहके आज्ञावचनोंको आज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह मुझको दो इसतरहके प्रार्थनावचनोंको याचनी भाषा कहते हैं। यह क्या है ? इसतरहके प्रश्नवचनोंको आपृच्छनी भाषा कहते हैं। मैं क्या करूं इसतरहके सूचनावाक्योंको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। इसको छोड़ता हूं इसतरहके छोडनेवाले वाक्योंको प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं। यह बलाका है अथवा पताका ऐसे संदिग्ध वचनोंको संशयवचनी भाषा कहते हैं। मुझको भी ऐसा ही होना चाहिये ऐसे इच्छाको प्रकटकरनेवाले वचनोंको इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं। द्वीन्द्रियादिक असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंकी भाषा अनक्षरात्मक होती है। ये सब ही भाषा अनुभयवचन रूप हैं क्योंकि इनके सुननेसे व्यक्त और अव्यक्त दोनो ही अंशोंका बोध होता है। इसलिये सामान्य अंशके व्यक्त होनेसे असत्य भी नहीं कहसकते, और विशेप अंशके व्यक्त न होनेसे सत्य भी नहीं कहसकते।

चारों प्रकारके मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण बताते हैं।

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओ दु ।
मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ॥ २२६ ॥

मनोवचनयोर्मूलनिमित्तं खलु पूर्णदेहोदयस्तु ।
मृपोभययोर्मूलनिमित्तं खलु भवत्यावरणम ॥ २२६ ॥

अर्थ—सत्य और अनुभय मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण पर्याप्ति और शरीरनामकर्मका उदय है। मृषा और उभय मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण अपना २ आवरण कर्म है।

सयोगकेवलीके मनोयोगकी संभवता वताते हैं।

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि ।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्हि ॥ २२७ ॥

मनःसहितानां वचनं दृष्टं तत्पूर्वमिति सयोगे ।
उक्तो मन उपचारेणेन्द्रियज्ञानेन हीने ॥ २२७ ॥

अर्थ—असदादिक छद्मस्थ मनसहित जीवोंके वचनप्रयोग मनपूर्वक ही होता है।

इसलिये इन्द्रियज्ञानसे रहित सयोगकेवलीके भी उपचारसे मन कहा है। भावार्थ—यद्यपि उनके मन मुख्यतया नहीं है तथापि उनके वचनप्रयोग होता है। और वह वचनप्रयोग असदादिकके विना मनके होता नहीं इसलिये उनके भी उपचारसे मनकी कल्पना की जाती है।

अस्मदादिक निरतिशय पुरुषोंमें होनेवाले स्वभावको देखकर सातिशय भगवान्में भी उसकी कल्पना करना अयुक्त है फिर भी उसकी कल्पना करनेका क्या हेतु है ? यह वताते हैं।

अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि ।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥ २२८ ॥

आङ्गोपाङ्गोदयात् द्रव्यमनोर्थं जिनेन्द्रचन्द्रे ।
मनोवर्गणास्कन्धानामागमनात् तु मनोयोगः ॥ २२८ ॥

अर्थ—आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे हृदयस्थानमें विकसित अष्टदल पद्मके आकार द्रव्यमन होता है। इस द्रव्यमनकी कारणभूत मनोवर्गणाओंका सयोगकेवली भगवान्के आगमन होता है। इस लिये उपचारसे मनोयोग कहा है। **भावार्थ**—यद्यपि कार्य नहीं हैं, तथापि उसके एक कारणका सद्भाव है अतः उसकी अपेक्षासे उपचारसे मनोयोगको भी कहा है।

काययोगकी आदिमें औदारिक काययोगको निरुक्तिपूर्वक कहते हैं।

पुरुमहदुदारुरालं एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं ।
औरालियं तमुच्चइ औरालियकायजोगो सो ॥ २२९ ॥

पुरुमहदुदारमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन् भवम् ।
औरालिकं तदुच्यते औरालिककाययोगः सः ॥ २२९ ॥

अर्थ—पुरु महत् उदार उराल ये शब्द एकार्थवाचक हैं। उदारमें जो होय उसको औदारिक कहते हैं। यहां पर भव अर्थमें ठण् प्रत्यय होता है। उदारमें होनेवाला जो काययोग उसको औदारिक काययोग कहते हैं। भावार्थ—मनुष्य और तिर्यञ्चोंका शरीर वैक्रियकादिक शरीरोंकी अपेक्षा स्थूल है इसलिये इसको उदार अथवा उराल कहते हैं. और इसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिक काययोग कहते हैं। यह योगरूढसंज्ञा है।

औदारिकमिश्रयोगको कहते हैं।

ओरालिय उत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ॥ २३० ॥

औरालिकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।
यस्तेन संप्रयोगः औरालिकमिश्रयोगः सः ॥ २३० ॥

अर्थ—जिस औदारिक शरीरका स्वरूप पहले वताचुके हैं, वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तबतक मिश्र कहाजाता है। और उसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिकमिश्रयोग कहते हैं। **भावार्थ**—शरीरपर्याप्तिसे पूर्व कार्मणशरीरकी सहायतासे होनेवाले औदारिक काययोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं।

वैक्रियिक काययोगको वताते हैं।

विविहगुणइड्ढिजुत्तं विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं ।
तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो ॥ २३१ ॥

विविधगुणर्द्धियुक्तं विक्रियं वा हि भवति विगूर्वम् ।
तस्मिन् भवं च ज्ञेयं वैगूर्विककाययोगः सः ॥ २३१ ॥

अर्थ—नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त देव तथा नारकियोंके शरीरको वैक्रियिक अथवा विगूर्व कहते हैं। और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विक अथवा वैक्रियिककाययोग कहते हैं।

वैक्रियिक काययोगकी सम्भावना कहां २ पर है यह बताते हैं।

बादरतेऊवाऊपंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति ।
ओरालियं सरीरं विगुव्वणप्पं हवे जेसिं ॥ २३२ ॥

बादरतेजोवायुपंचेन्द्रियपूर्णका विगूर्वन्ति ।
औरालिकं शरीरं विगूर्वणात्मकं भवेत् येषाम् ॥ २३२ ॥

अर्थ—बादर (स्थूल) तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय, और भोगभूमिज तिर्यग् मनुष्य भी विक्रिया करते हैं । इसलिये इनका भी औदारिक शरीर वैक्रियिक होता है। **भावार्थ**—इन जीवोंका भी औदारिकशरीर वैक्रियिक होता है। परन्तु यह विक्रिया अपृथक् विक्रिया होती है। किन्तु भोगभूमिज और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं।

वैक्रियिक मिश्र काययोगको बताते हैं।

वेगुव्वियउत्तत्थं विजाणमिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।
जो तेण संपजोगो वेगुव्वियमिस्सजोगो सो ॥ २३३ ॥

वैगूर्विकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।
यस्तेन संप्रयोगो वैगूर्विकमिश्रयोगः सः ॥ २३३ ॥

अर्थ—उक्त वैक्रियिक शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता तब तक उसको वैक्रियिकमिश्र कहते हैं। और उसके द्वारा होनेवाले योगको वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहते हैं। **भावार्थ**—

उत्पत्तिके समयसे अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वैक्रियिक शरीरसे जब कार्मण शरीरकी सहायतासे योग होता है तब उस योगको वैक्रियिक मिश्र काययोग कहते हैं।

आहारक काययोगका निरूपण करते हैं ।

आहारस्सुदयेण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।
असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥ २३४ ॥

आहारस्योदयेन च प्रमत्तविरतस्य भवति आहारकम् ।
असंयमपरिहरणार्थं संदेहविनाशनार्थं च ॥ २३४ ॥

अर्थ—असंयमके परिहार तथा संदेहको दूर करनेकेलिये छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारकशरीरनामकर्मके उदयसे आहारक शरीर होता है ।

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे ।
परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥ २३५ ॥

निजक्षेत्रे केवलिद्विकविरहे निःक्रमणप्रभृतिकल्याणे ।
परक्षेत्रे संवृत्ते जिनजिनगृहवंदनार्थं च ॥ २३५ ॥

अर्थ—अपने क्षेत्रमें केवली तथा श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर किन्तु दूसरे क्षेत्रमें जहां पर कि औदारिक शरीरसे उस समय पहुंच नहीं सकता, तपकल्याणक आदिके होनेपर, और जिन जिनगृह (चैत्यालय) की वन्दनाकेलिये भी आहारक ऋद्धिको प्राप्त छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है ।

उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं ।
सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥ २३६ ॥

उत्तमाङ्गे भवेत् धातुविहीनं शुभमसंहननम् ।
शुभसंस्थानं धवलं हस्तप्रमाणं प्रशस्तोदयम् ॥ २३६ ॥

अर्थ—यह आहारक शरीर रसादिक धातु और संहननसे रहित, समचतुरस्र संस्थानसे युक्त, चन्द्रकांतके समान श्वेत, एक हस्तप्रमाणवाला आहारकशरीरादिक शुभ नामकर्मके उदयसे उत्तम शरीरमें होता है ।

अवाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणंपि कदाचि संभवइ ॥ २३७ ॥

अव्याघाति अन्तर्मुहूर्तकालस्थिती जघन्येतरे ।
पर्याप्तिसंपूर्णायां मरणमपि कदाचित् संभवति ॥ २३७ ॥

अर्थ—न तो इस शरीरकेद्वारा किसी दूसरे पदार्थका और न दूसरे पदार्थके द्वारा इस शरीरका ही व्याघात होता है । तथा इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त-

मात्र है । आहार शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होने पर कदाचित् आहारकऋद्धिवाले मुनिका मरण भी हो सकता है ।

आहारक काययोगका निरुक्तिसिद्ध अर्थ बताते हैं ।

आहरदि अणेण मुणी सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो ॥ २३८ ॥

आहरत्यनेन मुनिः सूक्ष्मानर्थान् स्वस्य संदेहे ।
गत्वा केवलिपार्श्वं तस्मादाहारको योगः ॥ २३८ ॥

अर्थ—छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होनेपर इस शरीरके द्वारा केवलीके पासमें जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण (ग्रहण) करता है इसलिये इस शरीरके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ।

आहारक मिश्रयोगका निरूपण करते हैं ।

आहारयमुत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सजोगो सो ॥ २३९ ॥

आहारकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।
यस्तेन संप्रयोग आहारकमिश्रयोगः सः ॥ २३९ ॥

अर्थ—उक्त आहारक शरीर जब तक पर्याप्त नहीं होता तब तक उसको आहारक-मिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारकमिश्रयोग कहते हैं ।

कार्मणकाययोगको बताते हैं ।

कम्मेव य कम्मभवं कम्मइयं जो दु तेण संजोगो ।
कम्मइयकायजोगो इगिविगतिगसमयकालेसु ॥ २४० ॥

कर्मैव च कर्मभवं कार्मणं यस्तु तेन संयोगः ।
कार्मणकाययोग एकद्विकत्रिकसमयकालेषु ॥ २४० ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंके समूहको अथवा कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाली कायको कार्मणकाय कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक दो अथवा तीन समयतक होता है । भावार्थ—विग्रहगतिमें और केवलसमुद्घातमें भी तीन समय पर्यन्त ही कार्मणकाययोग होता है; किन्तु दूसरे योगोंका ऐसा नियम नहीं है । यहां पर जो समय और काल ये दो शब्द दिये हैं उससे यह सूचित होता है कि शेष योगोंका अव्याघातकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त और व्याघातकी

१ दो प्रतर और एक लोकपूर्ण समुद्घातकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें भी कार्मणयोगको तीन ही समय लगते हैं ।

अपेक्षा एक समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त काल है। यह काल एक जीवकी अपेक्षासे है। किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षा आठ अन्तर मार्गणाओंको छोड़कर बाकी निरन्तरमार्गणाओंका सर्व काल है।

योगप्रवृत्तिका प्रकार बताते हैं।

वेगुव्वियआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरदम्हि ।
जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण ॥ २४१ ॥

वैगूर्विकाहारकक्रिया न समं प्रमत्तविरते ।
योगोऽपि एककाले एक एव च भवति नियमेन ॥ २४१ ॥

अर्थ—छट्ठे गुणस्थानमें वैक्रियिक और आहारक शरीरकी क्रिया युगपत् नहीं होती। और योग भी नियमसे एक कालमें एक ही होता है।

योगरहितका वर्णन करते हैं।

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया ।
ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंतबलकलिया ॥ २४२ ॥

येषां न सन्ति योगाः शुभाशुभाः पुण्यपापसंजनकाः ।
ते भवन्ति अयोगिजिना अनुपमानन्तबलकलिताः ॥ २४२ ॥

अर्थ—जिनके पुण्य और पापके करणभूत शुभाशुभ योग नहीं हैं उनको अयोगिजिन कहते हैं। वे अनुपम और अनन्त बल करके युक्त होते हैं।

शरीरमें कर्म नोकर्मका विभाग करते हैं।

ओरालियवेगुव्वियआहारयतेजणामकम्मुदये ।
चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥ २४३ ॥

औरालिकवैगूर्विकाहारकतेजोनामकर्मोदये ।
चतुर्नोकर्मशरीराणि कर्मैव च भवति कार्मणम् ॥ २४३

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस नामकर्मके उदयसे होनेवाले चार शरीरोंको नोकर्म कहते हैं। और कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

औदारिकादिकोंकी समयप्रबद्धकी संख्याको बताते हैं।

परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु ।
ताहि अणंतहिं णियमा समयपबद्धो हवे एक्को ॥ २४४ ॥

परमाणुभिरनन्तैर्वर्गणासंज्ञा हि भवत्येका हि ।
ताभिरनन्तैर्नियमात् समयप्रबद्धो भवेदेकः ॥ २४४ ॥

अर्थ—अनन्त (अनन्तानन्त) परमाणुओंकी एक वर्गणा होती है । और अनन्त वर्गणाओंका नियमसे एक समयप्रबद्ध होता है ।

ताणं समयपबद्धा सेढिअसंखेज्जभागगुणिदकमा ।
णंतेण य तेजदुगा परं परं होदि सुहमं खु ॥ २४५ ॥

तेषां समयप्रबद्धाः श्रेण्यसंख्येयभागगुणितक्रमाः ।
अनन्तेन च तेजोद्विका परं परं भवति सूक्ष्मं खलु ॥ २४५ ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरोंके समयप्रबद्ध उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेणिके असंख्यातमे भागसे गुणित हैं । और तैजस तथा कार्मण अनन्तगुणे हैं । किन्तु ये पांचो ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । भावार्थ—औदारिकसे वैक्रियिकके और वैक्रियिकसे आहारकके समयप्रबद्ध श्रेणिके असंख्यातमे भाग गुणित हैं । किन्तु आहारकसे तैजसके अनन्तगुणे और तैजससे कार्मणशरीरके समयप्रबद्ध अनन्तगुणे हैं । इस तरह समयप्रबद्धोंकी संख्याके अधिक २ होनेपर भी ये पांचो शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म २ हैं ।

औदारिकादिक शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं ।

ओगाहणाणि ताणं समयपबद्धाण वग्गणाणं च ।
अंगुलअसंखभागा उवरुवरिमसंखगुणहीणा ॥ २४६ ॥

अवगाहनानि तेषां समयप्रबद्धानां वर्गणानां च ।
अङ्गुलासंख्यभागा उपर्युपरि असंख्यगुणहीनानि ॥ २४६ ॥

अर्थ—इन शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण सामान्यसे अंगुलके असंख्यातमे भाग है; किन्तु आगे आगेके शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण क्रमसे असंख्यातगुणा २ हीन है ।

इस ही प्रमाणको माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव भी कहते हैं ।

तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख- ।
भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा ॥ २४७ ॥

तत्समयबद्धवर्गणावगाहः सूच्यङ्गुलासंख्य- ।
भागहितवृन्दाङ्गुलमुपर्युपरि तेन भजितक्रमाः ॥ २४७ ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्ध तथा वर्गणाओंका अवगाहन सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागसे भक्त घनाङ्गुलप्रमाण है । और पूर्व २ की अपेक्षा आगे २ की अवगाहना क्रमसे असंख्यातगुणी २ हीन है ।

---

१ इस गाथाकी संस्कृतव्याख्या श्रीमदभयचन्द्रसूरीने और हिन्दीभाषा टीका विद्वद्वर्य श्रीटोडरमल्लजीने की है इसलिये हमने भी इसको यहांपर लिख दिया है । किन्तु केशववर्णी टीकामें इसकी व्याख्या हमारे देखनेमें नहीं आई है ।

विस्रसोपचयका स्वरूप बताते हैं ।

जीवादो णंतगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया ।
जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडि समाणा हु ॥ २४८ ॥

जीवतोऽनन्तगुणाः प्रतिपरमाणौ विस्रसोपचयाः ।
जीवेन च समवेता एकैकं प्रति समाना हि ॥ २४८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त कर्म और नोकर्मकी प्रत्येक परमाणुपर समान संख्याको लिये हुए जीवराशिसे अनन्तगुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीवके साथ सम्बद्ध हैं । **भावार्थ**—जीवके प्रत्येक प्रदेशोंके साथ जो कर्म और नोकर्म बंधे हैं, उन कर्म और नोकर्मकी प्रत्येक परमाणु के साथ जीवराशिसे अनन्तगुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु सम्बद्ध हैं । जो कर्मरूप तो नहीं हैं किन्तु कर्मरूप होनेकेलिये उम्मेद वार हैं उन परमाणुओंको विस्रसोपचय कहते हैं ।

कर्म और नोकर्मके उत्कृष्ट संचयका स्वरूप तथा स्थान वताते हैं ।

उक्कस्सट्ठिदिचरिमे सगसगउक्कस्ससंचओ होदि ।
पणदेहाणं वरजोगादिससामग्गिसहियाणं ॥ २४९ ॥

उत्कृष्टस्थितिचरमे स्वकस्वकोत्कृष्टसंचयो भवति ।
पञ्चदेहानां वरयोगादिस्वसामग्रीसहितानाम् ॥ २४९ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट योगको आदि लेकर जो २ सामग्री तत्तत्कर्म या नोकर्मके उत्कृष्ट संचयमें कारण है उस २ सामग्रीके मिलनेपर औदारिकादि पांचो ही शरीरवालोंके उत्कृष्टस्थितिके अन्तसमयमें अपने २ योग्य कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है । **भावार्थ**—स्थितिके प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय समयप्रबद्धका बंध होता है, और उसके एक २ निषेककी निर्जरा होती है । इस प्रकार शेष समयोंमें शेष निषेकोंका संचय होते २ स्थितिके अन्त समयमें आयुः कर्मको छोड़कर शेष कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है । यह संचय उत्कृष्ट योगादिक अपनी २ सामग्रीके मिलनेपर पांचो शरीरवालोंके होता है ।

उत्कृष्ट संचयकी सामग्रीविशेषको वताते हैं ।

आवासया हु भवअद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य ।
ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे ॥ २५० ॥

आवश्यकानि हि भवाद्धा आयुष्यं योगसंक्लेशौ च ।
अपकर्षणोत्कर्षणके षट् चैते गुणितकर्मांशे ॥ २५० ॥

अर्थ—कर्मोंके उत्कृष्ट संचयसे युक्त जीवके उत्कृष्ट संचय करनेकेलिये ये छह आवश्यक कारण होते हैं। भवाद्धा, आयुष्य, योग, संक्लेश, अपकर्षण, उत्कर्षण।

पांचशरीरोंकी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण बताते हैं।

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसंतोमुहुत्त उवहीणं।
छवट्ठी कम्मट्ठिदि बंधुक्कस्सट्ठिदी ताणं॥ २५१॥

पल्यत्रयमुदधीनां त्रयस्त्रिंशदन्तर्मुहूर्त उदधीनाम्।
षट्षष्टिः कर्मस्थितिर्बन्धोत्कृष्टस्थितिस्तेषाम्॥ २५१॥

अर्थ—औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिक शरीरकी तेतीस सागर, आहारक शरीरकी अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीरकी छयासठ सागर है। कार्मण शरीरकी सामान्यसे सत्तर कोडाकोडी सागर किन्तु विशेषरूपसे ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम गोत्रकी वीस कोडाकोडी सागर, और आयुः कर्मकी केवल तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

पांच शरीरोंकी उत्कृष्टस्थितिके गुणहानि आयामका प्रमाण बताते हैं।

अंतोमुहुत्तमेत्तं गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं।
पल्लासंखेज्जदिमं गुणहाणी तेजकम्माणं॥ २५२॥

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रा गुणहानिर्भवति आदिमत्रिकानाम्।
पल्यासंख्याता गुणहानिस्तेजःकर्मणोः॥ २५२॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीरकी गुणहानिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है। और तैजस तथा कार्मण शरीरकी गुणहानिका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भागमात्र है।

औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्धका बंध उदय और सत्त्व अवस्थामें द्रव्यप्रमाण कितना रहता है यह बताते है।

एक्कं समयपबद्धं बंधदि एक्कं उदेदि चरिमम्मि।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं॥ २५३॥

एकं समयप्रबद्धं बध्नाति एकमुदेति चरमे।
गुणहानीनां द्व्यर्धं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम्॥ २५३॥

अर्थ—प्रति समय एक समयप्रबद्धका बंध होता है, और एक ही समयप्रबद्धका उदय होता है, किन्तु अन्तमें कुछ कम डेढ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है। **भावार्थ**—पांचो शरीरोंमेंसे तैजस और कार्मणका तो प्रतिसमय बंध उदय सत्त्व होता है,

इस लिये इन दोनोंके समयप्रबद्धका प्रतिसमय बंध और उदय होता है, तथा किसी विवक्षित समयप्रबद्धके चरमनिषेक समयमें डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है । किन्तु औदारिक तथा वैक्रियिक शरीरके समयप्रबद्धोंमें कुछ विशेषता है । वह इस प्रकार है कि जिस समयमें शरीर ग्रहण किया उस समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धके प्रथम निषेकका उदय होता है और द्वितीयादि समयोंमे द्वितीयादि निषेकोंका उदय होता है। और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धका प्रथम निषेक तथा प्रथम समयमें बद्ध समयप्रबद्धका द्वितीय निषेक उदित होता है । इस ही तरह तृतीयादिक समयोंका हिसाब समझना चाहिये । इसलिये इस क्रमसे अन्तमें द्व्यर्धगुणहानि—गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है । किन्तु आहारक शरीरका युगपद् प्रथम समयप्रबद्धमात्र द्रव्यका उदय सत्त्व संचय रहता है ।

औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें विशेषताको बताते हैं ।

णवरि य दुसरीराणं गलिदवसेसाउमेत्तठिदिबंधो ।
गुणहाणीण दिवड्ढं संचयमुदयं च चरिमम्हि ॥ २५४ ॥

नवरि च द्विशरीरयोर्गलितावशेषायुर्मात्रस्थितिबन्धः ।
गुणहानीनां द्व्यर्धं संचयमुदयं च चरमे ॥ २५४ ॥

अर्थ—औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें यह विशेषता है कि इन दोनों शरीरोंके बध्यमान समयप्रबद्धोंकी स्थिति भुक्त आयुसे अवशिष्ट आयुकी स्थितिप्रमाण होती है । और इनका आयुके अन्त समयमें डेढ़ गुणहानिमात्र उदय तथा संचय रहता है । **भावार्थ**—शरीरग्रहणके प्रथम समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति पूर्ण आयुःप्रमाण होती है और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धोंकी स्थिति एक समय कम आयुःप्रमाण और तीसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धोंकी स्थिति दो समयकम आयुःप्रमाण होती है । इस ही प्रकार आगेके समयप्रबद्धोंकी स्थिति समझना चाहिये । इस क्रमके अनुसार अन्तसमयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति एक समयमात्र होती है ।

आयुके प्रथम समयसे लेकर अन्तसमय पर्यन्त बंधनेवाले समयप्रबद्धोंकी अवस्थिति, आयुके अन्तसमयसे आगे नहीं रह सकती इसलिये अन्त समयमें कुछ कम डेढ गुणहानिमात्र समयप्रबद्धोंका युगपत् उदय तथा संचय रहता है ।

किस प्रकारकी आवश्यक सामग्रीसे युक्त जीवके किस स्थान पर औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है यह बताते हैं ।

ओरालियवरसंचं देवुत्तरकुरुवजादजीवस्स ।
तिरियमणुस्सस्स हवे चरिमदुचरिमे तिपल्लठिदिगस्स ॥ २५५ ॥

औरालिकवरसंचयं देवोत्तरकुरूपजातजीवस्य ।

तिर्यग्मनुष्यस्य भवेत् चरमद्विचरमे त्रिपल्यस्थितिकस्य ॥ २५५ ॥

अर्थ—तीन पल्यकी स्थितिवाले देवकुरु तथा उत्तरकुरुमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यञ्च और मनुष्योंके चरम तथा द्विचरम समयमें औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है।

वैक्रियिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्थान वताते हैं।

वेगुव्वियवरसंचं बावीससमुद्दआरणदुगम्हि ।

जह्मा वरजोगस्स य वारा अण्णत्थ णहि बहुगा ॥ २५६ ॥

वैगूर्विकवरसंचयं द्वाविंशतिसमुद्रमारणद्विके ।

यस्मात् वरयोगस्य च वारा अन्यत्र नहि बहुकाः ॥ २५६ ॥

अर्थ—वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय, वाईस सागरकी आयुवाले आरण और अच्युत स्वर्गके ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही होता है। क्योंकि वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा उसके योग्य दूसरी सामग्रियां अन्यत्र अनेकवार नहीं होती। भावार्थ—आरण अच्युत स्वर्गके उपरितन विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही जिनकी आयु वाईस सागरकी है वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा दूसरी सामग्री अनेक वार होती हैं, इसलिये इन देवोंके ही वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है।

तैजस तथा कार्मणके उत्कृष्ट संचयका स्थान वताते हैं।

तेजासरीरजेट्ठं सत्तमचरिमम्हि बिदियवारस्स ।

कम्मस्स वि तत्थेव य णिरये बहुवारभमिदस्स ॥ २५७ ॥

तैजसशरीरज्येष्ठं सप्तमचरमे द्वितीयवारस्य ।

कार्मणस्यापि तत्रैव च निरये बहुवारभ्रमितस्य ॥ २५७ ॥

अर्थ—तैजस शरीरका उत्कृष्ट संचय सप्तम पृथिवीमें दूसरीवार उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है। और कार्मण शरीरका उत्कृष्ट संचय अनेक वार नरकोंमें भ्रमण करके सप्तम पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है। आहारक शरीरका उत्कृष्ट संचय आहारक शरीरका उत्थापन करनेवाले प्रमत्तविरतके ही होता है।

योगमार्गणामें जीवोंकी संख्याको वताते हैं।

बादरपुण्णा तेऊ सगरासीए असंखभागमिदा ।

विक्किरियसत्तिजुत्ता पल्लासंखेज्जया बाऊ ॥ २५८ ॥

बादरपूर्णाः तैजसाः स्वकराशेरसंख्यभागमिताः ।

विक्रियाशक्तियुक्ताः पल्यासंख्याता वायवः ॥ २५८ ॥

अर्थ—वादर पर्याप्तक तैजसकायिक जीवोंका जितना प्रमाण है उसमें असंख्यात

भागप्रमाण विक्रिया शक्तिसे युक्त हैं । और वायुकायिक जितने जीव हैं उनमें पल्यके असंख्यातमे भाग विक्रियाशक्तिसे युक्त हैं ।

पल्लासंखेज्जाहयविंदंगुलगुणिदसेढिमेत्ता हु ।
वेगुव्वियपंचक्खा भोगभुमा पुह विगुव्वंति ॥ २५९ ॥

पल्यासंख्याताहतवृन्दाङ्गुलगुणितश्रेणिमात्रा हि ।
वैगूर्विकपञ्चाक्षा भोगभुमाः पृथक् विगूर्वन्ति ॥ २५९ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागसे अभ्यस्त (गुणित) घनाङ्गुलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने ही पर्याप्त पंचेद्रिय तिर्यंचोंमें वैक्रियिक योगके धारक हैं । और भोगभूमिया तिर्यंच तथा मनुष्य तथा कर्मभूमियाओंमें चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं । **भावार्थ**—विक्रिया दो प्रकारकी होती हैं, एक पृथक् विक्रिया दूसरी अपृथक् विक्रिया । जो अपने शरीरके सिवाय दूसरे शरीरादिक बनाना इसको पृथक् विक्रिया कहते हैं । और जो अपने शरीरके ही अनेक आकार बनाना इसको अपृथक् विक्रिया कहते हैं । इन दोनों प्रकारकी विक्रियाके धारक तिर्यंच तथा मनुष्योंकी संख्या ऊपर कही हुई है ।

देवेहिं सादिरेया तिजोगिणो तेहिं हीण तसपुण्णा ।
बियजोगिणो तदूणा संसारी एक्कजोगा हु ॥ २६० ॥

देवैः सातिरेकाः त्रियोगिनस्तैर्हीनाः त्रसपूर्णाः ।
द्वियोगिनस्तदूना संसारिणः एकयोगा हि ॥ २६० ॥

अर्थ—देवोंसे कुछ अधिक त्रियोगियोंका प्रमाण है । पर्याप्त त्रसराशिमेंसे त्रियोगियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना द्वियोगियोंका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे द्वियोगी तथा त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेसे एकयोगवालोंका प्रमाण निकलता है । **भावार्थ**—नारकी देव संज्ञिपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त मनुष्य इनका जितना प्रमाण है उतना ही त्रियोगियोंका प्रमाण है । त्रसराशिमेंसे त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेपर द्वियोगियोंका और संसारराशिमेंसे त्रियोगि तथा द्वियोगियोंका प्रमाण घटानेपर एकयोगियोंका प्रमाण निकलता है ।

अंतोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा ।
तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा ॥ २६१ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्राः चतुर्मनोयोगाः क्रमेण संख्यगुणाः ।
तद्योगः सामान्यं चतुर्वचोयोगाः ततस्तु संख्यगुणाः ॥ २६१ ॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार मनोयोगोंमें प्रत्येकका काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्तमात्र है तथापि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका काल क्रमसे संख्यातगुणा है। और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। इस ही प्रकार चारों मनोयोगोंके जोड़का जितना प्रमाण है उससे संख्यातगुणा काल चारों वचनयोगोंका है। और प्रत्येक वचनयोगका काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका प्रमाण संख्यातगुणा है। और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्त है।

तज्जोगो सामण्णं काओ संखाहदो तिजोगमिदं।
सव्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी ॥ २६२ ॥

तद्योगः सामान्यं कायः संख्याहतः त्रियोगिमितम्।
सर्वसमासविभक्तं स्वकस्वकगुणसंगुणे तु स्वकराशिः ॥ २६२ ॥

अर्थ—चारो वचनयोगोंके जोड़का जो प्रमाण हो वह सामान्यवचनयोगका काल है। इससे संख्यातगुणा काययोगका काल है। तीनों योगोंके कालको जोड़देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका पूर्वोक्त त्रियोगिजीवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागसे अपनी २ राशिका गुणा करने पर अपनी २ राशिका प्रमाण निकलता है। **भावार्थ**—तीनो योगोंके जोड़का काल ८५×१७०१ अन्तर्मुहूर्तमात्र है। इसके जितने समय हों उनका त्रियोगिजीवोंके प्रमाणमें भाग दीजिये। लब्ध एक भागके साथ सत्यमनोयोगीके कालके जितने समय हैं उनका गुणा कीजिये, जो लब्ध आवे वह सत्यमनोयोगवाले जीवोंका प्रमाण है। इस ही प्रकार असत्यमनोयोगीसे लेकर काययोगी पर्यन्त जीवोंमें प्रत्येकका प्रमाण समझना।

कम्मोरालियमिस्सयओरालद्धासु संचिदअणंता।
कम्मोरालियमिस्सयओरालियजोगिणो जीवा ॥ २६३ ॥

कार्मणौदारिकमिश्रकौरालाद्धासु संचितानन्ताः।
कार्मणौरालिकमिश्रकौरालिकयोगिनो जीवाः ॥ २६३ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रयोग तथा औदारिककाययोगके समयमें एकत्रित होनेवाले कार्मणयोगी औदारिकमिश्रयोगी तथा औदारिककाययोगी जीव अनन्तानन्त हैं।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं।

समयत्तयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहिदरासी।
सगगुणगुणिदे थोवो असंखसंखाहदो कमसो ॥ २६४ ॥

समयत्रयसंख्यावलिसंख्यगुणावलिसमासहितराशिम्।
स्वकगुणगुणिते स्तोकः असंख्यसंख्याहतः क्रमशः ॥ २६४ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोगका काल तीन समय, औदारिकमिश्रयोगका काल संख्यात आवली, औदारिक काययोगका काल संख्यात गुणित (औदारिकमिश्रके कालसे) आवली है । इन तीनोंको जोड़ देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका एकयोगिजीवराशिमें भाग देनेसे लब्ध एक भागके साथ कार्मणकालका गुणा करने पर कार्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण निकलता है । इस ही प्रकार उसी एक भागके साथ औदारिकमिश्रकाल तथा औदारिककालका गुणा करनेपर औदारिकमिश्रकाययोगी और औदारिककाययोगी जीवोंका प्रमाण होता है । इन तीनों तरहके जीवोंमें सबसे कम कार्मण काययोगी हैं उनसे असंख्यातगुणे औदारिकमिश्रयोगी हैं और उनसे संख्यातगुणे औदारिककाययोगी हैं ।

चार गाथाओंमें वैक्रियिकमिश्र तथा वैक्रियिककाययोगके धारक जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

सोवक्कमाणुवक्कमकालो संखेज्जवासठिदिवाणे ।
आवलिअसंखभागो संखेज्जावलिपमा कमसो ॥ २६५ ॥

सोपक्रमानुपक्रमकालः संख्यातवर्षस्थितिवाने ।
आवल्यसंख्यभागः संख्यातावलिप्रमः क्रमशः ॥ २६५ ॥

अर्थ—संख्यातवर्षकी स्थितिवाले उसमें भी प्रधानतया जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तर देवोंका सोपक्रम तथा अनुपक्रम काल क्रमसे आवलीके असंख्यातमे भाग और संख्यात आवली प्रमाण है । **भावार्थ**—उत्पत्तिसहित कालको सोपक्रम काल कहते हैं । और उत्पत्तिरहित कालको अनुपक्रम काल कहते हैं । यदि व्यन्तर देव निरन्तर उत्पन्न हों तो आवलीके असंख्यातमे भागमात्रकाल पर्यन्त उत्पन्न होते ही रहें । यदि कोई भी व्यन्तर देव उत्पन्न न हो तो ज्यादेसे ज्यादे संख्यात आवलीमात्र काल पर्यन्त (बारह मुहूर्त) उत्पन्न न हो, पीछे कोई न कोई उत्पन्न हो ही ।

तहिं सव्वे सुद्धसला सोवक्कमकालदो दु संखगुणा ।
तत्तो संखगुणूणा अपुण्णकालम्हि सुद्धसला ॥ २६६ ॥

तस्मिन् सर्वाः शुद्धशलाकाः सोपक्रमकालतस्तु संख्यगुणाः ।
ततः संख्यगुणोना अपूर्णकाले शुद्धशलाकाः ॥ २६६ ॥

अर्थ—जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिमें अनुपक्रमकालको छोड़कर पर्याप्त तथा अपर्याप्त कालसम्बन्धी सोपक्रम कालकी शलाकाका प्रमाण, सोपक्रमकालके प्रमाणसे संख्यातगुणा है । और इससे संख्यातगुणा कम अपर्याप्तकालसम्बन्धी सोपक्रमकालकी शलाकाका

प्रमाण है। **भावार्थ**—स्थितिके प्रमाणमें जितनीवार सोपक्रम कालका सम्भव हो उसको शलाका कहते हैं। इसका प्रमाण उक्त क्रमानुसार समझना।

तं सुद्धसलागाहिदणियरासिमपुण्णकाललद्धाहिं।
सुद्धसलागाहिं गुणे वेंतरवेगुव्वमिस्सा हु ॥ २६७ ॥

तं शुद्धशलाकाहितनिजराशिमपूर्णकाललब्धाभिः।
शुद्धशलाकाभिर्गुणे व्यन्तरवैगूर्वमिश्रा हि ॥ २६७ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त व्यन्तर देवोंके प्रमाणमें शुद्ध उपक्रम शलाकाका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपर्याप्त–काल–सम्बन्धी शुद्ध उपक्रम शलाकाके साथ गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने ही वैक्रियिकमिश्रयोगके धारक व्यन्तरदेव समझने चाहिये। **भावार्थ**—संख्यात वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तरदेव अधिक उत्पन्न होते हैं इसलिये उनकीही मुख्यतासे यहां प्रमाण बताया है।

तहिं सेसदेवणारयमिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं।
सुरणिरयकायजोगा वेगुव्वियकायजोगा हु ॥ २६८ ॥

तस्मिन् शेषदेवनारकमिश्रयुते सर्वमिश्रवैगूर्वम्।
सुरनिरयकाययोगा वैगूर्विककाययोगा हि ॥ २६८ ॥

अर्थ—उक्त व्यन्तरोंके प्रमाणमें शेष भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक और नारकियोंके मिश्र काययोगका प्रमाण मिलानेसे सम्पूर्ण मिश्र वैक्रियिक काययोगका प्रमाण होता है। और देव तथा नारकियोंके काययोगका प्रमाण मिलानेसे समस्त वैक्रियिक काययोगका प्रमाण होता है।

आहारककाययोगी तथा आहारकमिश्रकाययोगियोंका प्रमाण बताते हैं।

आहारकायजोगा चउवण्णं होंति एकसमयम्हि।
आहारमिस्सजोगा सत्तावीसा दु उक्कस्सं ॥ २६९ ॥

आहारकाययोगाः चतुष्पञ्चाशत् भवन्ति एकसमये।
आहारमिश्रयोगा सप्तविंशतिस्तूत्कृष्टम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—एक समयमें आहारककाययोगवाले जीव अधिकसे अधिक चौअन होते हैं। और आहारमिश्रयोगवाले जीव अधिकसे अधिक सत्ताईस होते हैं। यहां पर जो उत्कृष्ट शब्द है वह मध्यदीपक है। **भावार्थ**—जिस प्रकार देहलीपर रक्खा हुआ दीपक बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उसही प्रकार यह शब्द भी पूर्वोक्त तथा जिसका आगे वर्णन करेंगे ऐसी दोनोंही संख्याओंको उत्कृष्ट अपेक्षा समझना यह सूचित करता है।

इति योगमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त वेदमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे ।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७० ॥

पुरुषस्त्रीषण्ढवेदोदयेन पुरुषस्त्रीषण्ढाः भावे ।
नामोदयेन द्रव्ये प्रायेण समाः क्वचिद् विषमाः ॥ २७० ॥

अर्थ—पुरुष स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे भावपुरुष भावस्त्री भाव नपुंसक होता है । और नामकर्मके उदयसे द्रव्य पुरुष द्रव्य स्त्री द्रव्य नपुंसक होता है । सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायःकरके समान होता है, परन्तु कहीं २ विषम भी होता है । **भावार्थ**—वेदनामक नोकषायके उदयसे जीवोंके भाववेद होता है, और आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद होता है । सो ये दोनों ही वेद प्रायःकरके तो समान ही होते हैं, अर्थात् जो भाववेद वही द्रव्यवेद और जो द्रव्यवेद वही भाववेद । परन्तु कहीं २ विषमता भी होजाती है, अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा ।

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोषं वा ॥ २७१ ॥

वेदस्योदीरणायां परिणामस्य च भवेत् संमोहः ।
संमोहेन न जानाति जीवो हि गुणं वा दोषं वा ॥ २७१ ॥

अर्थ—वेद नोकषायके उदय अथवा उदीरणा होनेसे जीवके परिणामोंमें बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है । और इस मोहके होनेसे यह जीव गुण अथवा दोषका विचार नहीं कर सकता ।

पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥ २७२ ॥

पुरुगुणभोगे शेते करोति लोके पुरुगुणं कर्म ।
पुरुरुत्तमश्च यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः ॥ २७२ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगोंका जो स्वामी हो, अथवा जो लोकमें उत्कृष्टगुणयुक्त कर्मको करै, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष[1] कहते हैं ।

छादयदि सयं दोसेणयदो छाददि परं वि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥ २७३ ॥

१ यद्यपि शीङ् धातुका अर्थ स्वप्न है, तथापि "धातूनामनेकार्थः" इस नियमके अनुसार स्वामी, करना तथा स्थिति अर्थ मानकर पृषोदरादि गणके द्वारा यह शब्द सिद्ध किया गया है । पुरुषु शेते इति पुरुषः इत्यादि । अथवा षोऽन्तकर्मणि इस धातुसे इस शब्दकी सिद्धि समझना चाहिये । पुरु शब्दका अर्थ उत्तम होता है ।

छादयति स्वकं दोषे नयतः छादयति परमपि दोषेण।

छादनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्णिता स्त्री ॥ २७३ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करै, और मृदु भाषण तिरछी चितवन आदि व्यापारसे जो दूसरे पुरुषोंको भी हिंसा अब्रह्म आदि दोषोंसे आच्छादित करै, उसको अच्छादन-स्वभावयुक्त होनेसे स्त्री कहते है। **भावार्थ**—यद्यपि बहुत सी स्त्रियां अपनेको तथा दूसरोंको दोषोंसे आच्छादित नहीं भी करती हैं तब भी बहुलता की अपेक्षा यह निरुक्तिसिद्ध[1] लक्षण किया है।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिङ्गविदिरित्तो।
इट्टावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥ २७४ ॥

नैव स्त्री नैव पुमान् नपुंसक उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः।

इष्टापाकाग्निसमानकवेदनागुरुकः कलुषचित्तः ॥ २७४ ॥

अर्थ—जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिङ्गोंसे रहित जीवको नपुंसक[2] कहते हैं। इसके अवा (भट्टा) में पकती हुई ईंटकी अग्निके समान तीव्र कषाय होती है। अत एव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है।

वेदरहित जीवोंको बताते हैं।

तिणकारिसिट्टपागग्गिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा सगसंभवणंतवरसोक्खा ॥ २७५ ॥

तृणकारीषेष्टपाकाग्निसदृशपरिणामवेदनोन्मुक्ताः।

अपगतवेदा जीवाः स्वकसम्भवानन्तवरसौख्याः ॥ २७५ ॥

अर्थ—तृणकी अग्नि कारीष अग्नि इष्टपाक अग्नि (अवाकी अग्नि) के समान वेद के परिणामोंसे रहित जीवोंको अपगतवेद कहते हैं। ये जीव अपनी आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुखको भोगते हैं।

वेदमार्गणामें पांच गाथाओं द्वारा जीवसंख्याका वर्णन करते हैं।

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसा य सण्णिणो जीवा।
तत्तेउपम्मलेस्सा संखगुणूणा कमेणेदे ॥ २७६ ॥

ज्योतिष्कवानयोनिनीतिर्यक्पुरुषाश्च संज्ञिनो जीवाः।

तत्तेजःपद्मलेश्याः संख्यगुणोनाः क्रमेणैते ॥ २७६ ॥

अर्थ—ज्योतिषी, व्यन्तर, योनिमती तिर्यंच, संज्ञी तिर्यंच, संज्ञी तिर्यंच तेजोलेश्या-वाले, तथा संज्ञीतिर्यंच पद्मलेश्यावाले जीव क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे

---

१ स्वं परं वा दोषैःस्तृणाति आच्छादयति इति स्त्रीः। २ न स्त्री न पुमानिति नपुंसकः।

हीन हैं। **भावार्थ**–६५५३६ से गुणित प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही ज्योतिषी जीवोंका प्रमाण है। इसमें क्रमसे असंख्यातगुणा २ कम करनेसे आगे २ की राशिका प्रमाण निकलता है।

इगिपुरिसे बत्तीसं देवी तज्जोगभजिददेवोघे ।
सगगुणगारेण गुणे पुरुषा महिला य देवेसु ॥ २७७ ॥

एकपुरुषे द्वात्रिंशद्देव्यः तद्योगभक्तदेवौघे ।
स्वकगुणकारेण गुणे पुरुषा महिलाश्च देवेषु ॥ २७७ ॥

अर्थ—देवगतिमें एक देवकी कमसे कम बत्तीस देवियां होती हैं। इसलिये देव और देवियोंके जोड़रूप तेतीसका समस्त देवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने २ गुणाकारके साथ गुणा करनेसे देव और देवियोंका प्रमाण निकलता है। **भावार्थ**—समस्त देवराशिमें तेतीसका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका एकके साथ गुणा करनेसे देवोंका और बत्तीसके साथ गुणा करनेसे देवियोंका प्रमाण निकलता है। यद्यपि इन्द्रादिकोंकी देवियोंका प्रमाण अधिक है; तथापि प्रकीर्णक देवोंकी अपेक्षा इन्द्रादिका प्रमाण अत्यल्प है, अतः उनकी यहां पर विवक्षा नहीं की है।

देवेहिं सादिरेया पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी ।
तेहिं विहीण सवेदो रासी संढाण परिमाणं ॥ २७८ ॥

देवैः सातिरेकाः पुरुषा देवीभिः साधिकाः स्त्रियः ।
तैर्विहीनः सवेदो राशिः पण्ढानां परिमाणम् ॥ २७८ ॥

अर्थ—देवोंसे कुछ अधिक, मनुष्य और तिर्यग्गतिसम्बन्धी पुंवेदवालोंका प्रमाण है। और देवियोंसे कुछ अधिक मनुष्य तथा तिर्यग्गति सम्बन्धी स्त्रीवेदवालोंका प्रमाण है। सवेद राशिमेंसे पुंवेद तथा स्त्रीवेदका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे वह नपुंसकोंका प्रमाण है।

गब्भणपुइत्थिसण्णी सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा ।
कुरुजा असण्णिगब्भजणपुइत्थीवाणजोइसिया ॥ २७९ ॥
थोवा तिसु संखगुणा तत्तो आवलिअसंखभागगुणा ।
पल्लासंखेज्जगुणा तत्तो सव्वत्थ संखगुणा ॥ २८० ॥

गर्भनपुस्त्रीसंज्ञिनः सम्मूर्छनसंज्ञिपूर्णका इतरे ।
कुरुजा असंज्ञिगर्भजनपुस्त्रीवानज्योतिष्काः ॥ २७९ ॥
स्तोकाः त्रिषु संख्यगुणाः तत आवल्यसंख्यभागगुणाः ।
पल्यासंख्येयगुणाः ततः सर्वत्र संख्यगुणाः ॥ २८० ॥

अर्थ—गर्भज संज्ञी नपुंसक १ पुलिङ्ग २ तथा स्त्रीलिङ्ग ३। सम्मूर्छन संज्ञी पर्याप्त ४ और अपर्याप्त ५। भोगभूमिया ६। असंज्ञी गर्भज नपुंसक ७ पुलिङ्ग ८ स्त्रीलिङ्ग ९। व्यन्तर १०। और ज्योतिषी ११। इन ग्यारह स्थानोंको क्रमसे स्थापन करना चाहिये। जिसमें पहला स्थान सबसे स्तोक है। और उससे आगेके तीन स्थान संख्यातगुणे २ हैं। पांचमा स्थान आवलीके असंख्यातमे भाग गुणा है। छट्ठा स्थान पल्यके असंख्यातमे भागगुणा है। इससे आगेके स्थान क्रमसे संख्यातगुणे २ हैं। **भावार्थ**—चोथे और पांचमे स्थानवाले जीव नपुंसक ही होते हैं। छट्टे स्थानवाले पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग ही होते हैं। ६५५३६ से गुणित प्रतराङ्गुलका, आठवार संख्यातका, एकवार आवलीके असंख्यातमे भागका, एकवार पल्यके असंख्यातमे भागका, जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही पहले स्थानका प्रमाण है। इससे आगेके तीन स्थान क्रमसे संख्यातगुणे २ हैं। पांचमा स्थान आवलीके असंख्यातमे भागगुणा, छट्ठा स्थान पल्यके असंख्यातमे भागगुणा, सातमा आठमा नौमा दशमा ग्यारहमा स्थान क्रमसे संख्यातगुणा २ है।

इति वेदमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त कषाय—मार्गणाके वर्णनकी आदिमें प्रथम कषायका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हैं।

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥ २८१ ॥

सुखदुःखसुबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषति जीवस्य।
संसारदूरमर्यादं तेन कषय इतीमं ब्रुवन्ति ॥ २८१ ॥

अर्थ—जीवके सुख दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रका (खेत) यह कर्षण करता है इसलिये इसको कषाय कहते हैं।

कृष धातुकी अपेक्षासे कषाय शब्दका अर्थ बताकर अब हिंसार्थक कष धातुकी अपेक्षासे कषाय शब्दकी निरुक्ति बताते हैं।

सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कषाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

सम्यक्तदेशसकलचरित्रयथाख्यातचरणपरिणामान्।
घातयन्ति वा कषायाः चतुःषोडशासंख्यलोकमिताः ॥ २८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व देशचारित्र सकलचारित्र यथाख्यातचारित्ररूपी परिणामोंको जो कषे ॥=न होनेदे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्या-

ख्यानावरण संज्वलन इसप्रकार चार भेद हैं । अनन्तानुबन्धी आदि चारोंके क्रोध मान माया लोभ इस तरह चार २ भेद होनेसे कषायके उत्तरभेद सोलह होते हैं । किन्तु कषायके उदयस्थानोंकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं । जो सम्यक्त्वको रोके उसको अनन्तानुबन्धी, जो देशचारित्रको रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण, जो सकलचारित्रको रोके उसको प्रत्याख्यानावरण, जो यथाख्यातचारित्रको रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं ।

शक्तिकी अपेक्षासे क्रोधादि चार कषायोंके चार गाथाओंद्वारा भेद गिनाते हैं ।

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८३ ॥

शिलापृथ्वीभेदधूलिजलराजिसमानको भवेत् क्रोधः ।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ॥ २८३ ॥

अर्थ—क्रोध[1] चार प्रकारका होता है । एक पत्थरकी रेखाके समान, दूसरा पृथ्वीकी रेखाके समान, तीसरा धूलिरेखाके समान, चौथा जलरेखाके समान । ये चारो प्रकारके क्रोध क्रमसे नरक तिर्यक् मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले हैं ।

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८४ ॥

शैलास्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदेनानुहरन् मानः ।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ॥ २८४ ॥

अर्थ—मान भी चार प्रकारका होता है । पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान, तथा वेंतके समान । ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक तिर्यञ्च मनुष्य तथा देव गतिके उत्पादक हैं । **भावार्थ**—जिस प्रकार पत्थर किसी तरह नहीं नमता, इस ही प्रकार जिसके उदयसे जीव किसी भी तरह नम्र न हो उसको शैलसमान (पत्थरके समान) मान कहते हैं । ऐसे मानकेउदयसे नरकगति उत्पन्न होती है । इस ही तरह अस्थिसमान (हड्डीके समान) आदिक मानको भी समझना चाहिये ।

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं ॥ २८५ ॥

वेणूपमूलोरभ्रकशृङ्गेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण ।
सदृशी माया नारकतिर्यग्नरामरगतिषु क्षिपति जीवम् ॥ २८५ ॥

अर्थ—माया भी चार प्रकारकी होती है । वांसकी जड़के समान, मेढ़ेके सींगके समान, गोमूत्रके समान, खुरपाके समान । यह चार तरहकी माया भी क्रमसे जीवको

१ अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकारके क्रोधमें प्रत्येक क्रोधके ये चार २ भेद समझने चाहिये.

नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देवगतिमें लेजाती है। **भावार्थ**—मायाके ये चार भेद कुटिलताकी अपेक्षासे हैं। जितनी अधिक कुटिलता इसमें पाई जाय उतनी ही उत्कृष्ट माया कही जाती है, और वह उक्त क्रमानुसार गतियोंकी उत्पादक होती हैं।

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥ २८६॥

क्रिमिरागचक्रतनुमलहरिद्रारागेण सदृशो लोभः।
नारकतिर्यग्मानुषदेवेषूत्पादकः क्रमशः॥ २८६॥

अर्थ—लोभ कषाय भी चार प्रकारका है। क्रिमिरागके समान, चक्रमल(रथ आदिकके पहियोंके भीतरकी ओंगन)के समान, शरीरके मलके समान, हल्दीके रंगके समान। यह भी क्रमसे नरक तिर्यञ्च मनुष्य देवगतिका उत्पादक है। **भावार्थ**—जिस प्रकार किरिमिजीका रंग अत्यंत गाढ़ होता है=बड़ी ही मुश्किलसे छूटता है। उसी प्रकार जो लोभ सबसे जादे गाढ़ हो उसको किरिमिजी के समान कहते हैं। इससे जो जल्दी २ छूटनेवाले हैं उनको क्रमसे ओंगन, शरीरमल, हल्दी के रंगके समान कहते हैं,

नरकादि गतिमें उत्पत्तिके प्रथम समयमें बहुलताकी अपेक्षासे क्रोधादिकके उदयका नियम बताते हैं।

णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि॥ २८७॥

नारकतिर्यग्नरसुरगतिषूत्पन्नप्रथमकाले।
क्रोधो माया मानो लोभोदयः अनियमो वापि॥ २८७॥

अर्थ—नरक तिर्यञ्च मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें क्रमसे क्रोध माया मान और लोभका उदय होता है। अथवा अनियम भी है। **भावार्थ**—नरकगतिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समयमें क्रोधका उदय होता है। परन्तु किसी २ आचार्यका मत है कि ऐसा नियम नहीं हैं। इस ही प्रकार तिर्यग्गतिमें उत्पन्न होनेवालेके प्रथम समयमें किसी आचार्यके मतसे नियमसे माया कषायका उदय होता है। और मनुष्यगतिके प्रथम समयमें मानका तथा देवगतिके प्रथम समयमें लोभ कषायका उदय होता है।

कषायरहित जीवोंको बताते हैं।

अप्पपरोभयबाधणबंधासंजमणिमित्तकोहादी।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा॥ २८८॥

आत्मपरोभयबाधनबन्धासंयमनिमित्तक्रोधादयः।
येषां न सन्ति कषाया अमला अकषायिणो जीवाः॥ २८८॥

अर्थ—जिनके, खुदको दूसरेको तथा दोनोंको ही बाधा देने और बन्धन करने तथा असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ।

क्रोधादि कषायोंके शक्तिकी अपेक्षासे स्थान वताते हैं ।

कोहादिकसायाणं चउ चउदसवीस होंति पदसंखा ।
सत्तीलेस्साआउगबंधाबंधगदभेदेहिं ॥ २८९ ॥

क्रोधादिकषायाणां चत्वारश्चतुर्दशविंशतिः भवन्ति पदसंख्याः ।
शक्तिलेश्याऽऽयुष्कबंधाबंधगतभेदैः ॥ २८९ ॥

अर्थ—शक्ति, लेश्या, तथा आयुके बंधाबन्ध गत भेदोंकी अपेक्षासे क्रोधादिक कषायोंके क्रमसे चार चौदह और वीस स्थान होते हैं । **भावार्थ**—शक्तिकी अपेक्षा चार, लेश्याकी अपेक्षा चौदह और आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोंके वीस स्थान होते हैं ।

शक्तिकी अपेक्षासे होनेवाले चार स्थानोंको गिनाते हैं ।

सिलसेलवेणुमूलक्किमिरायादी कमेण चत्तारि ।
कोहादिकसायाणं सत्तिं पडि होंति णियमेण ॥ २९० ॥

शिलाशैलवेणुमूलक्रिमिरागादीनि क्रमेण चत्वारि ।
क्रोधादिकषायाणां शक्तिं प्रति भवन्ति नियमेन ॥ २९० ॥

अर्थ—शिलाभेद आदिक चार प्रकारका क्रोध, शैलसमान आदिक चार प्रकारका मान, वेणु (वांस) मूलके समान आदिक चार तरहकी माया, क्रिमिरागके समान आदिक चार प्रकारका लोभ, इस तरह क्रोधादिक कषायोंके उक्त नियमके अनुसार क्रमसे शक्तिकी अपेक्षा चार २ स्थान हैं ।

लेश्याकी अपेक्षा होनेवाले चौदह स्थानोंको गिनाते हैं ।

किण्हं सिलासमाणे किण्हादी छक्कमेण भूमिम्हि ।
छक्कादी सुक्कोत्ति य धूलिम्मि जलम्मि सुक्केक्का ॥ २९१ ॥

कृष्णा शिलासमाने कृष्णादयः षट् क्रमेण भूमौ ।
षट्कादिः शुक्लेति च धूलौ जले शुक्लैका ॥ २९१ ॥

अर्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्ण लेश्याकी अपेक्षासे एक ही स्थान होता है । पृथ्वीसमान क्रोधमें कृष्ण आदिक लेश्याकी अपेक्षा छह स्थान हैं । धूलिसमान क्रोधमें छह लेश्यासे लेकर शुक्ललेश्यापर्यन्त छह स्थान होते हैं । और जलसमान क्रोधमें केवल एक शुक्ललेश्या ही होती है । **भावार्थ**—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्णलेश्याका एक

ही स्थान होता है । पृथ्वीभेदसमान क्रोधमें छह स्थान होते हैं, पहला केवल कृष्णलेश्याका, दूसरा कृष्ण नील लेश्याका, तीसरा कृष्ण नील कपोत लेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याका, पांचमा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याका, छट्टा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म शुक्ललेश्याका । इस ही प्रकार धूलिरेखा समान क्रोधमें भी छह स्थान होते हैं । पहला कृष्णादिक छह लेश्याका, दूसरा कृष्णरहित पांचलेश्याका, तीसरा कृष्ण नीलरहित चारलेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोतरहित अन्तकी तीन शुभ लेश्याओंका, पांचमा पद्म और शुक्ल लेश्याका, छट्टा केवल शुक्ल लेश्याका । जलरेखा समान क्रोधमें एक शुक्ल लेश्याका ही स्थान होता है । जिस प्रकार क्रोधके लेश्याओंकी अपेक्षा ये चौदह स्थान बताये उस ही तरह मानादिक कषायमें भी चौदह २ भेद समझना चाहिये ।

आयुके बंधाबंधकी अपेक्षासे तीन गाथाओंद्वारा वीस स्थानोंको गिनाते हैं ।

सेलगकिण्हे सुण्णं णिरयं च य भूगएगबिट्ठाणे ।
णिरयं इगिबितिआऊ तिट्ठाणे चारि सेसपदे ॥ २९२ ॥

शैलगकृष्णे शून्यं निरयं च च भूगैकद्विस्थाने ।
निरयमेकद्वित्र्यायुस्त्रिस्थाने चत्वारि शेषपदे ॥ २९२ ॥

अर्थ—शैलगत कृष्णलेश्यामें कुछ स्थान तो ऐसे हैं कि जहांपर आयुबन्ध नहीं होता, इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे हैं कि जिनमें नरक आयुका बन्ध होता है । इसके बाद पृथ्वीभेदगत पहले और दूसरे स्थानमें नरक आयुका ही बन्ध होता है । इसके भी बाद कृष्ण नील कपोत लेश्याके तीसरे भेदमें (स्थानमें) कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक आयुका ही बन्ध होता है, और कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक तिर्यञ्च दो आयुका बन्ध होसकता है, तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जहांपर नरक तिर्यञ्च तथा मनुष्य तीनों ही आयुका बन्ध हो सकता है । शेषके तीन स्थानोंमें चारो आयुका बन्ध हो सकता है ।

धूलिगछक्कट्ठाणे चउराऊतिगदुगं च उवरिल्लं ।
पणचदुठाणे देवं देवं सुण्णं च तिट्ठाणे ॥ २९३ ॥

धूलिगषट्कस्थाने चतुरायूंषि त्रिकद्विकं चोपरितनम् ।
पञ्चचतुर्थस्थाने देवं देवं शून्यं च तृतीयस्थाने ॥ २९३ ॥

अर्थ—धूलिभेदगत छहलेश्यावाले प्रथम भेदके कुछ स्थानोंमें चारो आयुका बन्ध होता है, इसके अनन्तर कुछ स्थानोंमें नरक आयुको छोड़कर शेष तीन आयुका और कुछ स्थानोंमें नरक तिर्यञ्चको छोड़कर शेष दो आयुका बन्ध होता है । कृष्णलेश्याको छोड़कर पांचलेश्यावाले दूसरे स्थानमें तथा कृष्ण नीललेश्याको छोड़कर शेष चार लेश्या-

वाले तृतीयस्थानमें केवल देव आयुका बंध होता है । अन्तकी तीन शुभ लेश्यावाले चौथे भेदके कुछ स्थानोंमें देवायुका बन्ध होता है और कुछ स्थानोंमें आयुका अबन्ध है ।

सुण्णं दुगइगिठाणे जलम्हि सुण्णं असंखभजिदकमा ।
चउचोदसवीसपदा असंखलोगा हु पत्तेयं ॥ २९४ ॥

शून्यं द्विकैकस्थाने जले शून्यमसंख्यभजितक्रमाः ।
चतुश्चतुर्दशविंशतिपदा असंख्यलोका हि प्रत्येकम् ॥ २९४ ॥

अर्थ—इस हीके (धूलिभेदगतहीके) पद्म और शुक्लेश्यावाले पांचमे स्थानमें और केवल शुक्लेश्यावाले छट्ठे स्थानमें आयुका अबन्ध है, तथा जलभेदगत केवल शुक्लेश्या-वाले एक स्थानमें भी आयुका अबन्ध है । इस प्रकार कषायोंके शक्तिकी अपेक्षा चार भेद, लेश्याओंकी अपेक्षा चौदह भेद, आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षा वीस भेद हैं । इनमें प्रत्येकके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं । तथा अपने २ उत्कृष्टसे अपने २ जघन्यपर्यन्त क्रमसे असंख्यातगुणे २ हीन हैं ।

कषायमार्गणामें तीन गाथाओंद्वारा जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

पुह पुह कसायकालो णिरये अंतोमुहुत्तपरिमाणो ।
लोहादी संखगुणो देवेसु य कोहपहुदीदो ॥ २९५ ॥

पृथक् पृथक् कषायकालः निरये अन्तर्मुहूर्तपरिमाणः ।
लोभादिः संख्यगुणो देवेषु च क्रोधप्रभृतितः ॥ २९५ ॥

अर्थ—नरकमें नारकियोंके लोभादि कषायका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त मात्र होने-पर भी पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर कषायका काल पृथक् २ संख्यातगुणा २ है । और देवोंमें क्रोधादिक लोभपर्यन्त कषायोंका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त; किन्तु विशेषरूपसे पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका संख्यातगुणा २ काल है । **भावार्थ**—यद्यपि सामान्यसे प्रत्येक कषायका काल अन्तर्मुहूर्त है, तथापि नारकियोंके जितना लोभका काल है उससे संख्यातगुणा मायाका काल है, और जितना मायाका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानके कालसे भी संख्यागुणा क्रोधका काल है । किन्तु देवोंमें इससे विपरीत है । अर्थात् जितना कोधका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानसे संख्यातगुणा मायाका और मायासे संख्यातगुणा लोभका काल है ।

सवसमासेणवहिदसगसगरासी पुणोवि संगुणिदे ।
सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीणपरिमाणं ॥ २९६ ॥

सर्वसमासेनावहितस्वकस्वकराशौ पुनरपि संगुणिते ।
स्वकस्वकगुणकारैश्च स्वकस्वकराशीनां परिमाणम् ॥ २९६ ॥

अर्थ—अपनी २ गतिमें सम्भव जीवराशिमें समस्त कषायोंके उदयकालके जोड़का भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने २ गुणाकारसे गुणन करनेपर अपनी राशिका परिमाण निकलता है। **भावार्थ**—कल्पना कीजिये कि देवगतिमें देव राशिका प्रमाण १७०० है और क्रोधादिकके उदयका काल क्रमसे ४, १६, ६४, २५६ है। इस लिये समस्त कषायोदयके कालका जोड़ ३४० हुआ। इसका उक्त देवराशिमें भाग देनेसे लब्ध ५ आते हैं। इस लब्ध राशिका अपने कषायोदयकालसे गुणा करने पर अपनी २ राशिका प्रमाण निकलता है। यदि क्रोधकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो ४ से गुणा करने पर वीस निकलता है, यदि मानकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो १६ से गुणा करनेपर ८० प्रमाण निकलता है। इस ही प्रकार आगे भी समझना। जिस तरह यह देवोंकी अङ्कसंदृष्टि कही उस ही तरह नारकियोंकी भी समझना, किन्तु अङ्कसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझना। क्रोधादि कषायवाले जीवोंकी संख्या निकालनेका यह क्रम केवल देव तथा नरकगतिमें ही समझना।

मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंमें कषायवाले जीवोंका प्रमाण बताते हैं।

णरतिरिय लोहमायाकोहो माणो विइंदियादिव।
आवलिअसंखभज्जा सगकालं वा समासेज्ज॥ २९७॥

नरतिरश्चोः लोभमायाक्रोधो मानो द्वीन्द्रियादिवत्।
आवल्यसंख्यभाज्याः स्वककालं वा समासाद्य॥ २९७॥

अर्थ—जिस प्रकार द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवोंकी संख्या पहले निकाली हैं उसही क्रमसे मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके लोभ माया क्रोध और मानवाले जीवोंका प्रमाण आवलीके असंख्यातमे भाग क्रमसे निकालना चाहिये। अथवा अपने २ कालकी अपेक्षासे उक्त कषायवाले जीवोंका प्रमाण निकालना चाहिये। **भावार्थ**—चारो कषायोंका जितना प्रमाण है उसमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभागको चारों जगह समान रूपसे विभक्त करना और शेष एक भागका **"बहुभागे समभागो"** इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार विभाग करनेसे चारो कषायवालोंका प्रमाण निकलता है। अथवा यदि इतने कालमें इतने जीव रहते हैं तो इतने कालमें कितने रहेंगे इस त्रैराशिक विधानसे भी कषायवालोंका प्रमाण निकलता है।

इति कषायमार्गणाधिकारः॥

क्रमप्राप्त ज्ञानमार्गणाके प्रारम्भमें ज्ञानका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण कहते हैं।

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति॥ २९८॥

जानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च बहुभेदान् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षमनेन ज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ २९८ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक (भूत भविष्यत् वर्तमान) समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको जाने उसको ज्ञान कहते हैं । इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष ।

ज्ञानके भेदोंको दिखाते हुए उनका क्षायोपशमिक और क्षायिकरूपसे विभाग करते हैं ।

पंचेव होंति णाणा मदिसुदओहीमणं च केवलयं ।
खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ॥ २९९ ॥

पञ्चैव भवन्ति ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।
क्षायोपशमिकानि चत्वारि केवलज्ञानं भवेत् क्षायिकम् ॥ २९९ ॥

अर्थ—ज्ञानके पांच भेद हैं । मति श्रुत अवधि मनःपर्यय तथा केवल । इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है ।

मिथ्याज्ञानका कारण और स्वामी बताते हैं ।

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये ।
णवरि विभंगं णाणं पंचिंदियसण्णिपुण्णेव ॥ ३०० ॥

अज्ञानत्रिकं भवति हि सद्ज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वानोदये ।
नवरि विभङ्गं ज्ञानं पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपूर्ण एव ॥ ३०० ॥

अर्थ—आदिके तीन (मति श्रुत अवधि) ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं । ज्ञानके मिथ्या होनेका अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायका उदय है । मिथ्या अवधिको विभंग भी कहते हैं । इसमें यह विशेषता है कि यह विभंग ज्ञान संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रियके ही होता है ।

मिश्रज्ञानका कारण और मनःपर्ययज्ञानका स्वामी बताते हैं ।

मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।
संजमविसेससहिए मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं ॥ ३०१ ॥

मिश्रोदये संमिश्रमज्ञानत्रयेण ज्ञानत्रयमेव ।
संयमविशेषसहिते मनःपर्ययज्ञानमुद्दिष्टम् ॥ ३०१ ॥

अर्थ—मिश्र प्रकृतिके उदयसे आदिके तीन ज्ञानोंमें समीचीनता तथा मिथ्यापना दोनों ही पाये जाते हैं, इसलिये इनको मिश्र ज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान जिनके विशेष संयम होता है उनहीके होता है । **भावार्थ**—मनःपर्यय ज्ञान प्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय

गुणस्थानपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें होता है; परन्तु इनमें भी जिनका चारित्र उत्तरोत्तर बर्धमान होता है उनहीके होता है ।

तीन गाथाओंमें दृष्टान्तद्वारा मिथ्याज्ञानोंको स्पष्ट करते हैं ।

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण ।
जा खलु पवट्टइ मई मइअण्णाणंत्तिणं बेंति ॥ ३०२ ॥

विषयन्त्रकूटपञ्जरबंधादिषु विनोपदेशकरणेन ।
या खलु प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०२ ॥

अर्थ—दूसरेके उपदेशके विना जो विष यन्त्र कूट पंजर तथा बंध आदिकके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं । **भावार्थ**—जिसके खानेसे जीव मर सके उस द्रव्यको विष कहते हैं । भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बन्द होजाय, और जिसके भीतर बकरी आदिको बांधकर सिंह आदिकको पकड़ा जाता है उसको यन्त्र कहते हैं । जिससे मूसे वगैरह पकड़े जाते हैं उसको कूट कहते हैं । रस्सीमें गांठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं । हाथी आदिको पकड़नेके लिये जो गड्ढे आदिक बनाये जाते हैं उनको बंध कहते हैं । इत्यादिक पदार्थोंमें दूसरेके उपदेशके विना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं; क्योंकि उपदेशपूर्वक होनेसे वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायगा ।

आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादिउवएसा ।
तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणंति णं बेंति ॥ ३०३ ॥

आभीतमासुरक्षं भारतरामायणाद्युपदेशाः ।
तुच्छा असाधनीया श्रुताज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०३ ॥

अर्थ—चौरशास्त्र, तिथा हिंसाशास्त्र, भारत, रामायण आदिके परमार्थशून्य अत एव अनादरणीय उपदेशोंको मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं ।

विबरीयमोहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च ।
वेभंगोत्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्हि ॥ ३०४ ॥

विपरीतमवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं च कर्म्मबीजं च ।
विभङ्ग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये ॥ ३०४ ॥

अर्थ—सर्वज्ञोंके उपदिष्ट आगममें विपरीत अवधि ज्ञानको विभङ्ग कहते हैं । इसके दो भेद हैं, एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय । **भावार्थ**—देव नारकियोंके विपरीत अवधिज्ञानको भवप्रत्यय विभङ्ग कहते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके विपरीत अवधिज्ञानको क्षायोपशमिक विभंग कहते हैं । इस विभङ्गका अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्व आदिक कर्म

हैं । इसके निमित्तसे विशिष्ट (समीचीन) अवधिज्ञानके भङ्ग होनेको (विपरीत होनेको) **विभङ्ग** कहते हैं । यह इसका (विभङ्गका) निरुक्तिसिद्ध अर्थ है ।

मतिज्ञानका स्वरूप, उत्पत्ति, कारण, भेद, विषय नौ गाथाओंमें दिखाते हैं ।

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइंदियजम् ।
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं ॥ ३०५ ॥

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजम् ।
अवग्रहेहावायधारणका भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ३०५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे अभिमुख और नियमित पदार्थका जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक कहते हैं । इसमें प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद हैं । **भावार्थ**—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको अभिमुख कहते हैं । और जैसे चक्षुका रूप विषय है इस ही तरह जिस इन्द्रियका जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं । इस तरहके पदार्थोंका मन अथवा स्पर्शन आदिक पांच इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं । इस प्रकार मन और इन्द्रियकी अपेक्षासे मतिज्ञानके छह भेद हुए । इसमें भी प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद होते हैं । प्रत्येकके चार २ भेद होते हैं इसलिये छहको चारसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौवीस भेद होते हैं ।

अवग्रहके भी भेद आदिक दिखाते हैं ।

वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे ।
कमसो ते वावरिदा पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ॥ ३०६ ॥

व्यञ्जनार्थावग्रहभेदौ हि भवतः प्राप्ताप्राप्तार्थे ।
क्रमशस्तौ व्यापृतौ प्रथमो नहि चक्षुर्मनसोः ॥ ३०६ ॥

अर्थ—अवग्रहके दो भेद हैं, एक व्यञ्जनावग्रह दूसरा अर्थावग्रह । जो प्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं, और जो अप्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं । और ये पहले व्यञ्जनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रमसे होते हैं । तथा व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता । **भावार्थ**—इन्द्रियोंसे प्राप्त=सम्बद्ध अर्थको व्यञ्जन कहते हैं, और अप्राप्त=असम्बद्ध पदार्थको अर्थ कहते हैं । और इनके ज्ञानको क्रमसे व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह कहते हैं । (शङ्का) राजवार्तिकादिकमें व्यञ्जन शब्दका अर्थ अव्यक्त किया है, और यहां पर प्राप्त अर्थ किया है, इस लिये परस्पर विरोध आता है । (उत्तर) व्यञ्जन शब्दके अनभिव्यक्ति तथा प्राप्ति दोनो अर्थ होते हैं । इसलिये इसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होने पर भी जब तक प्रकट न

हो तब तक उसको व्यञ्जन कहते हैं, प्रकट होनेपर अर्थ कहते हैं। अत एव चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता; क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। जिस तरह नवीन मट्टीके सकोरा आदिपर एक दो पानीकी बूंद पड़नेसे वह व्यक्त नहीं होती; किन्तु अधिक बूंद पड़नेसे वही व्यक्त हो उठती है। इस ही तरह श्रोत्रादिकके द्वारा प्रथम अव्यक्त शब्दादिकके ग्रहणको व्यंजनावग्रह, और पीछे उसहीको प्रकटरूपसे ग्रहण करनेपर अर्थावग्रह कहते हैं। व्यंजन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इसलिये चार इन्द्रियोंकी अपेक्षा व्यंजनावग्रहके चार ही भेद हैं। पूर्वोक्त चौवीस भेदोंमें इन चार भेदोंको मिलानेसे मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद होते हैं।

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा॥ ३०७॥

विषयाणां विषयिणां संयोगानन्तरं भवेत् नियमात्।
अवग्रहज्ञानं गृहीते विशेषाकांक्षा भवेदीहा॥ ३०७॥

अर्थ—पदार्थ और इन्द्रियोंका योग्य क्षेत्रमें अवस्थानरूप सम्बन्ध होनेपर सामान्यका अवलोकन करनेवाला दर्शन होता है। और इसके अनन्तर विशेष आकार आदिकको ग्रहण करनेवाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया है उसहीके किसी विशेष अंशको ग्रहण करनेवाला ईहा ज्ञान होता है। **भावार्थ**—जिस तरह किसी दाक्षिणात्य पुरुषको देखकर यह कुछ है इस तरहके महासामान्यावलोकनको दर्शन कहते हैं। इसके अनन्तर 'यह पुरुष है' इस तरहके ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। और इसके अनन्तर "यह दाक्षिणात्य ही होना चाहिये" इस तरहके विशेष ज्ञानको ईहा कहते हैं।

ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालांतरेवि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं॥ ३०८॥

ईहनकरणेन यदा सुनिर्णयो भवति स अवायस्तु।
कालान्तरेऽपि निर्णीतवस्तुस्मरणस्य कारणं तुर्यम्॥ ३०८॥

अर्थ—ईहा ज्ञानके अनन्तर वस्तुके विशेष चिह्नोंको देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा वेष विन्यास आदिको देखकर "यह दाक्षिणात्य ही है" इस तरहके निश्चयको अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तुका कालान्तरमें भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

उक्त चार तरहके ज्ञानोंका बारह तरहका विषय दिखाते हैं।

बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।
तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु॥ ३०९॥ 3-71.91.2-5

बहु बहुविधं च क्षिप्रानिःसृदनुक्तं ध्रुवं च इतरच्च ।
तत्रैकैकस्मिन् जाते षट्त्रिंशत् त्रिशतभेदं तु ॥ ३०९ ॥

अर्थ—उक्त मतिज्ञानके विषयभूत व्यंजन पदार्थके बारह भेद हैं । बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत्, निसृत्, अनुक्त, उक्त । इनमेंसे प्रत्येक विषयमें मतिज्ञानके उक्त अट्ठाईस भेदोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये बारहको अट्ठाईससे गुणा करनेपर मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं ।

बहुवत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणम्हि ।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा ॥ ३१० ॥

बहुव्यक्तिजातिग्रहणे बहु बहुविधमितरदितरग्रहणे ।
स्वकनामतः सिद्धाः क्षिप्रादयः सेतराश्च तथा ॥ ३१० ॥

अर्थ—एक जातिकी बहुतसी व्यक्तियोंको बहु कहते हैं । अनेक जातिके बहुत पदार्थोंको बहुविध कहते हैं । एक जातिकी एक व्यक्तिको अल्प (एक) कहते हैं । एक जातिकी अनेक व्यक्तियोंको एकविध कहते हैं । क्षिप्रादिक तथा उनके प्रतिपक्षियोंका उनके नामसे ही अर्थ सिद्ध है । **भावार्थ**—शीघ्र पदार्थको क्षिप्र कहते हैं, जैसे तेजीसे वहता हुआ जलप्रवाह । मन्द पदार्थको अक्षिप्र कहते हैं, जैसे कछुआ, धीरे २ चलनेवाला घोडा मनुष्य आदि । छिपे हुएको (अप्रकट) अनिसृत कहते हैं, जैसे जलमें डूबा हुआ हस्ती आदि । प्रकट पदार्थको निसृत कहते हैं, जैसे सामने खड़ा हुआ हस्ती । जो पदार्थ अभिप्रायसे समझा जाय उसको अनुक्त कहते हैं । जैसे किसीके हाथ या शिरसे इसारा करने पर किसी कामके विषयमें हां या ना समझना । जो शब्दके द्वारा कहा जाय उसको उक्त कहते हैं, जैसे यह घट है । स्थिर पदार्थको ध्रुव कहते हैं, जैसे पर्वत आदि । क्षणस्थायी (अस्थिर) पदार्थको अध्रुव कहते हैं, जैसे विजली आदि ।

अनिसृत ज्ञानविशेषको दिखाते हैं ।

वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा ।
सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई ॥ ३११ ॥

वस्तुनः प्रदेशात् वस्तुग्रहणं तु वस्तुदेशं वा ।
सकलं वा अवलम्ब्य अनिसृतमन्यवस्तुगतिः ॥ ३११ ॥

अर्थ—वस्तुके एकदेशको देखकर समस्त वस्तुका ज्ञान होना, अथवा वस्तुके एकदेश या पूर्ण वस्तुका ग्रहण करके उसके निमित्तसे किसी दूसरी वस्तुके होनेवाले ज्ञानको भी अनिसृत कहते हैं ।

इसका दृष्टान्त दिखाते हैं।

पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा।
वत्थंतरचंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे॥ ३१२॥

पुष्करग्रहणे काले हस्तिनश्च वदनगवयग्रहणे वा।
वस्त्वन्तरचन्द्रस्य च धेनोश्च बोधनं च भवेत्॥ ३१२॥

अर्थ—जलमें डूबे हुए हस्तीकी सूंडको देखकर उस ही समयमें जलमग्न हस्तीका ज्ञान होना, अथवा मुखको देखकर उस ही समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमाका ज्ञान होना, अथवा गवयको देखकर उसके सदृश गौका ज्ञान होना। इनको अनिसृत ज्ञान कहते हैं।

सामान्य विषय अर्ध विषय और पूर्ण विषयकी अपेक्षासे मतिज्ञानके स्थानोंको गिनाते हैं।

एकचउक्कं चउवीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा।
इगिछवारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि॥ ३१३॥

एकचतुष्कं चतुर्विंशत्यष्टाविंशतिश्च त्रिःप्रतिं कृत्वा।
एकषड्द्वादशगुणिते मतिज्ञाने भवन्ति स्थानानि॥ ३१३॥

अर्थ—मतिज्ञान सामान्यकी अपेक्षा एक भेद, अवग्रह ईहा अवाय धारणाकी अपेक्षा चार भेद, पांच इन्द्रिय और छट्टे मनसे अवग्रहादि चारके गुणा करनेकी अपेक्षा चौवीस भेद, अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रहकी अपेक्षासे अट्ठाईस भेद मतिज्ञानके होते हैं। इनको क्रमसे तीन पंक्तियोंमें स्थापन करके एक छह और बारहसे यथाक्रमसे गुणा करनेपर मतिज्ञानके सामान्य अर्ध और पूर्ण स्थान होते हैं। **भावार्थ**—विषयसामान्यसे यदि इन चारका गुणा किया जाय तो क्रमसे एक चार चौवीस और अट्ठाईस स्थान होते हैं। और यदि इन चार हीका बहु आदिक छहसे गुणा किया जाय तो मतिज्ञानके अर्ध स्थान होते हैं। और बहु आदिक बारहसे यदि गुणा किया जाय तो पूर्ण स्थान होते हैं।

क्रमप्राप्त श्रुत ज्ञानका विशेष वर्णन करनेसे पहले उसका सामान्य लक्षण कहते हैं।

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥ ३१४॥

अर्थादर्थान्तरमुपलभमानं भणन्ति श्रुतज्ञानम्।
आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेनेह शब्दजं प्रमुखम्॥ ३१४॥

अर्थ—मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थसे भिन्न पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस तरह,

अथवा शब्दजन्य और लिङ्गजन्य इस तरहसे दो भेद हैं, इनमें मुख्य शब्दजन्य श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञानके भेद गिनाते हैं।

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।
वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं॥ ३१५॥

लोकानामसंख्यमितानि अनक्षरात्मके भवन्ति षट् स्थानानि। द्विरूपषष्ठवर्गप्रमाणं रूपोनमक्षरगम्॥ ३१५॥

अर्थ—अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि इन षट्स्थानपतित वृद्धिकी अपेक्षासे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके सबसे जघन्य स्थानसे लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त असंख्यातलोकप्रमाण भेद होते हैं। द्विरूपवर्गधारामें छट्ठे वर्गका जितना प्रमाण है (एकट्ठी) उसमें एक कम करनेसे जितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण है **भावार्थ**—अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं। अपुनरुक्त अक्षरात्म श्रुतज्ञानके संख्यात भेद हैं, और पुनरुक्त अक्षरात्मकका प्रमाण इससे कुछ अधिक है।

दूसरी तरहसे श्रुतज्ञानके भेद दो गाथाओंमें गिनाते हैं।

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥ ३१६॥
तेसिं च समासेहि य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं।
आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंतित्ति॥ ३१७॥

पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च।
द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च॥ ३१६॥
तेषां च समासैश्च विंशविधं वा हि भवति श्रुतज्ञानम्।
आवरणस्यापि भेदाः तावन्मात्रा भवन्ति इति॥ ३१७॥

अर्थ—पर्याय पर्यायसमास अक्षर अक्षरसमास पद पदसमास संघात संघातसमास प्रतिपत्तिक प्रतिपत्तिकसमास अनुयोग अनुयोगसमास प्राभृतप्राभृत प्राभृतप्राभृतसमास प्राभृत प्राभृतसमास वस्तु वस्तुसमास पूर्व पूर्वसमास, इस तरह श्रुतज्ञानके वीस भेद हैं। इस ही लिये श्रुतज्ञानावरण कर्मके भी वीस भेद होते हैं। किन्तु पर्यायावरण कर्मके विषयमें कुछ भेद है उसको आगेके गाथामें बतावेंगे।

चार गाथाओंमें पर्याय ज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं।

णवरि विसेसं जाणे सुहमजहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्हि॥ ३१८॥

नवरि विशेषं जानीहि सूक्ष्मजघन्यं तु पर्यायं ज्ञानम् ।
पर्यायावरणं पुनः तदनन्तरज्ञानभेदे ॥ ३१८ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं । इसमें विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करनेवाले कर्मके उदयका फल इसमें (पर्याय ज्ञानमें) नहीं होता; किन्तु इसके अनन्तरज्ञानके (पर्यायसमास) प्रथम भेदमें होता है । **भावार्थ**—यदि पर्यायावरण कर्मके उदयका फल पर्यायज्ञानमें होजाय तो ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका भी अभाव होजाय, इसलिये पर्यायावरण कर्मका फल उसके आगेके ज्ञानके प्रथम भेद में ही होता है । इसीलिये कमसे कम पर्यायरूप ज्ञान जीवके अवश्य पाया जाता है ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणम् ॥ ३१९ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।
भवति हि सर्वजघन्यं नित्योद्घाटं निरावरणम् ॥ ३१९ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें सबसे जघन्य ज्ञान होता है । इसीको पर्याय ज्ञान कहते हैं । इतना ज्ञान हमेशह निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है ।

पर्याय ज्ञानके स्वामीकी विशेषता दिखाते हैं ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण ।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्टियेव हवे ॥ ३२० ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तगेषु स्वकसम्भवेषु भ्रमित्वा ।
चरमापूर्णत्रिवक्राणामादिमवक्रस्थिते एव भवेत् ॥ ३२० ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने २ जितने भव (छह हजार बारह) सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोड़ाओंके द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोड़ाके समयमें सर्वजघन्य ज्ञान होता है ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥ ३२१ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।
स्पर्शेन्द्रियमतिपूर्वं श्रुतज्ञानं लब्ध्यक्षरकम् ॥ ३२१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है । **भावार्थ**—लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका है, और अक्षर नाम अविनश्वरका है; इसलिये इस ज्ञानको

लब्ध्यक्षर कहते हैं; क्योंकि इस क्षयोपशमका कभी विनाश नहीं होता, कमसे कम इतना क्षयोपशम तो जीवके रहता ही है ।

पर्यायसमास ज्ञानका निरूपण करते हैं ।

अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए ।
संखमसंखमणंतं गुणवड्ढी होंति हु कमेण ॥ ३२२ ॥

अवरोपरि अनन्तमसंख्यं संख्यं च भागवृद्धयः ।
संख्यमसंख्यमनन्तं गुणवृद्धयो भवन्ति हि क्रमेण ॥ ३२२ ॥

अर्थ—सर्वजघन्य पर्याय ज्ञानके ऊपर क्रमसे अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं ।

जीवाणं च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेज्जं ।
भागगुणम्हि य कमसो अवट्ठिदा होंति छट्ठाणा ॥ ३२३ ॥

जीवानां च च राशिः असंख्यलोका वरं खलु संख्यातम् ।
भागगुणयोश्च क्रमशः अवस्थिता भवन्ति षट्स्थाने ॥ ३२३ ॥

अर्थ—समस्त जीवराशि, असंख्यातलोकप्रमाण राशि, उत्कृष्ट संख्यात राशि ये तीन राशि, पूर्वोक्त अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानोंमें भागहार अथवा गुणाकारकी क्रमसे अवस्थित राशि हैं । **भावार्थ**—अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीवराशिप्रमाण अवस्थित है । असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यातलोकप्रमाण अवस्थित है । संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है ।

लाघवके लिये छह वृद्धियोंकी छह संज्ञा रखते हैं ।

उव्वंकं चउरंकं पणछस्सत्तंक अट्ठअंकं च ।
छवड्ढीणं सण्णा कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं ॥ ३२४ ॥ ✗

उर्वङ्कश्चतुरङ्कः पञ्चषट्सप्ताङ्कः अष्टाङ्कश्च ।
षड्वृद्धीनां संज्ञा क्रमशः संदृष्टिकरणार्थम् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—लघुरूप संदृष्टिकेलिये क्रमसे छह वृद्धियोंकी ये छह संज्ञा हैं । अनन्तभागवृद्धिकी उर्वङ्क, असंख्यातभागवृद्धिकी चतुरङ्क, संख्यातभागवृद्धिकी पञ्चाङ्क, संख्यातगुणवृद्धिकी षडङ्क, असंख्यातगुणवृद्धिकी सप्ताङ्क, अनन्तगुणवृद्धिकी अष्टाङ्क ।

अङ्गुलअसंखभागे पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी ।
एक्कं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्ढित्ती ॥ ३२५ ॥

अङ्गुलासंख्यातभागे पूर्वगवृद्धिगते तु परवृद्धिः ।
एकं वारं भवति हि पुनः पुनः चरमवृद्धिरिति ॥ ३२५ ॥

अर्थ—सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण पूर्व वृद्धि होनेपर एक बार उत्तर वृद्धि होती है। यह नियम अंतकी वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिये। **भावार्थ**—सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर एक वार असंख्यातभागवृद्धि होती है, इसके अनन्तर सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर फिर एकवार असंख्यातभागवृद्धि होती है। इस क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि भी जब सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण होजाय तब सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर एक वार संख्यातभागवृद्धि होती है। इस ही तरह अन्तकी वृद्धिपर्यन्त जानना।

आदिमछट्ठाणम्हि य पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु ।
छवड्ढीओ होंति हु सरिसा सवत्थ पदसंखा ॥ ३२६ ॥

आदिमषट्स्थाने च पञ्च च वृद्धयो भवन्ति शेषेषु ।
षड्वृद्धयो भवन्ति हि सदृशा सर्वत्र पदसंख्या ॥ ३२६ ॥

अर्थ—असंख्यातलोकप्रमाण षट्स्थानोंमेसे प्रथम षट्स्थानमें पांच ही वृद्धि होती हैं, अष्टाङ्क वृद्धि नहीं होती। शेष सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें अष्टाङ्कसहित छह वृद्धि होती हैं। सूच्यङ्गुलका असंख्यातमा भाग अवस्थित है इसलिये पदोंकी संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिये।

प्रथम षट्स्थानमें अष्टाङ्कवृद्धि क्यों नहीं होती? इसका हेतु लिखते हैं।

छट्ठाणाणं आदी अट्ठंकं होदि चरिममुवंकं ।
जम्हा जहण्णणाणं अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं ॥ ३२७ ॥

षट्स्थानानामादिरष्टाङ्कं भवति चरममुर्वङ्कम् ।
यस्माज्जघन्यज्ञानमष्टाङ्कं भवति जिनदृष्टम् ॥ ३२७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें आदिके स्थानको अष्टाङ्क और अन्तके स्थानको उर्वङ्क कहते हैं; क्योंकि जघन्य पर्यय ज्ञान भी अगुरुलघु गुणके अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अष्टाङ्क हो सकता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने प्रत्यक्ष देखा है।

एक्कं खलु अट्ठंकं सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा ।
रूवहियकंडएण य गुणिदकमा जावमुवंकं ॥ ३२८ ॥

एकं खलु अष्टाङ्कं सप्ताङ्कं काण्डकं ततोऽधः ।
रूपाधिककाण्डकेन च गुणितक्रमा यावदुर्वङ्कः ॥ ३२८ ॥

अर्थ—एक षट्स्थानमें एक ही अष्टाङ्क होता है। और सप्ताङ्क सूच्यंगुलके असंख्या-

तमे भागमात्र होते हैं। इसके नीचे षडंक पञ्चांक चतुरंक उर्वंक ये एक २ अधिकवार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित क्रम हैं। भावार्थ—षडंक दो वार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित है, और पञ्चांक तीन वार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित है। इस ही तरह चतुरंकमें चार वार और उर्वंकमें पांच वार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागका गुणाकार होता है।

सम्पूर्ण षड्वृद्धियोंका जोड़ बताते हैं।

सव्वसमासो णियमा रूवाहियकंडयस्स वग्गस्स।
बिंदस्स य संवग्गो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ ३२९॥

सर्वसमासो नियमात् रूपाधिककाण्डकस्य वर्गस्य।
वृन्दस्य च संवर्गो भवतीतिजिनैर्निर्दिष्टम्॥ ३२९॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकके वर्ग और घनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक षट्स्थानपतित वृद्धियोंके प्रमाणका जोड़ है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। भावार्थ—एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागको पांच जगह रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतनी वार एक षट्स्थानमें अनन्तभागवृद्धि आदि होते हैं।

उक्कस्ससंखमेत्तं तत्तिचउत्थेकदालछप्पण्णं।
सत्तदसमं च भागं गंतूणय लद्धिअक्खरं दुगुणं॥ ३३०॥

उत्कृष्टसंख्यातमात्रं तत्रिचतुर्थैकचत्वारिंशत्षट्पञ्चाशम्।
सप्तदशमं च भागं गत्वा लब्ध्यक्षरं द्विगुणम्॥ ३३०॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकसे गुणित सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धिके स्थान, और सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण असंख्यातभागवृद्धिके स्थान, इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके उपर होजानेपर एक वार संख्यातभागवृद्धिका स्थान होता है। इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यातमात्र संख्यातभागवृद्धियोंके होजानेपर उसमें प्रक्षेपक वृद्धिके होनेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना होजाता है। परन्तु प्रक्षेपककी वृद्धि कहां २ पर कितनी २ होती है यह बताते हैं। उत्कृष्ट संख्यातमात्र पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धिके स्थानोंमेंसे तीन–चौथाई भागप्रमाण स्थानोंके होजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके ऊपर होजानेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना होजाता है। पूर्वोक्त संख्यात-भागवृद्धियुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंके छप्पन भागोंमेंसे इकतालीस भागोंके वीतजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपककी वृद्धि होनेसे साधिक (कुछ अधिक) जघन्यका दूना प्रमाण होजाता है। अथवा संख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंमेंसे सत्रह स्थानोंके अनन्तर

प्रक्षेपक प्रक्षेपकप्रक्षपके तथा पिशूलि इन तीन वृद्धियोंको साधिक जघन्यके ऊपर करनेसे साधिक जघन्यका दूना प्रमाण होता है ।

एवं असंखलोगा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा ।
ते पज्जायसमासा अक्खरगं उवरि वोच्छामि ॥ ३३१ ॥

एवमसंख्यलोका अनक्षरात्मके भवन्ति षट्स्थानानि ।
ते पर्यायसमासा अक्षरगमुपरि वक्ष्यामि ॥ ३३१ ॥

अर्थ—इस प्रकारसे अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं। ये सब ही पर्यायसमास ज्ञानके भेद हैं। अब इसके आगे अक्षरात्मक श्रुत ज्ञानका वर्णन करेंगे ।

अर्थाक्षर श्रुतज्ञानको बताते हैं।

चरिमुव्वंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिदचरिमुव्वंकं ।
अत्थक्खरं तु णाणं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ३३२ ॥

चरमोर्वंकेणावहितार्थाक्षरगुणितचरमोर्वङ्कम् ।
अर्थाक्षरं तु ज्ञानं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३३२ ॥

अर्थ—अन्तके उर्वंकका अर्थाक्षरसमूहमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अन्तके उर्वंकसे गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है। **भावार्थ**—असंख्यात-लोकप्रमाण षट्स्थानोंमें अन्तके षट्स्थानकी अन्तिम उर्वंक-वृद्धिसे युक्त उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञानसे अनन्तगुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है। यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुतकेवल ज्ञानरूप है। इसमें एक कम एकट्ठीका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ।

श्रुतनिबद्ध विषयका प्रमाण बताते हैं।

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥ ३३३ ॥

प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्तु अनभिलाप्यानाम् ।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनभिलप्य पदार्थोंके अनंतमे भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं। और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनन्तमे भाग प्रमाण श्रुतमें निबद्ध हैं। **भावार्थ**—जो केवल केवलज्ञानके द्वारा जाने जासकते हैं; किन्तु जिनका वचनके द्वारा निरूपण नहीं किया जासकता ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। इस तरहके पदार्थोंसे अनन्तमें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं कि

जिनका वचनके द्वारा निरूपण होसकता है, उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनंतमा भाग श्रुतमें निरूपित है।

अक्षरसमास ज्ञान तथा पदज्ञानका स्वरूप बताते हैं।

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं ॥ ३३४ ॥

एकाक्षरात्तूपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः।
संख्येये खलु वृद्धे पदनाम भवति श्रुतज्ञानम् ॥ ३३४ ॥

अर्थ—अक्षर ज्ञानके ऊपर क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होजाय तब पदनामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षर ज्ञानके ऊपर और पदज्ञानके पूर्व तक जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अक्षरसमास ज्ञानके भेद हैं।

एक पदके अक्षरोंका प्रमाण बताते हैं।

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ॥ ३३५ ॥

षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोट्यः त्र्यशीतिलक्षकं चैव।
सप्तसहस्राण्यष्टशतानि अष्टाशीतिश्च पदवर्णाः ॥ ३३५ ॥

अर्थ—सोलहसौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी (१६३४ ८३०७८८८) एक पदमें अक्षर होते हैं। **भावार्थ**—पद तीन तरहके होते हैं, अर्थपद प्रमाण पद मध्यम पद। इनमेंसे "सफेद गौको रस्सीसे बांधो" "अग्निको लाओ" इत्यादि अनियत अक्षरोंके समूहरूप किसी अर्थविशेषके बोधक वाक्यको अर्थपद कहते हैं। आठ आदिक अक्षरोंके समूहको प्रमाणपद कहते हैं, जैसे श्लोकके एक पादमें आठ अक्षर होते हैं। इस ही तरह दूसरे छन्दोंके पदोंमें भी अक्षरोंका न्यूनाधिक प्रमाण होता हैं। परन्तु गाथामें कहे हुए पदके अक्षरोंका प्रमाण सर्वदाकेलिये निश्चित है, इस ही को मध्यमपद कहते हैं।

संघात श्रुतज्ञानको बताते हैं।

एयपदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जसहस्सपदे उड्ढे संघादणाम सुदं ॥ ३३६ ॥

एकपदादुपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः।
संख्यातसहस्रपदे वृद्धे संघातनाम श्रुतम् ॥ ३३६ ॥

अर्थ—एक पदके आगे भी क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदकी वृद्धि होजाय उसको संघातनामक श्रुत ज्ञान कहते हैं। एक पदके ऊपर और संघा-

त ज्ञानके पूर्व जितने ज्ञानके भेद हैं वे सब पदसमासके भेद हैं। यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गतिमेंसे एक गतिके स्वरूपका निरूपण करनेवाले अपुनरुक्त मध्यम पदोंका समूहरूप है।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं।

एक्कदरगदिणिरूवयसंघादसुदादु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढम्हि पडिवत्ती॥ ३३७॥

एकतरगतिनिरूपकसंघातश्रुतादुपरि पूर्वं वा।
वर्णे संख्ये ये संघाते वृद्धे प्रतिपत्तिः॥ ३३७॥

अर्थ—चार गतिमेंसे एक गतिका निरूपण करनेवाले संघात श्रुतज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात हजार संघातकी वृद्धि होजाय तब एक प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिप्रत्ति श्रुतज्ञानके मध्यमें जितने ज्ञानके विकल्प हैं उतने ही संघातसमासके भेद हैं। यह ज्ञान नरकादिक चार गतियोंका विस्तृत स्वरूप जाननेवाला है।

अनुयोग श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं।

चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं॥ ३३८॥

चतुर्गतिस्वरूपरूपकप्रतिपत्तितस्तु उपरि पूर्वं वा।
वर्णे संख्याते प्रतिपत्तिवृद्धे अनुयोगम्॥ ३३८॥

अर्थ—चारों गतियोंके स्वरूपका निरूपण करनेवाले प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर क्रमसे पूर्वकी तरह एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात हजार प्रतिपत्तिकी वृद्धि होजाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्तिसमास ज्ञानके भेद हैं। अन्तिम प्रतिपत्तिसमास ज्ञानके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओंका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृतप्राभृतकका स्वरूप दो गाथाओं द्वारा बताते हैं।

चोद्दसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि॥ ३३९॥

चतुर्दशमार्गणासंयुतानुयोगादुपरि वर्धिते वर्णे।
चतुराद्यनुयोगे द्विकवारं प्राभृतं भवति॥ ३३९॥

अर्थ—चौदह मार्गणाओंका निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब चतुरादि अनुयोगोंकी वृद्धि होजाय तब प्राभृत-प्राभृतक श्रुतज्ञान होता है । इसके पहले और अनुयोग ज्ञानके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अनुयोगसमासके भेद जानना ।

अहियारो पाहुडयं एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो ।
पाहुडपाहुडणामं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ३४० ॥

अधिकारः प्राभृतमेकार्थः प्राभृतस्याधिकारः ।
प्राभृतप्राभृतनामा भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३४० ॥

अर्थ—प्राभृत और अधिकार ये दोनों एक अर्थके वाचक हैं । अत एव प्राभृतके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । **भावार्थ**—वस्तुनाम श्रुतज्ञानके एक अधिकारको प्राभृत और अधिकारके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं ।

प्राभृतका स्वरूप बताते हैं ।

दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे ।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं ॥ ३४१ ॥

द्विकवारप्राभृतादुपरि वर्णे क्रमेण चतुर्विंशतौ ।
द्विकवारप्राभृते संवृद्धे खलु भवति प्राभृतकम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब चौवीस प्राभृतप्राभृतककी वृद्धि होजाय तब एक प्राभृतक श्रुत ज्ञान होता है । प्राभृतके पहले और प्राभृतप्राभृतके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब ही प्राभृतप्राभृतसमासके भेद जानना । उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमासके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे प्राभृत ज्ञान होता है ।

वस्तु श्रुतज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं ।

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो ।
एक्केक्कवण्णउड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ॥ ३४२ ॥

विंशतौ विंशतौ प्राभृताधिकारे एको वस्त्वधिकारः ।
एकैकवर्णवृद्धिः क्रमेण सर्वत्र ज्ञातव्या ॥ ३४२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञानके ऊपर एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे वीस प्राभृतकी वृद्धि होजाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है । वस्तु ज्ञानके पहले और प्राभृत ज्ञानके ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृतसमास ज्ञानके भेद हैं । उत्कृष्ट प्राभृतसमासमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे वस्तुनामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है ।

भावार्थ—एक २ वस्तु अधिकारमें वीस २ प्राभृत होते हैं और एक २ प्राभृतमें चौवीस २ प्राभृतप्राभृत होते हैं ।

पूर्व ज्ञानके भेदोंकी संख्या बताते हैं ।

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च ।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ॥ ३४३ ॥

दश चतुर्दशाष्ट अष्टादशकं द्वादश च द्वादश षोडश च ।
विंशतिः त्रिंशत् पञ्चदश च दश चतुर्षु वस्तूनाम् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—पूर्व ज्ञानके चौदह भेद हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, वीस, तीस, पंद्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं ।

चौदह पूर्वके नाम गिनाते हैं ।

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे ।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ॥ ३४४ ॥
पच्चाक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य ।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य ॥ ३४५ ॥

उत्पादपूर्वाग्रायणीयवीर्यप्रवादास्तिनास्तिकप्रवादानि ।
ज्ञानसत्यप्रवादे आत्मकर्मप्रवादे च ॥ ३४४ ॥
प्रत्याख्यानं वीर्यानुवादकल्याणप्राणवादानि च ।
क्रियाविशालपूर्वं क्रमशः अथ त्रिलोकविन्दुसारं च ॥ ३४५ ॥

अर्थ—उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल, त्रिलोकविन्दुसार, इस तरहसे ये क्रमसे पूर्वज्ञानके चौदह भेद हैं । **भावार्थ—** वस्तुज्ञानके ऊपर एक २ अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे पदसंघातआदिकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे दश वस्तुकी वृद्धि होजाय तब पहला उत्पादपूर्व होता है । इसके आगे क्रमसे अक्षर पद संघात आदिककी वृद्धि होते २ जब चौदह वस्तुकी वृद्धि होजाय तब दूसरा आग्रायणीय पूर्व होता है । इसके आगे भी क्रमसे अक्षर पद संघात आदिकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे आठ वस्तुकी वृद्धि होजाय तब तीसरा वीर्यप्रवाद होता है । इसके आगे क्रमसे अक्षरादिककी वृद्धि होते २ जब अठारह वस्तुकी वृद्धि होजाय तब चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद होता है । इस ही तरह आगेके पांचमे आदिक पूर्व भी क्रमसे बारह, बारह, सोलह, वीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश, वस्तुकी वृद्धिके होनेसे होते हैं । अर्थात् अस्तिनास्तिप्रवादके ऊपर क्रमसे बारह वस्तुकी वृद्धि होनेसे पांचमा ज्ञानप्रवाद,

और ज्ञानप्रवादके ऊपर भी क्रमसे बारह वस्तुकी वृद्धि होनेसे सत्यप्रवाद होता है । इस ही तरह आगेके आत्मप्रवाद आदिकका प्रमाण भी समझना चाहिये ।

चौदह पूर्वके समस्त वस्तुकी और उनके अधिकारभूत समस्त प्राभृतोंके जोड़का प्रमाण बताते हैं ।

पणणउदिसया वत्थू पाहुडया तियसहस्सणवयसया ।
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ॥ ३४६ ॥

पञ्चनवतिशतानि वस्तूनि प्राभृतकानि त्रिसहस्रनवशतानि ।
एतेषु चतुर्दशस्वपि पूर्वेषु भवन्ति मिलितानि ॥ ३४६ ॥

अर्थ—इन चौदह पूर्वोंके सम्पूर्ण वस्तुओंका जोड़ एकसौ पचानवे (१९५) होता है । और एक २ वस्तुमें वीस २ प्राभृत होते हैं इस लिये सम्पूर्ण प्राभृतोंका प्रमाण तीन हजार नौ सौ (३९००) होता है ।

पहले वीसप्रकारका जो श्रुतज्ञान बताया था उस हीका दो गाथाओंमें उपसंहार करते हैं ।

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च ।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥ ३४७ ॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि ।
णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं ॥ ३४८ ॥

अर्थाक्षरं च पदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।
द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥ ३४७ ॥
क्रमवर्णोत्तवर्धिते तेषां समासाश्च अक्षरगताः ।
ज्ञानविकल्पे विंशतिः ग्रन्थे द्वादश च चतुर्दशकम् ॥ ३४८ ॥

अर्थ—अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व, ये नव तथा क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले अक्षरसमास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्य श्रुतके होते हैं । पर्याय और पर्यायसमासके मिलानेसे वीस भेद ज्ञानरूप श्रुतके होते हैं । यदि ग्रन्थरूप श्रुतकी विवक्षा की जाय तो आचाराङ्ग आदि बारह और उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं ।

द्वादशाङ्गके समस्त पदोंकी संख्या बताते हैं ।

बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तहय होंति लक्खाणं ।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं ॥ ३४९ ॥

द्वादशोत्तरशतकोट्यः त्र्यशीतिस्तथा च भवन्ति लक्षानाम् ।
अष्टापञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चैव पदानि अङ्गानाम् ॥ ३४९ ॥

अर्थ—द्वादशाङ्गके समस्त पद एक सौ बारह करोड़ त्र्यासी लाख अट्ठावन हजार पांच (११२८३५८००५) होते हैं।

अङ्गबाह्य अक्षर कितने हैं उनका प्रमाण बताते हैं।

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५० ॥

अष्टकोट्येकलक्षाणि अष्टसहस्राणि च एकशतकं च।
पञ्चसप्ततिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५० ॥

अर्थ—आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर (८०१०८१७५) प्रकीर्णक (अङ्गबाह्य) अक्षरोंका प्रमाण है।

चार गाथाओंद्वारा उक्त अर्थको समझनेकी प्रक्रिया बताते हैं।

तेत्तीस वेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥ ३५१ ॥

त्रयस्त्रिंशत् व्यंजनानि सप्तविंशतिः स्वरास्तथा भणिताः।
चत्वारश्च योगवहाः चतुःषष्टिः मूलवर्णाः ॥ ३५१ ॥

अर्थ—तेतीस व्यंजन सत्ताईस स्वर चार योगवाह इस तरह कुल चौंसठ मूलवर्ण होते हैं। **भावार्थ**—स्वरके विना जिनका उच्चारण न हो सके ऐसे अर्धाक्षरोंको व्यंजन कहते हैं। उनके क् ख् से लेकर ह् पर्यन्त तेतीस भेद हैं। अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ये नव स्वर हैं, इनके ह्रस्व दीर्घ प्लुतकी अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं। अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय उपध्मानीय ये चार योगवाह हैं। सब मिलकर चौंसठ अनादिनिधन मूलवर्ण हैं।

यद्यपि दीर्घ ॡ वर्ण संस्कृतमें नहीं है तब भी अनुकरणमें अथवा देशान्तरोंकी भाषामें आता है इसलिये चौंसठ वर्णोंमें इसका भी पाठ है।

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाउण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कुए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥ ३५२ ॥

चतुःषष्टिपदं विरलयित्वा द्विकं च दत्त्वा संगुणं कृत्वा।
रूपोने च कृते पुनः श्रुतज्ञानस्याक्षराणि भवन्ति ॥ ३५२ ॥

अर्थ—उक्त चौंसठ अक्षरोंका विरलन करके प्रत्येकके ऊपर दोका अङ्क देकर परस्पर सम्पूर्ण दोके अङ्कोंका गुणा करनेसे लब्ध राशिमें एक घटा देनेसे जो प्रमाण रहता है उतने ही श्रुत ज्ञानके अक्षर होते हैं।

वे अक्षर कितने हैं उसका प्रमाण बताते हैं।

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥ ३५३ ॥

एकाष्ट च च च षट्सप्तकं च च च शून्यसप्तत्रिकसप्त।
शून्यं नव पञ्च पञ्च च एकं षट्कैककश्च पञ्चकं च ॥ ३५३ ॥

अर्थ—परस्पर गुणा करनेसे उत्पन्न होनेवाले अक्षरोंका प्रमाण यह है। एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पांच पांच एक छह एक पांच। **भावार्थ**—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुतके समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं। पुनरुक्त अक्षरोंकी संख्याका नियम नहीं है।

इन अक्षरोंमेंसे अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुतके अक्षरोंका विभाग करते हैं।

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि।
सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५४ ॥

मध्यमपदाक्षरावहितवर्णास्ते अङ्गपूर्वगपदानि।
शेपाक्षरसंख्या अहो प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५४ ॥

अर्थ—मध्यमपदके अक्षरोंका जो प्रमाण है उसका समस्त अक्षरोंके प्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने अङ्ग और पूर्वगत मध्यम पद होते हैं। शेष जितने अक्षर रहें उतना अङ्गबाह्य अक्षरोंका प्रमाण है। **भावार्थ**—पहले मध्यम पदके अक्षरोंका प्रमाण बताया है कि एक मध्यम पदमें सोलहसौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ-सौ अठासी अक्षर होते हैं। जब इतने अक्षरोंका एक पद होता है तब समस्त अक्षरोंके कितने पद होंगे इस तरह त्रैराशिक करनेसे—अर्थात् फलराशि (एक मध्यम पद) और इच्छाराशिका (समस्त अक्षरोंका) परस्पर गुणा कर उसमें प्रमाण राशिका (एक मध्यम-पदके समस्त अक्षरोंके प्रमाणका) भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह समस्त मध्यम पदोंका प्रमाण है। इन समस्त मध्यम पदोंके जितने अक्षर हुए वे अङ्गप्रविष्ट अक्षर हैं और जो शेष अक्षर रहे वे अङ्गबाह्य अक्षर हैं।

तेरह गाथाओंमें अङ्गोंके और पूर्वोंके पदोंकी संख्या बताते हैं।

आयारे सुद्दयडे ठाणे समवायणामगे अंगे।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५५ ॥
तो वासयअज्झयणे अंतयडे णुत्तरोववाददसे।
पण्हाणं वायरणे विवायसुत्ते य पदसंखा ॥ ३५६ ॥

आचारे सूत्रकृते स्थाने समवायनामके अङ्गे।
ततो व्याख्याप्रज्ञप्तौ नाथस्य धर्मकथायां ॥ ३५५ ॥

तत उपासकाध्ययने अन्तकृते अनुत्तरौपपाददशे ।
प्रश्नानां व्याकरणे विपाकसूत्रे च पदसंख्या ॥ ३५६ ॥

अर्थ—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, और विपाकसूत्र इन ग्यारह अङ्गोंके पदोंकी संख्या क्रमसे निम्नलिखित हैं ।

अट्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडवि छप्पण्णं ।
सत्तरि अट्ठावीसं चउदालं सोलससहस्सा ॥ ३५७ ॥
इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी ।
चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसूत्तम्हि ॥ ३५८ ॥

अष्टादश षट्त्रिंशत् द्वाचत्वारिंशत् अष्टकृतिः अष्टद्वि षट्पञ्चाशत् ।
सप्ततिः अष्टाविंशतिः चतुश्चत्वारिंशत् षोडशसहस्राणि ॥ ३५७ ॥
एकद्विपञ्चैकादशत्रयोविंशतिद्वित्रिनवतिलक्षं चतुर्थादिषु ।
चतुरशीतिलक्षमेका कोटिश्च विपाकसूत्रे ॥ ३५८ ॥

अर्थ—आचाराङ्गमें अठारह हजार पद हैं, सूत्रकृताङ्गमें छत्तीस हजार, स्थानाङ्गमें बियालीस हजार, समवायाङ्गमें एक लाख चौंसठ हजार, व्याख्याप्रज्ञप्तिमें दो लाख अट्ठाईस हजार, धर्मकथाङ्गमें पांच लाख छप्पन हजार, उपासकाध्ययनाङ्गमें ग्यारह लाख सत्तर, अंतःकृद्दशाङ्गमें तेईस लाख अट्ठाई हजार, अनुत्तरौपपादिक दशाङ्गमें बानवे लाख चवालीस हजार, प्रश्नव्याकरण अङ्गमें तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं। तथा ग्यारहमे विपाकसूत्र अङ्गमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं ।

सम्पूर्ण पदोंका जोड़ बताते हैं ।

बापणनरनोनानं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा ॥ ३५९ ॥

बापणनरनोनानं एकादशाङ्गे युतिर्हि वादे ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाह्ये वर्णाः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ग्यारह अङ्गोके पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (४१५०२०००) होता है । बारहमे दृष्टिवाद अङ्गमें सम्पूर्ण पद १०८६८५६००५ होते हैं। और अङ्गबाह्य अक्षरोंका प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) है ।

बारहमे अङ्गके भेद और उनके पदोंका प्रमाण बताते हैं ।

चंदरविजंबुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती ।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥ ३६० ॥
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच ।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥ ३६१ ॥

चन्द्ररविजम्बूद्वीपकद्वीपसमुद्रकव्याख्याप्रज्ञप्तयः ।
परिकर्म पञ्चविधं सूत्रं प्रथमानुयोगमतः ॥ ३६० ॥
पूर्वं जलस्थलमायाकाशकरूपगता इमे पञ्च ।
भेदा हि चूलिकायाः तेषु प्रमाणमिदं क्रमशः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—बारहमे दृष्टिवाद अङ्गके पांच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका । इसमें परिकर्मके पांच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति । पूर्वगतके चौदह भेद हैं जिनका वर्णन आगे करेंगे । चूलिकाके पांच भेद हैं जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता । अब इनके पदोंका प्रमाण क्रमसे बताते हैं ।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा ।
मननन धममननोननामं रनधजधराननजलादी ॥ ३६२ ॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे ।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥ ३६३ ॥

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्षाणि ।
मननन धममननोननामं रनधजधरानन जलादिषु ॥ ३६२ ॥
याजकनामेनाननमेतानि पदानि भवन्ति परिकर्मणि ।
कानवधिवाचनाननमेषः पुनः चूलिकायोगः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—क्रमसे चन्द्रप्रज्ञप्तिमें छत्तीस लाख पांच हजार, सूर्यप्रज्ञप्तिमें पांच लाख तीन हजार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें तीन लाख पच्चीस हजार, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिमें बावन लाख छत्तीस हजार, व्याख्याप्रज्ञप्तिमें चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं । सूत्रमें अठासी लाख पद हैं । प्रथमानुयोगमें पांच हजार पद हैं । चौदह पूर्वोंमें पचानवे करोड़ पचास लाख पांच पद हैं । पांचो चूलिकाओंमेंसे प्रत्येकमें दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं । चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पांचप्रकारके परिकर्मके पदोंका जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार है । पांच प्रकारकी चूलिकाके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनंचास लाख छयालीस हजार (१०४९४६०००) है । **भावार्थ**—यहां पर जो अक्षर तथा पदोंका प्रमाण बताया है वह अपुनरुक्त अक्षर तथा पदोंका प्रमाण समझना ।

चौदह पूर्वोंमेंसे प्रत्येक पूर्वके पदोंका प्रमाण बताते हैं ।

पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं ।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं ॥ ३६४ ॥
छस्सय पण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा ।
विहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६५ ॥

पञ्चाशदष्टचत्वारिंशत् पञ्चत्रिंशत् त्रिंशत् पञ्चाशत् पञ्चाशत् त्रयोदशशतम् ।
नवतिः द्वाचत्वारिंशत् पूर्वे पञ्चपञ्चाशत् त्रयोदशशतानि ॥ ३६४ ॥
षट्छतपञ्चाशानि चतुःशतपञ्चाशत् पट्छतपञ्चविंशतिः ।
द्वाभ्यां लक्षाभ्यां तु गुणितानि पञ्चमं रूपोनं षड्युतानि षष्ठे ॥ ३६५ ॥

अर्थ—चौदह पूर्वोंमेंसे क्रमसे प्रथम उत्पाद पूर्वमें एक करोड़ पद हैं । दूसरे आग्रायणीय पूर्वमें छ्यानवे लाख पद हैं । तीसरे वीर्यप्रवादमें सत्तर लाख पद हैं । चतुर्थ अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख पद हैं । पांचमे ज्ञानप्रवादमें एक कम एक करोड़ (९९९९९९९) पद हैं । छट्ठे सत्यप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ छह (१००००००६) पद हैं । सातमे आत्मप्रवादमें छब्बीस करोड़ पद हैं । आठमे कर्मप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं । नौमे प्रत्याख्यान पूर्वमें चउरासी लाख पद हैं । दशमे विद्यानुवाद पूर्वमें एक करोड़ दश लाख पद हैं । ग्यारहमे कल्याणवाद पूर्वमें छब्बीस करोड़ पद हैं । बारहमे प्राणावाद पूर्वमें तेरह करोड़ पद हैं । तेरहमे क्रियाविशाल पूर्वमें नौ करोड़ पद हैं । चौदहमे त्रिलोकबिन्दुसारमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं । **भावार्थ**—चौदह पूर्वोंमेंसे किस २ पूर्वमें कितने २ पद हैं यह इन दो गाथाओंमें बता दिया है । अब प्रकरण पाकर यहांपर द्वादशाङ्ग तथा चौदह पूर्वोंमें किस २ विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे विशेष बताया जाता है । प्रथम **आचाराङ्गमें** 'किस तरह आचरण करै ? किस तरह खड़ा हो ? किस तरह बैठे ? किस तरह शयन करै ? किस तरह भाषण करै ? किस तरह भोजन करै ? पापका बन्ध किस तरह से नहीं होता ?' इत्यादि प्रश्नोंके अनुसार 'यत्नपूर्वक आचरण करै, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक शयन करै, यत्न पूर्वक भाषण करै, यत्नपूर्वक भोजन करै इस तरहसे पापका बन्ध नहीं होता' इत्यादि उत्तररूप वाक्योंके द्वारा मुनियोंके समस्त आचरणका वर्णन किया है[1] । दूसरे **सूत्रकृताङ्गमें** ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनक्रियाका अथवा प्रज्ञापना कल्पाकल्प छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मक्रियाका, तथा स्वसमय और परसमयका स्वरूप सूत्रोंके द्वारा बताया है । तीसरे **स्थानाङ्गमें** सम्पूर्ण द्रव्योंके

[1] "कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सए, कथं भुंजीज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बंधई" इसके उत्तरमें "जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये जदं भुंजीज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधई" इत्यादि ॥

एकसे लेकर कितने विकल्प होसकते हैं उन विकल्पोंका वर्णन किया है। जैसे सामान्यकी अपेक्षासे जीवद्रव्यका एक ही स्थान (विकल्प=भेद) है, संसारी और मुक्तकी अपेक्षासे दो भेद हैं, उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षासे तीन भेद है, चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं, इत्यादि। इस ही तरह पुद्गल आदिक द्रव्योंके भी विकल्प समझना। चौथे **समवायाङ्ग**में सम्पूर्ण द्रव्योंमें परस्पर किस २ धर्मकी अपेक्षासे सादृश्य है यह बताया है। पांचमे **व्याख्याप्रज्ञप्ति** अङ्गमें जीव है या नहीं? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है? नित्य है या अनित्य है? एक है या अनेक है? इत्यादि साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान है। छट्टे **नाथधर्मकथा** अथवा **ज्ञातृधर्मकथा** अङ्गमें जीवादि वस्तुओंका स्वभाव, तीर्थंकरोंका माहात्म्य, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिका समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयधर्मका स्वरूप बताया है। तथा गणधर इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी कथा उपकथाओंका वर्णन है। सातमे **उपासकाध्ययन** अङ्गमें उपासकोंकी (श्रावकोंकी) सम्यग्दर्शनादिक ग्यारह प्रतिमासम्बन्धी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे क्रिया काण्ड और उनके मन्त्रादिकोंका सविस्तर वर्णन किया है। आठमे **अन्तःकृद्दशाङ्ग**में प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें[1] जो दश २ मुनि चार प्रकारका तीव्र उपसर्ग सहन करके संसारके अन्तको प्राप्त हुए उनका वर्णन है। नौमे **अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग**में प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें होनेवाले उन दश दक्ष मुनियोंका वर्णन है जो कि घोर उपसर्गको सहन करके अन्तमें समाधिके द्वारा अपने प्राणोंका त्याग करके विजय आदि पांच प्रकारके अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए। दशमे **प्रश्नव्याकरण** अङ्गमें दूतवाक्य नष्ट मुष्टि चिन्ता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन कालसम्बन्धी धन धान्यादिका लाभालाभ सुख दुःख जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है। और प्रश्नके अनुसार आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी इन चार प्रकारकी कथाओंका वर्णन है। ग्यारहमे **विपाकसूत्र**में द्रव्यक्षेत्र काल भावके अनुसार शुभाशुभ कर्मोंकी तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकारकी अनुभाग–शक्तिके फल देनेरूप विपाकका वर्णन है। बारहमे **दृष्टिवाद** अङ्गमें तीन सौ त्रेसठ मिथ्या मतोंका वर्णन और उनका निराकरण है। दृष्टिवाद अङ्गके पांच भेद हैं **परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका**। **परिकर्म**में गणित के करणसूत्रोंका वर्णन है। इसके (परिकर्मके) पांच भेद हैं, **चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति**। चन्द्रप्रज्ञप्तिमें चन्द्रमासम्बन्धी विमान आयु परिवार ऋद्धि गमन हानि वृद्धि पूर्ण ग्रहण अर्ध ग्रहण चतुर्थांश ग्रहण आदिका वर्णन है। इस ही प्रकार सूर्यप्रज्ञप्तिमें सूर्यसम्बन्धी आयु परिवार गमन ग्रहण आदिका वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरु

---

१ एक तीर्थंकरके अनन्तर जब तक दूसरा तीर्थंकर उत्पन्न न हो तब तकके समयको प्रथम तीर्थंकरका तीर्थ कहते हैं।

कुलाचल महाह्रद (तलाव) क्षेत्र कुंड वेदिका वन व्यन्तरोंके आवास महानदी आदिका वर्णन है। द्वीपसागरप्रज्ञप्तिमें असंख्यात द्वीप और समुद्रोंका स्वरूप तथा वहांपर होनेवाले अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञप्तिमें भव्य अभव्य—भेद प्रमाण लक्षण रूपी अरूपी जीव अजीव द्रव्योंका और अनन्तरसिद्ध परंपरासिद्धोंका तथा दूसरी वस्तुओंका भी वर्णन है। दृष्टिवादके दूसरे भेद—सूत्रमें तीनसौ त्रेसठ मिथ्यादृष्टियोंका पूर्वपक्षपूर्वक निराकरण है। तीसरे भेद प्रथमानुयोगमें त्रेसठ शलाका—पुरुषोंका वर्णन है। चौथे पूर्वके चौदह भेद हैं। उनमें किस २ विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे क्रमसे बताते हैं। **उत्पादपूर्व**में प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य और उनके संयोगी धर्मोंका वर्णन है। **आग्रायणीय** पूर्वमें द्वादशङ्गमें प्रधानभूत सातसौ सुनय तथा दुर्णय पञ्चास्तिकाय षड्द्रव्य सप्त तत्व नव पदार्थ आदिका वर्णन है। **वीर्यानुवाद**में आत्मवीर्य परवीर्य उभयवीर्य कालवीर्य तपोवीर्य द्रव्यवीर्य गुणवीर्य पर्यायवीर्य आदि अनेकप्रकारके वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है। **अस्तिनास्तिप्रवाद**में स्यादस्ति स्यान्नास्ति आदि सप्तभंगीका वर्णन है। **ज्ञानप्रवाद**में मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल रूप प्रमाण—ज्ञान, तथा कुमति कुश्रुत विभङ्ग रूप अप्रमाण ज्ञानके स्वरूप संख्या विषय फलका वर्णन है। **सत्यप्रवाद**में आठ प्रकारके शब्दोच्चारणके स्थान, पांच प्रयत्न, वाक्यसंस्कारके कारण, शिष्ट दुष्ट शब्दों के प्रयोग, लक्षण, वचनके भेद, बारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके असत्यवचन, दशप्रकारका सत्यवचन, वाग्गुप्ति, मौन आदिका वर्णन है। **आत्मप्रवाद**में आत्माके कर्तृत्व आदि अनेक धर्मोंका वर्णन है। **कर्मप्रवाद**में मूलोत्तर प्रकृति तथा बंध उदय उदीरणा आदि कर्मकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है। **प्रत्याख्यानपूर्व**में नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव, पुरुषके संहनन आदिकी अपेक्षासे सदोष वस्तुका त्याग, उपवासकी विधि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है। **विद्यानुवाद**में अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्पविद्या, तथा रोहिणी आदि पांचसौ महा विद्याओंका स्वरूप सामर्थ्य मन्त्र तन्त्र पूजा—विधान आदिका, तथा सिद्ध विद्याओंका फल और अन्तरिक्ष भौम अंग स्वर स्वप्न लक्षण व्यंजन छिन्न इन आठ महानिमित्तोंका वर्णन है। **कल्याणवाद**में तीर्थंकरादिके गर्भावतरणादि कल्याण, उनके कारण पुण्यकर्म षोडश भावना आदिका, तथा चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्रोंके चारका, ग्रहण शकुन आदिके फलका वर्णन है। **प्राणावादमें** कायचिकित्सा आदि आठ प्रकारके आयुर्वेदका, इडा पिंगला आदिका, दश प्राणोंके उपकारक अपकारक द्रव्योंका गतियोंके अनुसारसे वर्णन किया है। **क्रियाविशाल**में संगीत छंद अलङ्कार पुरुषोंकी बहत्तर कला स्त्रीके चौंसठ गुण, शिल्पादिविज्ञान, गर्भाधानादि क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है। **त्रिलोकविन्दुसारमें** लोकका स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्षका स्वरूप, उसके गमनका कारण, क्रिया, मोक्षसुखके स्वरूपका वर्णन है। दृष्टिवादनामक बारहमे अंगका पाचमा

भेद चूलिका है, उसके पांच भेद हैं, जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता। इनमेंसे **जलगतामें** जलगमन अग्निस्तम्भन अग्निभक्षण अग्निका आसन अग्निप्रवेश आदिके मन्त्र तन्त्र तपश्चर्या आदिका वर्णन है। **स्थलगतामें** मेरु कुलाचल भूमि आदिमें प्रवेश शीघ्रगमन आदिके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है। **मायागतामें** इन्द्रजाल सम्बन्धी मन्त्रादिका वर्णन है। **आकाशगतामें** आकाशगमनके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है। **रूपगतामें** सिंहादिक अनेक प्रकारके रूप बनानेके कारणभूत मन्त्रादिका वर्णन है।

अङ्गबाह्य श्रुतके भेद गिनाते हैं।

सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥ ३६६ ॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं ॥ ३६७ ॥

सामायिकचतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणम्।
वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनम् ॥ ३६६ ॥
कल्प्यव्यवहार—कल्पाकल्प्यिक–महाकल्प्यं च पुंडरीकम्।
महापुंडरीकनिषिद्धिके इति चतुर्दशाङ्गबाह्यम् ॥ ३६७ ॥

अर्थ—सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अङ्गबाह्यश्रुतके चौदह भेद हैं।

श्रुतज्ञानका माहात्म्य बताते हैं।

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६८ ॥

श्रुतकेवलं च ज्ञानं द्वेऽपि सदृशे भवतो बोधात्।
श्रुतज्ञानं तु परोक्षं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानम् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—ज्ञानकी अपेक्षा श्रुत ज्ञान तथा केवल ज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनोंमें अन्तर यही है कि श्रुत ज्ञान परोक्ष है और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है। **भावार्थ**—जिस तरह श्रुत ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी पर्यायोंको जानता है उस ही तरह केवल ज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जानता है। विशेषता इतनी ही है कि श्रुत ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता है इसलिये इसकी अमूर्त पदार्थोंमें और उनकी अर्थपर्याय तथा दूसरे सूक्ष्म अंशोमें स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु केवल ज्ञान निरावरण होनेके कारण समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे विषय करता है।

क्रमप्राप्त अवधि ज्ञानका निरूपण करते हैं।

अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।
भवगुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं बेंति ॥ ३६९ ॥

अवधीयते इत्यवधिः सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये।
भवगुणप्रत्ययविधिकं यदवधिज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३६९ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा हो उसको अवधि ज्ञान कहते हैं। इस ही लिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है। तथा इसके जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं, एक भवप्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय। **भावार्थ**—नारकादि भवकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान हो उसको भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। जो सम्यग्दर्शनादि कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर अवधिज्ञान होता है उसको गुणप्रत्यय अवधि कहते हैं। इसके विषयको परिमित होनेसे इस ज्ञानको अवधिज्ञान अथवा सीमाज्ञान कहते हैं। यद्यपि दूसरे मतिज्ञानादिके विषयकी भी सामान्यसे सीमा है, इसलिये दूसरे ज्ञानोंको भी अवधिज्ञान कहना चाहिये; तथापि समभिरूढनयकी अपेक्षासे ज्ञानविशेषको ही अवधि ज्ञान कहते हैं।

दोनोंप्रकारके अवधि ज्ञानका स्वामी तथा स्वरूप बताते हैं।

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।
गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्नभवो ॥ ३७० ॥

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेऽपि सर्वाङ्गोत्थम्।
गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां संखादिचिह्नभवम् ॥ ३७० ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थकरोंके होता है। और यह ज्ञान सम्पूर्ण अङ्गसे उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके भी होता है। और यह ज्ञान शंखादि चिह्नोंसे होता है। **भावार्थ**—नाभिके ऊपर शंख पद्म वज्र स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिह्न होते हैं; उस जगह के आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे होता है।

उत्तरार्धमें प्रकारान्तरसे सामान्य अवधिके तथा पूर्वार्धमें गुणप्रत्यय अवधिके भेदोंको गिनाते हैं।

गुणपच्चइगो छद्धा अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा।
देसोही परमोही सव्वोहित्ति य तिधा ओही ॥ ३७१ ॥

गुणप्रत्ययकः षोढा अनुगावस्थितप्रवर्धमानेतरे ।
देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च त्रिधा अवधिः ॥ ३७१ ॥

अर्थ—गुणप्रत्यय अवधिज्ञानके छह भेद हैं, अनुगामी अननुगामी अवस्थित अनवस्थित वर्धमान हीयमान । तथा सामान्यसे अवधिज्ञानके देशावधि परमावधि सर्वावधि इसतरहसे तीन भेद भी होते हैं । **भावार्थ**—जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ जाय उसको **अनुगामी** कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, क्षेत्रानुगामी भवानुगामी उभयानुगामी । जो दूसरे क्षेत्रमें अपने स्वामीके साथ जाय उसको क्षेत्रानुगामी कहते हैं । जो दूसरे भवमें साथ जाय उसको भवानुगामी कहते हैं । जो दूसरे क्षेत्र तथा भव दोनोंमें साथ जाय उसको उभयानुगामी कहते हैं । जो अपने स्वामी जीवके साथ न जाय उसको **अननुगामी** कहते हैं, इसके भी तीन भेद हैं क्षेत्राननुगामी भवाननुगामी उभयाननुगामी । जो सूर्यमण्डलके समान न घटे न बढे उसको **अवस्थित** कहते हैं । जो चन्द्रमण्डलकी तरह कभी कम हो कभी अधिक हो उसको **अनवस्थित** कहते हैं । जो शुक्लपक्षके चन्द्रकी तरह अपने अन्तिम स्थानतक बढ़ता जाय उसको **वर्धमान** अवधि कहते हैं । जो कृष्णपक्षके चन्द्रकी तरह अन्तिम स्थानतक घटता जाय उसको हीयमान कहते हैं ।

भवपच्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वोही ।
गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणे होदि ॥ ३७२ ॥

भवप्रत्ययकोऽवधिः देशावधिः भवति परमसर्वावधी ।
गुणप्रत्ययको नियमात् देशावधिरपि च गुणे भवति ॥ ३७२ ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधि नियमसे देशावधि ही होता है । और दर्शनविशुद्धि आदि गुणोंके निमित्तसे होनेवाला गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकारका होता हैं ।

देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं ।
परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स ॥ ३७३ ॥

देशावधेश्च अवरं नरतिरश्चोः भवति संयते वरम् ।
परमावधिः सर्वावधिः चरमशरीरस्य विरतस्य ॥ ३७३ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधि ज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकारके मनुष्य तथा तिर्यंचोंके होता है । उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयत जीवोंके ही होता है। किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी और महाव्रतीके ही होता है ।

पडिवादी देसोही अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ ।
मिच्छत्तं अविरमणं ण य पडिवज्जंति चरिमदुगे ॥ ३७४ ॥

प्रतिपाती देशावधिः अप्रतिपातिनौ भवतः शेषौ अहो।
मिथ्यात्वमविरमणं न च प्रतिपद्येते चरमद्विके ॥ ३७४ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञान प्रतिपाती होता है। और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। तथा परमावधि और सर्वावधिवाले जीव नियमसे मिथ्यात्व और अव्रत अवस्थाको प्राप्त नहीं होते। **भावार्थ**—सम्यक्त्व और चारित्रसे च्युत होकर मिथ्यात्व और असंयमकी प्राप्तिको प्रतिपात कहते हैं। यह प्रतिपात देशावधिवालेका ही होता है। परमावधि और सर्वावधिवालेका नहीं होता।

अवधि ज्ञानका द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि रूवि जाणदे ओही।
अवरादुक्कस्सोत्ति य वियप्परहिदो दु सव्वोही ॥ ३७५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति रूपि जानीते अवधिः।
अवरादुत्कृष्ट इति च विकल्परहितस्तु सर्वावधिः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—जघन्य भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेदपर्यन्त सब ही अवधि ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रूपि (पुद्गल) द्रव्यको ही जानता है। तथा उसके सम्बन्धसे संसारी जीव द्रव्यको भी जानता है। किन्तु सर्वावधि ज्ञानमें जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं—वह निर्विकल्प है।

अवधि ज्ञानके विषयभूत सबसे जघन्य द्रव्यका प्रमाण बताते हैं।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ॥ ३७६ ॥

नोकर्मौरालसंचयं मध्यमयोगार्जितं सविस्रसोपचयम्।
लोकविभक्तं जानाति अवरावधिः द्रव्यतः नियमात् ॥ ३७६ ॥

अर्थ—मध्यम योगके द्वारा संचित विस्रसोपचयसहित नोकर्म औदारिक वर्गणाके संचयमें लोकका भाग देनेसे जितना द्रव्य लब्ध आवे उतनेको नियमसे जघन्य अवधि ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षासे जानता है। **भावार्थ**—विस्रसोपचयसहित और जिसका मध्यम योगके द्वारा संचय हुआ हो ऐसे डेढ़गुणहानिमात्र समयप्रबद्धरूप औदारिक नोकर्मके समूहमें लोकप्रमाणका भाग देनेसे जो द्रव्य लब्ध आवे उतने द्रव्यको जघन्य अवधि ज्ञान नियमसे जानता है।

अवधि ज्ञानके विषयभूत जघन्य क्षेत्रका प्रमाण बताते हैं।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ॥ ३७७ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अवरावगाहनमानं जघन्यकमवधिक्षेत्रं तु ॥ ३७७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें जो जघन्य अवगाहना होती है उसका जितना प्रमाण है उतना ही अवधि ज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण है । **भावार्थ**—इतने क्षेत्रमें जितने जघन्य द्रव्य होंगे जिसका कि प्रमाण पहले बताया गया है उनको जघन्य देशावधिवाला जान सकता है—इसके बाहर नहीं ।

जघन्य क्षेत्रके विषयमें विशेष कथन करते हैं ।

अवरोहिखेत्तदीहं वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो ।
अण्णं पुण समकरणे अवरोगाहणपमाणं तु ॥ ३७८ ॥

अवरावधिक्षेत्रदीर्घं विस्तारोत्सेधकं न जानीमः ।
अन्यत् पुनः समीकरणे अवरावगाहनप्रमाणं तु ॥ ३७८ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि ज्ञानके क्षेत्रकी उंचाई लम्बाई चौड़ाईका भिन्न २ प्रमाण हम नहीं जानते । तथापि यह मालुम है कि समीकरण करनेसे जितना जघन्य अवगाहनाका प्रमाण होता है उतना ही जघन्य अवधिका क्षेत्र ह ।

अवरोगाहणमाणं उस्सेहंगुलअसंखभागस्स ।
सूइस्स य घणपदरं होदि हु तक्खेत्तसमकरणे ॥ ३७९ ॥

अवरावगाहनमानमुत्सेधाङ्गुलासंख्यभागस्य ।
सूचेश्च घनप्रतरं भवति हि तत्क्षेत्रसमीकरणे ॥ ३७९ ॥

अर्थ—उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे उत्पन्न व्यवहार सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण—भुजा कोटी और बेधमें परस्पर गुणा करनेसे जितना जघन्य अवगाहनाका प्रमाण होता है उतना ही समीकरण करनेसे जघन्य अवधि ज्ञानका क्षेत्र होता है । **भावार्थ**—गुणा करनेसे अङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण जघन्य अवधिका क्षेत्र होता है ।

अवरं तु ओहिखेत्तं उस्सेहं अंगुलं हवे जम्हा ।
सुहमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं ॥ ३८० ॥

अवरं तु अवधिक्षेत्रमुत्सेधमङ्गुलं भवेद्यस्मात् ।
सूक्ष्मावगाहनमानमुपरि प्रमाणं तु अङ्गुलकम् ॥ ३८० ॥

अर्थ—जो जघन्य अवधिका क्षेत्र पहले बताया है वह भी उत्सेधाङ्गुल ही है; क्यों कि वह सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहना प्रमाण है । परन्तु आगे अङ्गुलसे प्रमाणाङ्गुलका ग्रहण करना । **भावार्थ**—जघन्य अवगाहनाके समान अङ्गुलके असंख्यातमे भाग जो जघन्य अवधिका क्षेत्र बताया है वह भी उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे ही है

ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि परमागमका ऐसा नियम है कि शरीर गृह ग्राम नगर आदिके प्रमाण उत्सेधाङ्गुलसे ही लिये जाते हैं। परन्तु आगे अङ्गुलशब्दसे प्रमाणाङ्गुल लेना चाहिये।

अवरोहिखेत्तमज्झे अवरोही अवरदव्वमवगमदि ।
तद्दव्वस्सवगाहो उस्सेहासंखघणपदरा ॥ ३८१ ॥

अवरावधिक्षेत्रमध्ये अवरावधिः अवरद्रव्यमवगच्छति ।
तद्द्रव्यस्यावगाहः उत्सेधासंख्यघनप्रतराः ॥ ३८१ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि अपने जघन्य क्षेत्रमें जितने जघन्य द्रव्य हैं उन सबको जानता है। उस द्रव्यका अवगाह उत्सेधाङ्गुलके असंख्यातमे भागका घनप्रतर होता है। **भावार्थ**—यद्यपि जघन्य अवधिके क्षेत्रसे जघन्य द्रव्यके अवगाह—क्षेत्रका प्रमाण असंख्यातगुणा हीन है; तथापि घनरूप उत्सेधाङ्गुलके असंख्यातमे भागमात्र है। इसकी भुजा कोटी तथा वेधका प्रमाण सूच्यंगुलके असंख्यातमे भाग है।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं ।
ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८२ ॥

आवल्यसंख्यभागमतीतभविष्यच्च कालतः अवरम् ।
अवधिः जानाति भावे कालासंख्यातभागं तु ॥ ३८२ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि ज्ञान कालकी अपेक्षासे आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण द्रव्यकी व्यंजन पर्यायोंको जानता है। तथा जितनी पर्यायोंको कालकी अपेक्षासे जानता है उसके असंख्यातमे भागप्रमाण वर्तमान कालकी पर्यायोंको भावकी अपेक्षासे जानता है।

इस प्रकार जघन्य देशावधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सीमाको बताकर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे देशावधि ज्ञानके विकल्पोंका वर्णन करते हैं।

अवरद्दव्वादुवरिमदव्ववियप्पाय होदि धुवहारो ।
सिद्धाणंतिमभागो अभवसिद्धादणंतगुणो ॥ ३८३ ॥

अवरद्रव्यादुपरिमद्रव्यविकल्पाय भवति ध्रुवहारः ।
सिद्धानन्तिमभागः अभव्यसिद्धादनन्तगुणः ॥ ३८३ ॥

अर्थ—जघन्य द्रव्यके ऊपर द्रव्यके दूसरे भेद निकालनेके लिये ध्रुवहार होता है। इनका (ध्रुवहारका) प्रमाण सिद्धराशिसे अनन्तमे भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणा है।

अवधि ज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका प्रमाण बताते हैं।

धुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिदे ।
समयपबद्धपमाणं जाणिज्जो ओहिविसयम्हि ॥ ३८४ ॥

ध्रुवहारकार्मणवर्गणागुणकारं कार्मणवर्गणां गुणिते ।
समयप्रबद्धप्रमाणं ज्ञातव्यमवधिविषये ॥ ३८४ ॥

अर्थ—ध्रुवहाररूप कार्मण वर्गणाके गुणाकारका और कार्मण वर्गणाका परस्पर गुणा करनेसे अवधि ज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका प्रमाण निकलता है।

ध्रुवहारका प्रमाण विशेषतासे बताते हैं।

मणदव्ववग्गणाण वियप्पाणंतिमसमं खु धुवहारो ।
अवरुक्कस्सविसेसा रूवहिया तव्वियप्पा हु ॥ ३८५ ॥

मनोद्रव्यवर्गणानां विकल्पानन्तिमसमं खलु ध्रुवहारः ।
अवरोत्कृष्टविशेषाः रूपाधिकास्तद्विकल्पा हि ॥ ३८५ ॥

अर्थ—मनोद्रव्य–वर्गणाके उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे जघन्य प्रमाणके घटानेसे जो शेष रहे उसमें एक मिलानेसे मनोद्रव्य–वर्गणाके विकल्पोंका प्रमाण होता है। इन विकल्पोंका जितना प्रमाण हो उसके अनन्त भागोंमेंसे एक भागकी बराबर अवधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यके ध्रुवहारका प्रमाण होता है।

मनोद्रव्य–वर्गणाके जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाणको बताते हैं।

अवरं होदि अणंतं अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं ।
इदि मणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि धुवहारो ॥ ३८६ ॥

अवरं भवति अनन्तमनन्तभागेनाधिकमुत्कृष्टम् ।
इति मनोभेदानन्तिमभागो द्रव्ये ध्रुवहारः ॥ ३८६ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गणाका जघन्य प्रमाण अनन्त, इसमें इसीके (जघन्यके) अनन्त भागोंमेंसे एक भाग मिलानेसे मनोवर्गणाका उत्कृष्ट प्रमाण होता है। इस प्रकार जितने मनोवर्गणाके भेद हुए उसके अनन्त भागोंमेंसे एकभाग–प्रमाण अवधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यके विषयमें ध्रुवहारका प्रमाण होता है।

प्रकारान्तरसे फिर भी ध्रुवहारका प्रमाण बताते हैं।

धुवहारस्स पमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।
समयपबद्धणिमित्तं कम्मणवग्गणगुणादो दु ॥ ३८७ ॥
होदि अणंतिमभागो तग्गुणगारो वि देसओहिस्स ।
दोऊणदव्वभेदपमाणद्धुवहारसंवग्गो ॥ ३८८ ॥

ध्रुवहारस्य प्रमाणं सिद्धानन्तिमप्रमाणमात्रमपि ।
समयप्रबद्धनिमित्तं कार्मणवर्गणागुणतस्तु ॥ ३८७ ॥
भवत्यनन्तिमभागस्तद्गुणकारो पि देशावधेः ।
द्व्यूनद्रव्यभेदप्रमाणध्रुवहारसंवर्गः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्रुवहारका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमे भाग है, तथापि अवधि-ज्ञान-विषयक समयप्रबद्धका प्रमाण निकालनेके निमित्तभूत कार्मण वर्गणाके गुणकारसे अनन्तमे भाग समझना चाहिये। द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधि ज्ञानके जितने भेद हैं उनमें दो कम करनेसे जो प्रमाण शेष रहे उसका ध्रुवहार[1]प्रमाण परस्पर गुणा करनेसे कार्मण वर्गणाके गुणकारका प्रमाण निकलता है।

देशावधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षा कितने भेद हैं यह बताते हैं।

अंगुलअसंखगुणिदा खेत्तवियप्पा य दव्वभेदा हु।
खेत्तवियप्पा अवरुक्कस्सविसेसं हवे एत्थ॥ ३८९॥

अङ्गुलासंख्यगुणिताः क्षेत्रविकल्पाश्च द्रव्यभेदा हि।
क्षेत्रविकल्पा अवरोत्कृष्टविशेषो भवेदत्र॥ ३८९॥

अर्थ—देशावधि ज्ञानके क्षेत्रकी अपेक्षा जितने भेद हैं उनको सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणा करनेपर, द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधिके भेदोंका प्रमाण निकलता है। क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे सर्व—जघन्य प्रमाणको घटाने और एक मिलानेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ही क्षेत्रकी अपेक्षासे देशावधिके विकल्प होते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण कितना है यह बताते हैं।

अंगुलअसंखभागं अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो।
इदि वग्गणगुणगारो असंखधुवहारसंवग्गो॥ ३९०॥

अङ्गुलासंख्यभागमवरमुत्कृष्टकं भवेल्लोकः।
इति वर्गणागुणकारोऽसंख्यध्रुवहारसंवर्गः॥ ३९०॥

अर्थ—देशावधिका पूर्वोक्त लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनाप्रमाण, अर्थात् घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागस्वरूप जो प्रमाण बताया है वही जघन्य क्षेत्रका प्रमाण है। सम्पूर्ण लोकप्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। इसलिये असंख्यात ध्रुवहारोंका परस्पर गुणा करनेसे कार्मण वर्गणाका गुणकार निष्पन्न होता है।

वर्गणाका प्रमाण बताते हैं।

वग्गणरासिपमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।
दुगसहियपरमभेदपमाणवहाराण संवग्गो॥ ३९१॥

वर्गणाराशिप्रमाणं सिद्धानन्तिमप्रमाणमात्रमपि।
द्विकसहितपरमभेदप्रमाणावहाराणां संवर्गः॥ ३९१॥

अर्थ—कार्मण वर्गणाका प्रमाण यद्यपि सिद्धराशिके अनन्तमे भाग है; तथापि परमाव-

१ ध्रुवहारका जितना प्रमाण है उतनी वार।

धिके भेदोंमें दो मिलानेसे जो प्रमाण हो उतनी जगह ध्रुवहार रखकर परस्पर गुणा करनेसे लब्धराशिप्रमाण कार्मण वर्गणाका प्रमाण होता है ।

परमावधिके कितने भेद हैं यह बताते हैं ।

परमावहिस्स भेदा सगओगाहणवियप्पहदतेऊ ।
इदि धुवहारं वग्गणगुणगारं वग्गणं जाणे ॥ ३९२ ॥

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजसः ।
इति ध्रुवहारं वर्गणागुणकारं वर्ग्गणां जानीहि ॥ ३९२ ॥

अर्थ—तेजस्कायिक जीवोंकी अवगाहनाके जितने विकल्प हैं उसका और तेजस्कायिक जीवराशिका परस्पर गुणा करनेसे जो राशि लब्ध आवे उतना ही परमावधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे भेदोंका प्रमाण होता है । इस प्रकार ध्रुवहार, वर्गणाका गुणकार, और वर्ग्गणाका स्वरूप समझना चाहिये ।

देसोहिअवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे बिदियं ।
तदियादिवियप्पेसु वि असंखवारोत्ति एस कमो ॥ ३९३ ॥

देशावध्यवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेत् द्वितीयम् ।
तृतीयादिविकल्पेष्वपि असंख्यवार इत्येषः क्रमः ॥ ३९३ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञानके जघन्य द्रव्यका जो प्रमाण पहले बताया है उसमें ध्रुवहारका एक वार भाग देनेसे देशावधिके दूसरे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है । दूसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका एक वार भाग देनेसे तीसरे विकल्पके द्रव्यका और तीसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे चौथे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है । इसी तरह आगेके विकल्पोंके द्रव्यका प्रमाण निकालनेकेलिये क्रमसे असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये ।

देसोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं ।
तेजोभासमणाणं वग्गणयं केवलं जत्थ ॥ ३९४ ॥
पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही ।
वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदकमा ॥ ३९५ ॥

देशावधिमध्येभेदे सविस्रसोपचयतेजःकर्माङ्गम् ।
तेजोभाषामनसां वर्गणां केवलां यत्र ॥ ३९४ ॥
पश्यत्यवधिस्तत्र असंख्येया भवन्ति द्वीपोदधयः ।
वर्षाणि असंख्यातानि भवन्ति असंख्यातगुणितक्रमाणि ॥ ३९५ ॥

अर्थ—इस प्रकार असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देते २ देशावधि ज्ञानके मध्य भेदोंमेंसे जहां पर प्रथम भेद विस्रसोपचयसहित तैजस शरीरको विषय करता है, अथवा इसके आगेका दूसरा मध्यभेद विस्रसोपचयसहित कार्मण शरीरको विषय करता है, अथवा तीसरा भेद विस्रसोपचयरहित तैजस वर्गणाको विषय करता है, अथवा चौथा भेद विस्रसोपचयरहित भाषा वर्गणाको विषय करता है, अथवा पांचमा भेद विस्रसोपचयरिहत मनोवर्गणाको विषय करता है, वहां पर सामान्यसे देशावधिके उक्त पांचो ही मध्य भेदोंके क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीपसमुद्र और कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है। परन्तु विशेषताकी अपेक्षासे पूर्व २ भेदके क्षेत्र और कालके प्रमाणसे उत्तरोत्तर भेदके क्षेत्र और कालका प्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा है; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात भेद होते हैं।

तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपबद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारस्स विभज्जं सव्वोही जाव ताव हवे ॥ ३९६ ॥

ततः कार्मणस्य एकसमयप्रबद्धं विविस्रसोपचयम्।
ध्रुवहारस्य विभाज्यं सर्वावधिः यावत् तावत् भवेत् ॥ ३९६ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर मनोवर्गणामें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये। इस तरह भाग देते २ विस्रसोपचयरहित कार्मणके एक समयप्रबद्धको विषय करता है। उक्त क्रमानुसार इसमें भी सर्वावधिके विषयपर्यन्त ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये।

एदम्हि विभज्जंते दुचरिमदेसावहिम्मि वग्गणयं।
चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु ॥ ३९७ ॥

एतस्मिन् विभज्यमाने द्विचरमदेशावधौ वर्गणा।
चरमे कार्मणस्यैकवर्गणा एकवारभक्ता तु ॥ ३९७ ॥

अर्थ—इस समयप्रबद्धमें भी ध्रुवहारका भाग देनेसे देशावधि ज्ञानके द्विचरम भेदके विषयभूत द्रव्यका कार्मण वर्गणारूप प्रमाण निकलता है। इस एक कार्मण वर्गणामें भी एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके चरम भेदके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण निकलता है।

अंगुलअसंखभागे दव्ववियप्पे गदे दु खेत्तम्हि।
एगागासपदेसो वड्ढदि संपुण्णलोगोत्ति ॥ ३९८ ॥

अङ्गुलासंख्यभागे द्रव्यविकल्पे गते तु क्षेत्रे।
एकाकाशप्रदेशो वर्धते संपूर्ण लोक इति ॥ ३९८ ॥

अर्थ—सूच्यंगुलके असंख्यातमे भाग प्रमाण जब द्रव्यके विकल्प होजाँय तब क्षेत्रकी

अपेक्षा एक आकाशका प्रदेश बढ़ता है । इस ही क्रमसे एक २ आकाशके प्रदेशकी वृद्धि वहांतक करनी चाहिये कि जहां तक देशावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक हो जाय ।

आवलिअसंखभागो जहण्णकालो कमेण समयेण ।
वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव ॥ ३९९ ॥

आवल्यसंख्यभागो जघन्यकालः क्रमेण समयेन ।
वर्धते देशावधिवरं पल्यं समयोनकं यावत् ॥ ३९९ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातमा भाग है । इसके ऊपर उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत एक समय कम एक पल्यप्रमाण काल पर्यन्त, ध्रुव तथा अध्रुव वृद्धिरूप क्रमसे एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

उक्त दोनों क्रमोंको उन्नीस काण्डकोंमें कहनेकी इच्छासे आचार्य पहले प्रथम काण्डकमें उनका ढाई गाथाओंद्वारा वर्णन करते हैं ।

अंगुलअसंखभागं धुवरूवेण य असंखवारं तु ।
असंखसंखं भागं असंखवारं तु अद्धुवगे ॥ ४०० ॥

अङ्गुलासंख्यभागं ध्रुवरूपेण च असंख्यवारं तु ।
असंख्यसंख्यं भागमसंख्यवारं तु अध्रुवगे ॥ ४०० ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें चरम विकल्पपर्यन्त असंख्यात वार घनाङ्गुलके असंख्यातमें भागप्रमाण ध्रुव वृद्धि होती है । और इस ही काण्डकके अन्त पर्यन्त घनाङ्गुलके असंख्यातमे और संख्यातमे भाग प्रमाण ध्रुव वृद्धि भी असंख्यात वार होती है ।

धुवअद्धुवरूवेण य अवरे खेत्तम्हि वड्ढिदे खेत्ते ।
अवरे कालम्हि पुणो एक्केक्कं वड्ढदे समयं ॥ ४०१ ॥

ध्रुवाध्रुवरूपेण च अवरे क्षेत्रे वर्द्धिते क्षेत्रे ।
अवरे काले पुनः एकैको वर्धते समयः ॥ ४०१ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत क्षेत्रके ऊपर ध्रुवरूपसे अथवा अध्रुवरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि होनेपर जघन्य कालके ऊपर एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

संखातीदा समया पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी ।
खेत्तं कालं अस्सिय पढमादी कंडये वोच्छं ॥ ४०२ ॥

संख्यातीताः समयाः प्रथमे पर्वे उभयतो वृद्धिः ।
क्षेत्रं कालमाश्रित्य प्रथमादीनि काण्डकानि वक्ष्ये ॥ ४०२ ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें ध्रुवरूपसे और अध्रुवरूपसे असंख्यात समयकी वृद्धि होती है । इसके आगे प्रथमादि काण्डकोंका क्षेत्र और कालके आश्रयसे वर्णन करते हैं ।

अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्जदोवि संखेज्जो।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं ॥ ४०३ ॥

अङ्गुलावल्योः भागोऽसंख्येयोऽपि संख्येयः।
अङ्गुलमावल्यन्त आवलिकश्चाङ्गुलपृथक्त्वम् ॥ ४०३ ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें जघन्य क्षेत्रका प्रमाण घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण, और उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण घनाङ्गुलके संख्यातमे भाग प्रमाण है। और जघन्य कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातमा भाग, तथा उत्कृष्ट कालका प्रमाण आवलीका संख्यातमा भाग है। दूसरे काण्डकमें क्षेत्र घनाङ्गुलप्रमाण और काल कुछ कम एक आवली प्रमाण है। तीसरे काण्डकमें क्षेत्र घनाङ्गुल—पृथक्त्व[1] और काल आवली—पृथक्त्व—प्रमाण है।

आवलियपुधत्तं पुण हत्थं तह गाउयं मुहुत्तं तु।
जोयणभिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णुवीसं तु ॥ ४०४ ॥

आवलिपृथक्त्वं पुनः हस्तस्तथा गव्यूतिः मुहूर्तस्तु।
योजनं भिन्नमुहूर्तःदिवसान्तः पञ्चविंशतिस्तु ॥ ४०४ ॥

अर्थ—चतुर्थ काण्डकमें काल आवलीपृथक्त्व और क्षेत्र हस्तप्रमाण है। पाचमे काण्डकमें क्षेत्र एक कोश और काल अन्तर्मुहूर्त है। छट्ठे काण्डकमें क्षेत्र एक योजन और काल भिन्नमुहूर्त है। सातमे काण्डकमें काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पच्चीस योजन है।

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जम्बुदीवम्मि।
वासं च मणुवलोए वासपुधत्तं च रुचगम्मि ॥ ४०५ ॥

भरते अर्धमासः साधिकमासश्च जम्बूद्वीपे।
वर्षश्च मनुजलोके वर्षपृथक्त्वं च रुचके ॥ ४०५ ॥

अर्थ—आठमे काण्डकमें क्षेत्र भरतक्षेत्र प्रमाण और काल अर्धमास (पक्ष) प्रमाण है। नौमे काण्डकमें क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण और काल एक माससे कुछ अधिक है। दशमे काण्डकमें क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण और काल एक वर्षप्रमाण है। ग्यारहमे काण्डकमें क्षेत्र रुचकद्वीप और काल वर्षपृथक्त्वप्रमाण है।

संखेज्जपमे वासे दीवसमुद्दा हवंति संखेज्जा।
वासम्मि असंखेज्जे दीवसमुद्दा असंखेज्जा ॥ ४०६ ॥

संख्यातप्रमे वर्षे द्वीपसमुद्रा भवन्ति संख्याताः।
वर्षे असंख्येये द्वीपसमुद्रा असंख्येयाः ॥ ४०६ ॥

---

१ तीनसे नौ तककी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं।

अर्थ—बारहमे काण्डकमें संख्यात वर्ष प्रमाण काल और संख्यात द्वीपसमुद्रप्रमाण क्षेत्र है। इसके आगे तेरहमे से लेकर उन्नीसमे काण्डक पर्यन्त असंख्यात वर्ष—प्रमाण काल और असंख्यात द्वीपसमुद्र—प्रमाण क्षेत्र है।

कालविसेसेणवहिदखेत्तविसेसो धुवा हवे वड्ढी।
अद्धुववड्ढीवि पुणो अविरुद्धं इट्ठकंडम्मि ॥ ४०७ ॥

कालविशेषेणावहितक्षेत्रविशेषो ध्रुवा भवेत् वृद्धिः।
अध्रुववृद्धिरपि पुनः अविरुद्धा इष्टकाण्डे ॥ ४०७ ॥

अर्थ—किसी विवक्षित काण्डकके क्षेत्रविशेषमें कालविशेषका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है। इस ही तरह अविरोधरूपसे इष्ट काण्डकमें अध्रुव वृद्धिका भी प्रमाण समझना चाहिये। इस अध्रुव वृद्धिका क्रम आगेके गाथामें कहेंगे। **भावार्थ**—विवक्षित काण्डकके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणमेंसे जघन्य क्षेत्रप्रमाणको घटाने पर जो शेष रहे उसको क्षेत्रविशेष कहते हैं। और उत्कृष्ट कालके प्रमाणमेंसे जघन्य कालके प्रमाणको घटानेपर जो शेष रहे उसको कालविशेष कहते हैं। किसी विवक्षित क्षेत्रविशेषमें उसके कालविशेषका भाग देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है। तथा अध्रुव वृद्धिका क्रम किसी भी विवक्षित काण्डकमें अविरोधकरके सिद्ध करना चाहिये।

अध्रुव वृद्धिका क्रम बताते हैं।

अंगुलअसंखभागं संखं वा अंगुलं च तस्सेव।
संखमसंखं एवं सेढीपदरस्स अद्धुवगे ॥ ४०८ ॥

अंगुलासंख्यभागः संख्यं वा अङ्गुलं तस्यैव।
संख्यमसंख्यमेवं श्रेणीप्रतरयोः अध्रुवगायाम् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण, वा घनाङ्गुलके संख्यातमे भागप्रमाण, वा घनाङ्गुलमात्र, वा संख्यात घनाङ्गुलमात्र, वा असंख्यात घनाङ्गुलमात्र, वा श्रेणीके असंख्यातमे भागप्रमाण, वा श्रेणीके संख्यातमे भागप्रमाण, वा श्रेणीप्रमाण, वा संख्यात श्रेणीप्रमाण, वा असंख्यात श्रेणीप्रमाण, वा प्रतरके असंख्यातमे भाग–प्रमाण, वा प्रतरके संख्यातमे भाग–प्रमाण, वा प्रतरप्रमाण, वा संख्यात प्रतर-प्रमाण, वा असंख्यात प्रतर-प्रमाण प्रदेशोंकी वृद्धि होने पर एक एक समयकी वृद्धि होती है। यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है। **भावार्थ**—जहां पर जितने प्रकारकी वृद्धियोंका होना सम्भव हो, वहां पर उतने प्रकारकी वृद्धियोंमेंसे कभी किसी प्रकारकी और कभी किसी प्रकारकी प्रदेश वृद्धिके होने पर एक एक समयकी वृद्धिका होना यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है।

उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रमाण बताते हैं ।

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं ।
उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ॥ ४०९ ॥

कार्मणवर्गणां ध्रुवहारेणैकवारभाजिते द्रव्यम् ।
उत्कृष्टं क्षेत्रं पुनः लोकः संपूर्णो भवति ॥ ४०९ ॥

अर्थ—कार्मण वर्गणामें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है । तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है ।

पल्लसमऊण काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु ।
दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु ॥ ४१० ॥

पल्यं समयोनं काले भावेनासंख्यलोकमात्रा हि ।
द्रव्यस्य च पर्याया वरदेशावधेर्विषया हि ॥ ४१० ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षा एक समय कम एक पल्य, और भावकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण द्रव्यकी पर्याय उत्कृष्ट देशावधिका विषय है । **भावार्थ**—काल और भाव शब्दके द्वारा द्रव्यकी पर्यायोंका ग्रहण किया जाता है। इसलिये कालकी अपेक्षा एक समय कम पल्य—प्रमाण और भावकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण द्रव्यकी पर्यायोंको उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान विषय करता है ।

काले चउण्ण उड्ढी कालो भजिदव्व खेत्तउड्ढी य ।
उड्ढीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेत्तकाला हु ॥ ४११ ॥

काले चतुर्णां वृद्धिः कालो भजितव्यः क्षेत्रवृद्धिश्च ।
वृद्ध्या द्रव्यपर्यययोः भजितव्यौ क्षेत्रकालौ हि ॥ ४११ ॥

अर्थ—कालकी वृद्धि होने पर चारो प्रकारकी वृद्धि होती है । क्षेत्रकी वृद्धि होने पर कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है । इस ही तरह द्रव्य और भावकी अपेक्षा वृद्धि होने पर क्षेत्र और कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है । परन्तु क्षेत्र और कालकी वृद्धि होने पर द्रव्य और भावकी वृद्धि अवश्य होती है ।

देशावधिका निरूपण समाप्त हुआ, अतः क्रमप्राप्त परमावधिका निरूपण करते हैं ।

देसावहिवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा ।
परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठम् ॥ ४१२ ॥

देशावधिवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेत् नियमात् ।
परमावधेरवरं द्रव्यप्रमाणं तु जिनदिष्टम् ॥ ४१२ ॥

अर्थ—देशावधिका जो उत्कृष्ट द्रव्य—प्रमाण है उसमें ध्रुवहारका भाग देनेसे नियमसे परमावधिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण निकलता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ।

परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ ।
चरमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु ॥ ४१३ ॥

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजाः ।
चरमे हारप्रमाणं ज्येष्ठस्य च भवति द्रव्यं तु ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अपनी (तेजस्कायिक जीवराशि) अवगाहनाके भेदोंका जो प्रमाण है, उसका तेजस्कायिक जीवराशिके साथ गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने ही परमावधिके भेद हैं । इनमेंसे सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेदमें द्रव्य ध्रुवहारप्रमाण होता है ।

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो ।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१४ ॥

सर्वावधेरेकः परमाणुर्भवति निर्विकल्पः सः ।
गंगामहानद्याः प्रवाह इव ध्रुवो भवेत् हारः ॥ ४१४ ॥

अर्थ—परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एकवार भाग देनेसे लब्ध एक परमाणु—मात्र द्रव्य सर्वावधिका विषय होता है । यह ज्ञान तथा इसका विषयभूत परमाणु निर्विकल्पक है । भागहार गंगा महानदीके प्रवाहकी तरह ध्रुव है । **भावार्थ**—जिसतरह गंगा महानदीका प्रवाह हिमाचलसे निकलकर अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा वहता हुआ पूर्व समुद्रमें जाकर अवस्थित होगया है । उसी तरह यह भागहार जघन्य देशावधि द्रव्य-प्रमाणसे आगे परमावधिके सर्वोत्कृष्ट द्रव्यपर्यन्त अविच्छिन्न रूपसे जाते २ परमाणुपर जाकर अवस्थित होगया है ।

परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति ।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ ४१५ ॥

परमावधिद्रव्यभेदा यावन्मात्रा हि तावन्मात्रा भवन्ति ।
तस्यैव क्षेत्रकालविकल्पा विषया असंख्यगुणितक्रमाः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—परमावधिके जितने द्रव्यकी अपेक्षासे भेद हैं उतने ही भेद क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे हैं । परन्तु उनका विषय असंख्यातगुणितक्रम है ।

असंख्यातगुणितक्रम किस तरहसे है यह बताते हैं ।

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ॥ ४१६ ॥

आवल्यसंख्यभागा इच्छितगच्छधनमानमात्राः ।
देशावधेः क्षेत्रे कालेऽपि च भवन्ति संवर्गे ॥ ४१६ ॥

अर्थ—किसी भी परमावधिके विवक्षित विकल्पमें अथवा विवक्षित कालके विकल्पमें संकलित धनका जितना प्रमाण हो उतनी जगह आवलीके असंख्यातमे भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालमें गुणकारका प्रमाण होता है । **भावार्थ**—परमावधिके प्रथम विकल्पमें संकलित धनका प्रमाण एक और दूसरे विकल्पमें तीन तथा तीसरे विकल्पमें छह चौथे विकल्पमें दश पांचमे विकल्पमें पन्द्रह छट्ठे विकल्पमें इक्कीस सातमे विकल्पमें अट्ठाईस होता है । इसी तरह आगे भी संकलित धनका प्रमाण समझना चाहिये । परमावधिके जिस विकल्पके क्षेत्र या कालका प्रमाण निकालना हो, उस विकल्पके संकलित धनके प्रमाणकी बराबर आवलीके असंख्यातमे भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो, उसका देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालके प्रमाणके साथ गुणा करनेसे परमावधिके विवक्षित विकल्पके क्षेत्र और कालका प्रमाण निकलता है ।

जितनेमा भेद विवक्षित हो वहां पर्यन्त एकसे लेकर एक एक अधिक अङ्क रखकर सबको जोड़नेसे जो राशि उत्पन्न हो वह उस विवक्षित भेदका संकलित धन होता है । जैसे प्रथम भेदका एक, दूसरे भेदका तीन, तीसरे भेदका छह, इत्यादि ।

प्रकारान्तरसे गुणकारका प्रमाण बताते हैं ।

गच्छसमा तक्कालियतीदे रूऊणगच्छधणमेत्ता ।
उभये वि य गच्छस्स य धणमेत्ता होंति गुणगारा ॥ ४१७ ॥

गच्छसमाः तात्कालिकातीते रूपोनगच्छधनमात्राः ।
उभयेऽपि च गच्छस्य च धनमात्रा भवन्ति गुणकाराः ॥ ४१७ ॥

अर्थ—विवक्षित गच्छकी जो संख्या हो उतने प्रमाणको विवक्षित गच्छसे अव्यवहित पूर्वके गच्छके प्रमाणमें मिला कर एक कम करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसमें विवक्षित गच्छकी संख्या मिलानेसे संकलित धनका प्रमाण होता है । यही गुणकारका प्रमाण है । **भावार्थ**—जैसे चौथा भेद विवक्षित है, तो गच्छके प्रमाण चारको अव्यवहित पूर्वके भेद तीनमें मिलाकर एक कम करनेसे छह[1] होते हैं, इसमें विवक्षित गच्छके प्रमाण चारको मिलानेसे दश होते हैं, यही गुणकारका प्रमाण है । तथा विवक्षित भेदका संकलितधन है ।

परमावहिवरखेत्तेणवहिदउक्कस्सओहिखेत्तं तु ।
सव्वावहिगुणगारो काले वि असंखलोगो दु ॥ ४१८ ॥

1 यही तीसरे भेदका संकलितधन है ।

परमावधिवरक्षेत्रेणावहितोत्कृष्टावधिक्षेत्रं तु ।
सर्वावधिगुणकारः कालेऽपि असंख्यलोकस्तु ॥ ४१८ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट अवधि ज्ञानके क्षेत्रमें परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सर्वावधिसम्बन्धी क्षेत्रकेलिये गुणकार है। तथा सर्वावधिसम्बन्धी कालका प्रमाण लानेके लिये असंख्यात लोकका गुणकार है। **भावार्थ**—असंख्यात लोकके प्रमाणको पांचवार लोकके प्रमाणसे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना सर्वावधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है। इसमें परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रका भाग देनेसे सर्वावधिके क्षेत्रसम्बन्धी गुणकारका प्रमाण निकलता है। अर्थात् इस गुणकारका परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणके साथ गुणा करनेसे सर्वावधिके क्षेत्रका प्रमाण निकलता है। और इस ही तरह सर्वावधिके कालका प्रमाण निकालनेकेलिये असंख्यात लोकका गुणकार है। अर्थात् असंख्यातलोकका परमावधिके उत्कृष्ट कालप्रमाणके साथ गुणा करनेसे सर्वावधिके कालका प्रमाण निकलता है।

परमावधिके विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालका प्रमाण निकालनेकेलिये दो करणसूत्रोंको कहते हैं।

इच्छिदरासिच्छेदं दिण्णच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ ।
लद्धमिददिण्णरासीणब्भासे इच्छिदो रासी ॥ ४१९ ॥

इच्छितराशिच्छेदं देयच्छेदैर्भाजिते तत्र ।
लब्धमितदेयराशीनामभ्यासे इच्छितो राशिः ॥ ४१९ ॥

अर्थ—विवक्षित राशिके अर्धच्छेदोंमें देय राशिके अर्धच्छेदोंका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह देयराशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे विवक्षित राशिका प्रमाण निकलता है।

दिण्णच्छेदेणवहिदलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे ।
लद्धमिदलोगगुणणं परमावहिचरिमगुणगारो ॥ ४२० ॥

देयच्छेदेनावहितलोकच्छेदेन पदधने भजिते ।
लब्धमितलोकगुणनं परमावधिचरमगुणकारः ॥ ४२० ॥

अर्थ—देयराशिके अर्धच्छेदोंका लोकके अर्धच्छेदोंमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका विवक्षित संकलित धनमें भाग देनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतनी जगह लोकप्रमाणको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वह विवक्षित पदमें क्षेत्र या कालका गुणकार होता है। ऐसे ही परमावधिके अन्तिम भेदमें भी गुणकार जानना।

आवलिअसंखभागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया ।
कालस्स जहण्णादो असंखगुणहीणमेत्ता हु ॥ ४२१ ॥

आवल्यसंख्यभागा जघन्यद्रव्यस्य भवन्ति पर्यायाः।
कालस्य जघन्यतः असंख्यगुणहीनमात्रा हि ॥ ४२१ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी पर्याय आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण हैं। और जघन्य देशावधिके विषयभूत कालका जितना प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा हीन जघन्य देशावधिके विषयभूत भावका प्रमाण है।

सवोहित्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा।
दवाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२२ ॥

सर्वावधिरिति च क्रमशः आवल्यसंख्यभागगुणितक्रमाः।
द्रव्यानां भावानां पदसंख्याः सदृशकाः भवन्ति ॥ ४२२ ॥

अर्थ—देशावधिके जघन्य द्रव्यकी पर्यायरूप भाव, जघन्य देशावधिसे सर्वावधिपर्यन्त आवलीके असंख्यातमे भागसे गुणितक्रम हैं। अत एव द्रव्य तथा भावके पदोंकी संख्या सदृश है। **भावार्थ**—जहां पर देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य भेद है वहां पर भावकी अपेक्षा भी आवलीके असंख्यातमे भाग प्रमाण जघन्य भेद होता है। और जहां पर द्रव्यकी अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहां भावकी अपेक्षा भी प्रथम भेदसे आवलीके असंख्यातमे भागगुणा दूसरा भेद होता है। जहां पर द्रव्यकी अपेक्षा तीसरा भेद होता है वहां पर भावकी अपेक्षा दूसरे भेदसे आवलीके असंख्यातमे भागगुणा तीसरा भेद होता है। इस ही क्रमसे सर्वावधिपर्यन्त जानना। अवधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे जितने भेद हैं उतने ही भेद भावकी अपेक्षासे हैं। अत एव द्रव्य तथा भावकी पदसंख्या सदृश है।

नरक गतिमें अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण बताते हैं।

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव।
जाव य पढमे णिरये जोयणमेकं हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥

सप्तमक्षितौ कोशं क्रोशस्यार्धार्धं प्रवर्धते तावत्।
यावच्च प्रथमे निरये योजनमेकं भवेत् पूर्णम् ॥ ४२३ ॥

अर्थ—सातमी भूमिमें अवधि ज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है। इसके ऊपर आध २ कोस की वृद्धि तब तक होती है जब तक कि प्रथम नरकमें अवधि ज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो। **भावार्थ**—सातमी पृथ्वीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है। इसके ऊपर प्रथम भूमिके अवधि-क्षेत्र पर्यन्त क्रमसे आध २ कोसकी वृद्धि होती है। प्रथम भूमिमें अवधि-क्षेत्रका प्रमाण एक योजन है।

तिर्यग्गति और मनुष्यगतिमें अवधिको बताते हैं।

तिरिये अवरं ओघो तेजोयंते य होदि उक्कस्सं ।
मणुए ओघं देवे जहाकमं सुणह वोच्छामि ॥ ४२४ ॥

तिरश्चि अवरमोघः तेजोऽन्ते च भवति उत्कृष्टम् ।
मनुजे ओघः देवे यथाक्रमं शृणुत वक्ष्यामि ॥ ४२४ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चोंके अवधि ज्ञान जघन्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टताकी अपेक्षा उस भेदपर्यन्त होता है कि जो देशावधिका भेद तैजस शरीरको विषय करता है । मनुष्य गतिमें अवधि ज्ञान जघन्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टतया सर्वावधिपर्यन्त होता है । देवगतिमें अवधि ज्ञानको यथाक्रमसे कहूंगा सो सुनो ।

प्रतिज्ञाके अनुसार देवगतिमें अवधिके क्षेत्रादिका वर्णन करते हैं ।

पणुवीसजोयणाइं दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं ।
संखेज्जगुणं खेत्तं बहुगं कालं तु जोइसिगे ॥ ४२५ ॥

पञ्चविंशतियोजनानि दिवसान्तं च च कुमारभौमयोः ।
संख्यातगुणं क्षेत्रं बहुकः कालस्तु ज्योतिष्के ॥ ४२५ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरोंकी अवधिके क्षेत्रका जघन्य प्रमाण पच्चीस योजन और जघन्य काल कुछ कम एक दिन है । और ज्योतिषी देवोंकी अवधिका क्षेत्र इससे संख्यातगुणा है और काल इससे बहुत अधिक है ।

असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोइसंताणं ।
संखातीदसहस्सा उक्कस्सोहीण विसओ दु ॥ ४२६ ॥

असुराणामसंख्येयाः कोट्यः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।
संख्यातीतसहस्रा उत्कृष्टावधीनां विषयस्तु ॥ ४२६ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंकी अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात कोटि योजन है । शेष नौ प्रकारके भवनवासी तथा व्यन्तर और ज्योतिषी इनकी अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात हजार योजन है ।

असुराणमसंखेज्जा वस्सा पुण सेसजोइसंताणं ।
तस्संखेज्जदिभागं कालेण य होदि णियमेण ॥ ४२७ ॥

असुराणामसंख्येयानि वर्षाणि पुनः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।
तत्संख्यातभागं कालेन च भवति नियमेन ॥ ४२७ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंकी अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है । और शेष नौ प्रकारके भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असुरोंकी अवधिके उत्कृष्ट कालके प्रमाणसे नियमसे संख्यातमे भागमात्र है ।

भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु ।
उड्ढेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्संति ॥ ४२८ ॥

भवनत्रिकाणामधोऽधः स्तोकं तिरश्चा भवति बहुकं तु ।
ऊर्ध्वेन भवनवासिनः सुरगिरिशिखरान्तं पश्यन्ति ॥ ४२८ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिका क्षेत्र नीचे २ कम होता है और तिर्यग् रूपसे अधिक होता है । तथा भवनवासी देव अपने अवस्थित स्थानसे सुरगिरिके (मेरुके) शिखरपर्यन्त अवधिदर्शनके द्वारा देखते हैं ।

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा ।
तदियं तु बम्हलांतव सुक्कसहस्सारया तुरियं ॥ ४२९ ॥

शक्रैशानाः प्रथमं द्वितीयं तु सनत्कुमारमाहेन्द्राः ।
तृतीयं तु ब्रह्मलान्तवाः शुक्रसहस्रारकाः तुरियम् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देव अवधिके द्वारा प्रथम भूमिपर्यन्त देखते हैं । सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देव दूसरी पृथ्वीतक देखते हैं । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ स्वर्गवाले देव तीसरी भूमि तक देखते हैं । शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार स्वर्गके देव चौथी भूमि तक देखते हैं ।

आणदपाणदवासी आरण तह अच्चुदा य पस्संति ।
पंचमखिदिपेरंतं छट्ठिं गेवेज्जगा देवा ॥ ४३० ॥

आनतप्राणतवासिनः आरणास्तथा अच्युताश्च पश्यन्ति ।
पञ्चमक्षितिपर्यन्तं षष्ठीं ग्रैवेयका देवाः ॥ ४३० ॥

अर्थ—आनत प्राणत आरण अच्युत स्वर्गके देव पांचमी भूमि तक अवधिके द्वारा देखते हैं । और ग्रैवेयकवासी देव छट्ठी भूमि तक देखते हैं ।

सव्वं च लोयणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च ॥ ४३१ ॥

सर्वां च लोकनालीं पश्यन्ति अनुत्तरेषु ये देवाः ।
स्वक्षेत्रे च स्वकर्मणि रूपगतमनन्तभागं च ॥ ४३१ ॥

अर्थ—अनुत्तरवासी देव सम्पूर्ण लोकनालीको अवधिद्वारा देखते हैं । अवधिके विषयभूत क्षेत्रका जितना प्रदेशप्रचय है उसमें से एक २ कम करते जाना चाहिये और अवधिज्ञानावरण कर्मका जितना द्रव्य है उसमें ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये । अवधिके क्षेत्ररूप प्रदेशप्रचयमें एक २ प्रदेश कहां तक कम करना चाहिये? और अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग कहां तक देते जाना चाहिये? इसीको आगे स्पष्ट करते हैं:—

कप्पसुराणं सगसगओहीखेत्तं विविस्ससोवचयं ।
ओहीदव्वपमाणं संठाविय धुवहरेण हरे ॥ ४३२ ॥
सगसगखेत्तपदेससलायपमाणं समप्पदे जाव ।
तत्थतणचरिमखंडं तत्थतणोहिस्स दव्वं तु ॥ ४३३ ॥

कल्पसुराणां स्वकस्वकावधिक्षेत्रं विविस्रसोपचयम् ।
अवधिद्रव्यप्रमाणं संस्थाप्य ध्रुवहरेण हरेत् ॥ ४३२ ॥
स्वकस्वकक्षेत्रप्रदेशशलाकाप्रमाणं समाप्यते यावत् ।
तत्रतनचरमखण्डं तत्रतनावधेर्द्रव्यं तु ॥ ४३३ ॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंमें अपनी २ अवधिके क्षेत्रका जितना २ प्रमाण है उसका एक जगह स्थापन कर, और दूसरी जगह विस्रसोपचयरहित अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यका स्थापन कर, द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रमाणमें एक कम करना चाहिये । द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एकवार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें दूसरीवार ध्रुव-हारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें एक और कम करना चाहिये । दूसरी वार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें तीसरी वार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें तीसरी वार एक कम करना चाहिये । इस प्रकार उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग, एक २ प्रदेश कम करते २ जब सम्पूर्ण प्रदेशप्रचयरूप शलाका राशि समाप्त होजाय वहां तक देना चाहिये । इसतरह प्रदेशप्रचयमें एक २ प्रदेश कम करते २ और द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते २ जहां पर प्रदेशप्रचय समाप्त हो वहां पर द्रव्यका जो स्कन्ध शेष रहे उतने स्कन्धको अवधिके द्वारा वे कल्पवासी देव जानते हैं कि जिनकी अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रदेशप्रचय विवक्षित हो । **भावार्थ**—जैसे सौधर्म और ईशान-कल्पवासी देवोंका क्षेत्र प्रथम नरक पर्यंत है । ईशान कल्पके ऊपरके भागसे प्रथम नरक डेढ़ राजू है । इसलिये एक राजू लम्बे चौड़े और डेढ़ राजू ऊंचे क्षेत्रके जितने प्रदेश हों उनको एक जगह रखना, और दूसरी जगह अवधि ज्ञानावरण कर्मके द्रव्यका स्थापन करना । द्रव्यप्रमाणमें एक वार ध्रुवहारका भागदेना और प्रदेशप्रमाणमेंसे एक कम करना, इस पहली वार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आया उस द्रव्यप्रमाणमें दूसरीवार ध्रुवहारका भाग देना और प्रदेशप्रमाणमेंसे दूसरा एक और कम करना । इस तरह प्रदेशप्रमाणमेंसे एक २ कम करते २ तथा उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते २ प्रदेशप्रचय समाप्त होनेपर द्रव्यका जो परिमाण शेष रहे उतने परमाणुओंके सूक्ष्म पुद्गलस्कन्धको सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अवधिके द्वारा जानते हैं । इससे स्थूलको तो जानते ही हैं । किन्तु इससे सूक्ष्मको नहीं जानते । इस ही तरह आगे भी समझना ।

सौधर्म ईशान कल्पवासी देवोंका क्षेत्र डेढ़राजू, सनत्कुमार माहेन्द्रवालोंका चार राजू, ब्रह्म ब्रह्मोत्तरवालोंका साढ़े पांच राजू, लांतव कापिष्ठवालोंका छह राजू, शुक्र महाशुक्रवालोंका साढ़े सात राजू, सतार सहस्रारवालोंका आठ राजू, आनत प्राणतवालोंका साढ़े नव-राजू, आरण अच्युतवालोंका दश राजू, ग्रैवेयकवालोंका ग्यारह राजू, अनुदिश विमानवालोंका कुछ अधिक तेरह राजू, अनुत्तरविमानवालोंका कुछ कम चौदह राजू क्षेत्र है। इस क्षेत्रप्रमाणके अनुसार ही उनकी (कल्पवासी देवों की) अवधिके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण उक्त क्रमानुसार निकलता है।

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ।
उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो दु॥ ४३४॥
तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं।
किंचूणपल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गम्॥ ४३५॥

सौधर्मैशानानामसंख्येया हि वर्षकोट्यः।
उपरिमकल्पचतुष्के पल्यासंख्यातभागस्तु॥ ४३४॥
ततो लान्तवकल्पप्रभृति सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम्।
किञ्चिदूनपल्यमात्रं कालप्रमाणं यथायोग्यम्॥ ४३५॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी अवधिका काल असंख्यात कोटि वर्ष है। इसके ऊपर सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पवाले देवोंकी अवधिका काल यथायोग्य पल्यका असंख्यातमा भाग है। इसके ऊपर लान्तव स्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त वाले देवोंकी अवधिका काल कुछ कम पल्यप्रमाण है।

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा।
कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि॥ ४३६॥

ज्योतिष्कान्तानामवधिक्षेत्राणि उक्तानि न भवन्ति घनप्रतराणि।
कल्पसुराणां च पुनः विसदृशमायतं भवति॥ ४३६॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिका क्षेत्र बराबर घनरूप नहीं है। कल्पवासी देवोंकी अवधिका क्षेत्र आयतचतुरस्र (चौकोर; किन्तु लम्बाईमें अधिक और चौड़ाईमें थोड़ा) है। शेष मनुष्य तिर्यंच नारकी इनकी अवधिका विषयभूत क्षेत्र बराबर घनरूप है।

॥ इति अवधिज्ञानप्ररूपणा॥

मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप बताते हैं।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धंचिंतियमणेयभेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए॥ ४३७॥

चिन्तितमचिन्तितं वा अर्धं चिन्तितमनेकभेदगतम् ।
मनःपर्यय इत्युच्यते यज्जानाति तत्खलु नरलोके ॥ ४३७ ॥

अर्थ—जिसका भूत कालमें चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् कालमें चिन्तवन किया जायगा, अथवा वर्तमानमें जिसका आधा चिन्तवन किया है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं । यह मनःपर्यय ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है, बाहर नहीं ।

मनःपर्ययके भेदोंको गिनाते हैं ।

मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदित्ति उजुमदी तिविहा ।
उजुमणवयणे काए गदत्थविसयात्ति णियमेण ॥ ४३८ ॥

मनःपर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमतीति ऋजुमतिस्त्रिविधा ।
ऋजुमनोवचने काये गतार्थविषया इति नियमेन ॥ ४३८ ॥

अर्थ—सामान्यकी अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकारका है । और विशेष भेदोंकी अपेक्षा दो प्रकारका है। एक ऋजुमति दूसरा विपुलमति। ऋजुमतिके भी तीन भेद हैं । ऋजुमनोगतार्थविषयक, ऋजुवचनगतार्थविषक, ऋजुकायगतार्थविषयक । परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन वचन कायके द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानको ऋजुमति कहते हैं । अतएव सरल मन वचन कायके द्वारा किये हुए पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा ऋजुमतिके पूर्वोक्त तीन भेद हैं ।

विउलमदीवि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं ।
अत्थं जाणदि जम्हा सद्दत्थगया हु ताणत्था ॥ ४३९ ॥

विपुलमतिरपि च षोढा ऋजुगानृजुवचनकायचित्तगतम् ।
अर्थं जानाति यस्मात् शब्दार्थगता हि तेषामर्थाः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—विपुलमतिके छह भेद हैं । ऋजु मन वचन कायगत पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन वचन कायके द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद । ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययके विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनो ही प्रकारके होते हैं ।

तियकालविसयरूविं चिंतितं वट्टमाणजीवेण ।
उजुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ॥ ४४० ॥

त्रिकालविषयरूपि चिंतितं वर्तमानजीवेन ।
ऋजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यच्च विपुलमतिः ॥ ४४० ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य त्रिकालविषयक है। उसमें वर्तमान जीवके द्वारा चिन्त्यमान (वर्तमानमें जिसका चिंतवन किया जा रहा है) पदार्थको ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है। और विपुलमतिज्ञान भूत भविष्यत्को भी जानता है। **भावार्थ**—जिसका भूतकालमें चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्यत्में चिन्तवन किया जायगा यद्वा वर्तमानमें जिसका चिन्तवन होरहा है, ऐसे तीनों ही प्रकारके पदार्थको विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है।

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा॥ ४४१॥

सर्वाङ्गाङ्गसम्भवचिह्नादुत्पद्यते यथावधिः।
मनःपर्ययं च द्रव्यमनस्त उत्पद्यते नियमात्॥ ४४१॥

अर्थ—जिस प्रकार अवधिज्ञान शंखादि शुभ चिह्नोंसे युक्त समस्त अङ्गसे उत्पन्न होता है। उस तरह मनःपर्यय ज्ञान जहां पर द्रव्यमन होता है उनही प्रदेशोंसे उत्पन्न होता है। **भावार्थ**—जहांपर द्रव्य मन होता है उस स्थानपर जो आत्माके प्रदेश हैं वहीं मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता और वहींसे मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु अवधि सर्वाङ्गसे होती है; क्योंकि यद्यपि अवधि शंखादि चिन्हों के स्थानसे ही होती है तथापि इन चिन्हों का स्थान द्रव्यमन की तरह निश्चित नहीं है। यह उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा अवधि और मनःपर्यय ज्ञानमें अंतर है।

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।
अङ्गोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा॥ ४४२॥

हृदि भवति हि द्रव्यमनः विकसिताष्टछदारविंदवत्।
आङ्गोपाङ्गोदयात् मनोवर्गणास्कन्धतो नियमात्॥ ४४२॥

अर्थ—आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धोके द्वारा हृदयस्थानमें नियमसे विकसित आठ पांखड़ीके कमलके आकारमें द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।
वत्तत्ताभावादो मणमणपज्जं च तत्थ हवे॥ ४४३॥

नोइन्द्रियमिति संज्ञा तस्य भवेत् शेषेन्द्रियाणां वा।
व्यक्तत्वाभावात् मनो मनःपर्ययश्च तत्र भवेत्॥ ४४३॥

अर्थ—इस द्रव्यमनकी नोइन्द्रिय संज्ञा भी है; क्योंकि दूसरी इन्द्रियोंकी तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमन के होनेपर ही भावमन तथा मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है।

मनःपर्यय ज्ञान का स्वामी बताते हैं ।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं ।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ॥ ४४४ ॥

मनःपर्ययश्च ज्ञानं सप्तसु विरतेषु सप्तर्धीनाम् ।
एकादियुतेषु भवेत् वर्धमानविशिष्टाचरणेषु ॥ ४४४ ॥

अर्थ—प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानवालेके, इस पर भी सात ऋद्धियोंमेंसे किसी एक ऋद्धिको धारण करनेवालेके, ऋद्धिप्राप्तमें भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्रको धारणकरनेवालोंके ही यह मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है ।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि ।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ॥ ४४५ ॥

इन्द्रियनोइन्द्रिययोगादिमपेक्ष्य ऋजुमतिर्भवति ।
निरपेक्ष्य विपुलमतिः अवधिर्वा भवति नियमेन ॥ ४४५ ॥

अर्थ—अपने तथा परके स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग काययोग वचनयोगकी अपेक्षासे ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है । अर्थात् वर्तमानमें विचारप्राप्तस्पर्शनादिके विषयोंको ऋजुमति जानता है । किन्तु विपुलमति अवधिकी तरह इनकी अपेक्षाके विना ही नियमसे होता है ।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हु ।
सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो बिदियबोहो दु ॥ ४४६ ॥

प्रतिपाती पुनः प्रथमः अप्रतिपाती हि भवति द्वितीयो हि ।
शुद्धः प्रथमो बोधः शुद्धतरो द्वितीयबोधस्तु ॥ ४४६ ॥

अर्थ—ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि ऋजुमतिवाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियोंपर चढ़ता है । उसमें यद्यपि क्षपककी अपेक्षा ऋजुमतिवालेका पतन नहीं होता; तथापि उपशम श्रेणीकी अपेक्षा पतन सम्भव है । विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है । तथा ऋजुमति शुद्ध है, और विपुलमति इससे भी शुद्ध होता है ।

परमणसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय ।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४४७ ॥

परमनसिस्थितमर्थमीहामत्या ऋजुस्थितं लब्ध्वा ।
पश्चात् प्रत्यक्षेण च ऋजुमतिना जानीते नियमात् ॥ ४४७ ॥

अर्थ—ऋजुमतिवाला दूसरेके मनमें सरलताके साथ स्थित पदार्थको पहले ईहामतिज्ञानके द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूपसे नियमसे ऋजुमति ज्ञानके द्वारा जानता है ।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं ।
ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा ॥ ४४८ ॥

चिन्तितमचिन्तितं वा अर्द्धं चिन्तितमनेकभेदगतम् ।
अवधिर्वा विपुलमतिः लब्ध्वा विजानाति पश्चात् ॥ ४४८ ॥

अर्थ—चिन्तित अचिन्तित अर्धचिन्तित इस तरह अनेक भेदोंको प्राप्त दूसरेके मनोगत पदार्थको अवधिकी तरह विपुलमति प्रत्यक्षरूपसे जानता है ।

दवं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूविं ।
उजुविउलमदी जाणदि अवरवरं मज्झिमं च तहा ॥ ४४९ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति जीवलक्षितं रूपि ।
ऋजुविपुलमती जानीतः अवरवरं मध्यमं च तथा ॥ ४४९ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रूपि (पुद्गल) द्रव्यको तथा उसके सम्बन्धसे जीवद्रव्यको भी ऋजुमति और विपुलमति जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तीन तीन प्रकारसे जानते हैं ।

ऋजुमतिका जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण बताते हैं ।

अवरं दवमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु ।
चक्खिंदियणिज्जण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥ ४५० ॥

अवरं द्रव्यमौरालिकशरीरनिर्जीर्णसमयप्रबद्धं तु ।
चक्षुरिन्द्रियनिर्जीर्णमुत्कृष्टमृजुमतेर्भवेत् ॥ ४५० ॥

अर्थ—औदारिक शरीरके निर्जीर्ण समयप्रबद्धप्रमाण ऋजुमतिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण है । तथा चक्षुरिन्द्रियकी निर्जरा–द्रव्य–प्रमाण उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है ।

विपुलमतिके द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं ।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दवं ॥ ४५१ ॥

मनोद्रव्यवर्गणानामनन्तिमभागेन ऋजुगोत्कृष्टम् ।
खण्डितमात्रं भवति हि विपुलमतेवरं द्रव्यम् ॥ ४५१ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गणाके जितने विकल्प हैं, उसमें अनन्तका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण ध्रुवहारका, ऋजुमतिके विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने द्रव्यस्कन्धको विपुलमति जघन्यकी अपेक्षासे जानता है ।

अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयम् ।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दवं ॥ ४५२ ॥

अष्टानां कर्मणां समयप्रबद्धं विविस्रसोपचयम् ।
ध्रुवहारेणैकवारं भजिते द्वितीयं भवेत् द्रव्यम् ॥ ४५२ ॥

अर्थ—विस्रसोपचयसे रहित आठ कर्मोंके समयप्रबद्धका जो प्रमाण है उसमें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यका प्रमाण होता है।

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं ।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥ ४५३ ॥

तद्द्वितीयं कल्पानामसंख्येयानां च समयसंख्यासमम् ।
ध्रुवहारेणावहृते भवति हि उत्कृष्टकं द्रव्यम् ॥ ४५३ ॥

अर्थ—असंख्यात कल्पों के जितने समय हैं उतनी वार विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे विपुलमतिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण निकलता है ।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं ।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥ ४५४ ॥

गव्यूतिपृथक्त्वमवरमुत्कृष्टं भवति योजनपृथक्त्वम् ।
विपुलमतेश्च अवरं तस्य पृथक्त्वं वरं खलु नरलोकः ॥ ४५४ ॥

अर्थ—ऋजुमतिका जघन्य क्षेत्र दो तीन कोस और उत्कृष्ट सात आठ योजन है। विपुलमतिका जघन्य क्षेत्र आठ नव योजन तथा उत्कृष्ट मनुष्यलोकप्रमाण है ।

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स ।
जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं ॥ ४५५ ॥

नरलोक इति च वचनं विष्कम्भनियामकं न वृत्तस्य ।
यस्मात् तद्घनप्रतरं मनःपर्ययक्षेत्रमुद्दिष्टम् ॥ ४५५ ॥

अर्थ—मनःपर्ययके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण जो नरलोकप्रमाण कहा है सो नरलोक इस शब्दसे मनुष्यलोकका विष्कम्भ ग्रहण करना चाहिये नकि वृत्त; क्योंकि दूसरेके द्वारा चिंतित और मानुषोत्तर पर्वतके बाहर स्थित पदार्थको भी विपुलमति जानता है; क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र समचतुरस्र घनप्रतररूप पैतालीस लाख योजनप्रमाण है ।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं ।
अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४५६ ॥

द्विकत्रिकभवा हि अवरं सप्ताष्टभवा भवन्ति उत्कृष्टम् ।
अष्टनवभवा हि अवरमसंख्येयं विपुलोत्कृष्टम् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षासे ऋजुमतिका विषयभूत जघन्य काल दो तीन भव और उत्कृष्ट सात आठ भव, तथा विपुलमतिका जघन्य आठ नौ भव और उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण है ।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं ।
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५७ ॥

आवल्यसंख्यभागमवरं च वरं च वरमसंख्यगुणम् ।
ततःअसंख्यगुणितमसंख्यलोकं च विपुलमतिः ॥ ४५७ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षासे ऋजुमतिका जघन्य तथा उत्कृष्ट विषय आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण है; तथापि जघन्य प्रमाणसे उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यातगुणा है। विपुलमतिका जघन्यप्रमाण ऋजुमतिके उत्कृष्ट विषयसे असंख्यातगुणा है, और उत्कृष्ट विषय असंख्यात लोकप्रमाण है।

मज्झिमदव्वं खेत्तं कालं भावं च मज्झिमं णाणं ।
जाणदि इदि मणपज्जवणाणं कहिदं समासेण ॥ ४५८ ॥

मध्यमद्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च मध्यमं ज्ञानम् ।
जानातीति मनःपर्ययज्ञानं कथितं समासेन ॥ ४५८ ॥

अर्थ—इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भावका जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बताया इनके मध्यके जितने भेद हैं उनको मनःपर्यय ज्ञानके मध्यम भेद विषय करते हैं। इस तरह संक्षेपसे मनःपर्यय ज्ञानका निरूपण किया।

केवलज्ञानका निरूपण करते हैं।

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सवभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ॥ ४५९ ॥

सम्पूर्णं तु समग्रं केवलमसपत्नं सर्वभावगतम् ।
लोकालोकवितिमिरं केवलज्ञानं मन्तव्यम् ॥ ४५९ ॥

अर्थ—यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत, और लोकालोकमें अन्धकार रहित होता है। **भावार्थ**—यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है और लोकालोकके विषयमें आवरण रहित है। तथा जीवद्रव्यकी ज्ञान शक्तिके जितने अंश हैं वे यहांपर सम्पूर्ण व्यक्त होगये हैं इसलिये उसको (केवल ज्ञानको) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और अन्तरायका सर्वथा क्षय होजानेके कारण वह अप्रतिहतशक्ति युक्त है, अत एव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियोंकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल कहते हैं। समस्त पदार्थोंके विषयकरनेमें उसका कोई बाधक नहीं है इसलिये उस को असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

ज्ञानमार्गणामें जीवसंख्याका निरूपण करते हैं।

चदुगदिमदिसुदबोहा पल्लासंखेज्जया हु मणपज्जा ।
संखेज्जा केवलिणो सिद्धादो होंति अतिरित्ता ॥ ४६० ॥

चतुर्गतिमतिश्रुतबोधाः पल्यासंख्येया हि मनःपर्ययाः ।
संख्येयाः केवलिनः सिद्धात् भवन्ति अतिरिक्ताः ॥ ४६० ॥

अर्थ—चारों गतिसम्बन्धी मतिज्ञानियोंका अथवा श्रुतज्ञानियोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण है। और मनःपर्ययवाले कुल संख्यात हैं। तथा केवलियोंका प्रमाण सिद्धराशिसे कुछ अधिक है। **भावार्थ**—सिद्धराशिमें जिनकी (अर्हन्तोंकी) संख्या मिलानेसे केवलियोंका प्रमाण होता है।

ओहिरहिदा तिरिक्खा मदिणाणिअसंखभागगा मणुगा ।
संखेज्जा हु तदूणा मदिणाणी ओहिपरिमाणं ॥ ४६१ ॥

अवधिरहिताः तिर्यञ्चः मतिज्ञान्यसंख्यभागका मनुजाः ।
संख्येया हि तदूना मतिज्ञानिनः परिमाणम् ॥ ४६१ ॥

अर्थ—अवधिज्ञानरहित तिर्यञ्च—मतिज्ञानियोंकी संख्याका असंख्यातमा भाग, और अवधिज्ञानरहित मनुष्यों की संख्यात राशि इन दो राशियोंको मतिज्ञानियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अवधि ज्ञानका प्रमाण है।

पल्लासंखघणंगुलहदसेढितिरिक्खगदिविभङ्गजुदा ।
णरसहिदा किंचूणा चदुगदिवेभङ्गपरिमाणम् ॥ ४६२ ॥

पल्यासंख्यघनाङ्गुलहतश्रेणितिर्यग्गतिविभंगयुताः ।
नरसहिताःकिञ्चिदूनाः चतुर्गतिवैभङ्गपरिमाणम् ॥ ४६२ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागसे गुणित घनाङ्गुलका और जगच्छ्रेणीका गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने तिर्यञ्च, और संख्यात मनुष्य, घनाङ्गुलके द्वितीय वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण नारकी[1], तथा सम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणसे रहित सामान्य देवराशि, इन चारों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने विभङ्गज्ञानी हैं।

सण्णाणरासिपंचयपरिहीणो सव्वजीवरासी हु ।
मदिसुदअण्णाणीणं पत्तेयं होदि परिमाणं ॥ ४६३ ॥

सद्ज्ञानराशिपञ्चकपरिहीनः सर्वजीवराशिर्हि ।
मतिश्रुताज्ञानिनां प्रत्येकं भवति परिमाणम् ॥ ४६३ ॥

अर्थ—पांच सम्यग्ज्ञानी जीवोंके प्रमाणको (केवलियोंके प्रमाणसे कुछ अधिक) सम्पूर्ण जीवराशिके प्रमाणमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतने कुमतिज्ञानी तथा उतने ही कुश्रुतज्ञानी जीव हैं।

इति ज्ञानमार्गणाधिकारः ॥

---

१ परन्तु इसमेंसे सम्यग्दृष्टियोंका प्रमाण घटाना ।

॥ अथ संयममार्गणाधिकारः ।

वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६४ ॥ पंच्यगं·

व्रतसमितिकषायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पञ्चानाम् ।
धारणपालननिग्रहत्यागजयः संयमो भणितः ॥ ४६४ ॥

अर्थ—अहिंसा अचौर्य सत्य शील (ब्रह्मचर्य) अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंका धारण करना, इर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेण उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना, चारप्रकारकी कषायोंका निग्रह करना, मन वचन काय रूप दण्डका त्याग, तथा पांच इन्द्रियोंका जय, इसको संयम कहते हैं । अतएव संयमके पांच भेद हैं ।

संयमकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं ।

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।
संजमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ४६५ ॥

बादरसंज्वलनोदये सूक्ष्मोदये शमक्षययोश्च मोहस्य ।
संयमभावो नियमात् भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ४६५ ॥

अर्थ—बादर संज्वलनके उदयसे अथवा सूक्ष्मलोभके उदयसे और मोहनीय कर्मके उपशमसे अथवा क्षयसे नियमसे संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

इसी अर्थको दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

बादरसंजलणुदये बादरसंजमतियं खु परिहारो ।
पमदिदरे सुहुमुदये सुहुमो संजमगुणो होदि ॥ ४६६ ॥

बादरसंज्वलनोदये बादरसंयमत्रिकं खलु परिहारः ।
प्रमत्तेतरस्मिन् सूक्ष्मोदये सूक्ष्मः संयमगुणो भवति ॥ ४६६ ॥

अर्थ—जो संयमके विरोधी नहीं हैं ऐसे बादर संज्वलन कषायके देशघाति स्पर्धकोंके उदयसे सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन चारित्र होते हैं । इनमेंसे परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्तमें ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं । सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त संज्वलन लोभके उदयसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है ।

जहखादसंजमो पुण उवसमदो होदि मोहणीयस्स ।
खयदो वि य सो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ४६७ ॥

यथाख्यातसंयमः पुनः उपशमतो भवति मोहनीयस्य ।
क्षयतोऽपि च स नियमात् भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—यथाख्यात संयम नियमसे मोहनीय कर्मके उपशम तथा क्षयसे भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

तदियकसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण॥ ४६८॥

तृतीयकषायोदयेन च विरताविरतो गुणो भवेत् युगपत्।
द्वितीयकषायोदयेन च असंयमो भवति नियमेन॥ ४६८॥

अर्थ—तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विरताविरत=देशविरत=मिश्रविरत पांचमा गुणस्थान होता है। और दूसरी अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असंयम (संयमका अभाव) होता है।

सामायिक संयमका निरूपण करते हैं।

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि॥ ४६९॥

संगृह्य सकलसंयममेकयममनुत्तरं दुरवगम्यम्।
जीवः समुद्वहन् सामायिकसंयमो भवति॥ ४६९॥

अर्थ—उक्त व्रतधारण आदिक पांच प्रकारके संयममें संग्रह नयकी अपेक्षासे अभेद करके "मैं सर्व सावद्यका त्यागी हूं" इस तरह जो सम्पूर्ण सावद्यका त्याग करना इसको सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम तथा दुर्धर्ष है। इसके पालन करने वालेको सामायिकसंयम (मी) कहते हैं।

छेदोपस्थापना संयमका निरूपण करते हैं।

छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो॥ ४७०॥

छित्त्वा च पर्यायं पुराणं यः स्थापयति आत्मानम्।
पंचयमे धर्म्मे सः छेदोपस्थापको जीवः॥ ४७०॥

अर्थ—प्रमादके निमित्तसे सामायिकादिसे च्युत होकर जो सावद्य क्रियाके करनेरूप सावद्यपर्याय होती है, उसका प्रायश्चित्तविधिके अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्माको व्रतधारणादिक पांचप्रकारके संयमरूप धर्ममें स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापनसंयमी कहते हैं।

परिहारविशुद्धिसंयमीका स्वरूप बताते हैं।

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु॥ ४७१॥

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः परिहरति सदापि यो हि सावद्यम्।
पञ्चैकयमः पुरुषः परिहारकसंयतः स हि ॥ ४७१ ॥

अर्थ—पांच प्रकारके संयमियोंमेंसे जो जीव पांच समिति तीन गुप्तिको धारण कर सदा सावद्यका त्याग करता है उस पुरुषको परिहारविशुद्धिसंयमी कहते हैं।

इसीका विशेष स्वरूप कहते हैं।

तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउयविहारो ॥ ४७२ ॥

त्रिंशद्वार्षो जन्मनि वर्षपृथक्त्वं खलु तीर्थकरमूले।
प्रत्याख्यानं पठितः संध्योनद्विगव्यूतिविहारः ॥ ४७२ ॥

अर्थ—जन्मसे तीस वर्षतक सुखी रहकर दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकरके पादमूलमें आठ वर्षतक प्रत्याख्यान नामक नौमे पूर्वका अध्ययन करनेवाले जीवके यह संयम होता है। इस संयमवाला जीव तीन संध्याकालोंको छोड़कर दो कोस पर्यन्त गमन करता है; किन्तु रात्रिको गमन नहीं करता। और वर्षाकालमें गमन करनेका नियम नहीं है। **भावार्थ**—जिस संयममें परिहारके साथ विशुद्धि हो उसको परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं[1]। प्राणिपीडाके त्यागको परिहार कहते हैं। इस संयमवाला जीव जीवराशिमें विहार करता हुआ भी जलसे कमलकी तरह हिंसासे लिप्त नहीं होता।

सूक्ष्मसाम्पराय संयमवालेका स्वरूप बताते हैं।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ ४७३ ॥

अणुलोभं विदन् जीवः उपशामको वा क्षपको वा।
स सूक्ष्मसाम्परायः यथाख्यातेनोनः किञ्चित् ॥ ४७३ ॥

अर्थ—जिस उपशमश्रेणी अथवा क्षपक श्रेणिवाले जीवके सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त लोभकषायका उदय होता है, उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्रवाले जीवके परिणामोंसे कुछ ही कम होते हैं। क्योंकि यह संयम दशमे गुणस्थानमें होता है, और यथाख्यात संयम ग्यारहमेसे शुरू होता है।

यथाख्यात संयमका स्वरूप बताते हैं।

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ ४७४ ॥

---

१ परिहारर्द्धिसमेतः जीवः षट्कायसंकुले विहरन्। पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ॥ १ ॥

उपशान्ते क्षीणे वा अशुभे कर्मणि मोहनीये ।
छद्मस्थो वा जिनो वा यथाख्यातः संयतः स तु ॥ ४७४ ॥

अर्थ—अशुभरूप मोहनीय कर्मके सर्वथा उपशम होजानेसे ग्यारहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके, और सर्वथा क्षीण होजानेसे बारहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके, तथा तेरहमे चौदहमे गुणस्थानवालोंके यथाख्यात संयम होता है । **भावार्थ**—यथावस्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिको यथाख्यात संयम कहते हैं । यह संयम ग्यारहमेसे लेकर चौदहमे तक चार गुणस्थानोंमें होता है । ग्यारहमेमें चारित्र-मोहनीय कर्मके उपशमसे और ऊपरके तीन गुणस्थानोंमें क्षयसे यह संयम होता है ।

दो गाथाओंद्वारा देशविरतका निरूपण करते हैं ।

पंचतिहिचहुविहेहिं य अणुगुणसिक्खावयेहिं संजुत्ता ।
उच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झलियकम्मा ॥ ४७५ ॥

पञ्चत्रिचतुर्विधैश्च अणुगुणशिक्षाव्रतैः संयुक्ताः ।
उच्यन्ते देशविरताः सम्यग्दृष्टयः झरितकर्माणः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी जीव पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रतसे युक्त हैं उनको देशविरत अथवा संयमासंयमी कहते हैं । इस देश संयमके द्वारा जीवोंके असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

देशसंयमीके ग्यारह भेदोंको गिनाते हैं ।

दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे ॥ ४७६ ॥

दर्शनव्रतसामायिकाः प्रोषधसचित्तरात्रिभक्ताश्च ।
ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टदेशविरता एते ॥ ४७६ ॥

अर्थ—दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पांचमे गुणस्थान) के ग्यारह भेद हैं ।

असंयतका स्वरूप बताते हैं ।

जीवा चोद्दसभेया इंदियविसया तहट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेदव्वा ॥ ४७७ ॥

जीवाश्चतुर्दशभेदा इन्द्रियविषयाः तथाष्टाविंशतिस्तु ।
ये तेषु नैव विरता असंयताः ते मन्तव्याः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—चौदह प्रकारके जीवसमास और अट्ठाईस प्रकारके इन्द्रियोंके विषय इनसे जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयत कहते हैं ।

अट्ठाईस इन्द्रियविषयोंके नाम गिनाते हैं ।

पंचरसपंचवण्णा दो गंधा अट्ठफाससत्तसरा ।
मणसहिदट्ठावीसा इंदियविसया मुणेदव्वा ॥ ४७८ ॥

पञ्चरसपञ्चवर्णाः द्वौ गन्धौ अष्टस्पर्शसप्तस्वराः ।
मनःसहिताः अष्टाविंशतिः इन्द्रियविषयाः मन्तव्याः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—पांच रस (मीठा खट्टा कषायला कडुआ चरपरा) पांच वर्ण (सफेद पीला हरा लाल काला) दो गंध (सुगंध दुर्गंध) आठ स्पर्श (कोमल कठोर हलका भारी शीत उष्ण रूखा चिकना) आठ स्वर (षड्ज ऋषभ गांधार मध्यम पंचम धैवत निषाद) और एक मन इस तरह ये इन्द्रियोंके अट्ठाईस विषय हैं ।

संयममार्गणामें जीवसंख्या बताते हैं ।

पमदादिचउण्हजुदी सामयियदुगं कमेण सेसतियं ।
सत्तसहस्सा णवसय णवलक्खा तीहिं परिहीणा ॥ ४७९ ॥

प्रमत्तादिचतुर्णां युतिः सामायिकद्विकं क्रमेण शेषत्रिकम् ।
सप्त सहस्राणि नव शतानि नव लक्षाणि त्रिभिः परिहीनानि ॥ ४७९ ॥

अर्थ—प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जिवोंका जितना प्रमाण[1] है उतने सामायिकसंयमी होते हैं । और उतने ही छेदोपस्थापनासंयमी होते हैं । परिहारविशुद्धि संयम तीन कम सात हजार (६९९७), सूक्ष्मसांपराय संयमवाले तीन कम नौ सौ (८९७), यथाख्यात संयमवाले तीन कम नौ लाख (८९९९९७) होते हैं ।

पल्लासंखेज्जदिमं विरदाविरदाण दव्वपरिमाणं ।
पुव्वुत्तरासिहीणा संसारी अविरदाण पमा ॥ ४८० ॥

पल्यासंख्येयं विरताविरतानां द्रव्यपरिमाणम् ।
पूर्वोक्तराशिहीना संसारिणः अविरतानां प्रमा ॥ ४८० ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भाग देशसंयमी जीवद्रव्यका प्रमाण है । उक्त संयमियोंकी राशियोंको संसारी जीवराशिमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना असंयमियोंका प्रमाण है ।

॥ इति संयममार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त दर्शनमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

---

१ आठ करोड नव्वे लाख निन्यानवे हजार एकसौ तीन (८९०९९१०३)

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वाकारम् ।
अविशेष्यार्थान् दर्शनमिति भण्यते समये ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सामान्यविशेषात्मक पदार्थके विशेष अंशका ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशका जो निर्विकल्परूपसे ग्रहण होता है उसको परमागममें दर्शन कहते हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं ।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि ॥ ४८२ ॥

भावानां सामान्यविशेपकानां स्वरूपमात्रं यत् ।
वर्णनहीनग्रहणं जीवेन च दर्शनं भवति ॥ ४८२ ॥

अर्थ—निर्विकल्परूपसे जीवके द्वारा जो सामान्यविशेषात्मक पदार्थोंकी स्वपरसत्ताका अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं । **भावार्थ**—पदार्थोंमें सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किन्तु केवल सामान्य धर्मकी अपेक्षासे जो स्वपरसत्ताका अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं । इसका शब्दोंके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । इसके चारभेद हैं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन ।

प्रथम चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शनका स्वरूप कहते हैं:—

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं बेंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति ॥ ४८३ ॥

चक्षुषोः यत् प्रकाशते पश्यति तत् चक्षुदर्शनं ब्रुवन्ति ।
शेषेन्द्रियप्रकाशो ज्ञातव्यः स अचक्षुरिति ॥ ४८३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रियका विषय है उसका देखना, अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाय, यद्वा उसके देखनेवालेको चक्षुदर्शन कहते हैं । और चक्षुके सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंके अथवा मनके द्वारा जो अपने २ विषयभूत पदार्थका सामान्य ग्रहण होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं ।

अवधिदर्शनका स्वरूप बताते हैं ।

परमाणुआदियाइं अंतिमखंधत्ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥ ४८४ ॥

परमाण्वादीनि अन्तिमस्कन्धमिति मूर्तद्रव्याणि ।
तदवधिदर्शनं पुनः यत् पश्यति तानि प्रत्यक्षम् ॥ ४८४ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान होनेके पूर्व समयमें अवधिके विषयभूत परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्यको जो सामान्यरूपसे देखता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। इस अवधिदर्शनके अनन्तर प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान होता है।

केवलदर्शनको कहते हैं।

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।
लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ ४८५ ॥

बहुविधबहुप्रकारा उद्योताः परिमिते क्षेत्रे।
लोकालोकवितिमिरो यः केवलदर्शनोद्योतः ॥ ४८५ ॥

अर्थ—तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चन्द्र सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश जगत्में परिमिति क्षेत्रमें रहते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे प्रकाशको केवलदर्शन कहते हैं। **भावार्थ**—समस्त पदार्थोंका जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवल दर्शन कहते हैं।

दर्शनमार्गणामें दो गाथाओंद्वारा जीवसंख्या बताते हैं।

जोगे चउरक्खाणं पंचक्खाणं च खीणचरिमाणं।
चक्खूणमोहिकेवलपरिमाणं ताण णाणं च ॥ ४८६ ॥

योगे चतुरक्षाणां पञ्चाक्षाणां च क्षीणचरमाणाम्।
चक्षुषामवधिकेवलपरिमाणं तेषां ज्ञानं च ॥ ४८६ ॥

अर्थ—क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त जितने पञ्चेन्द्रिय हैं उनका तथा चतुरिन्द्रिय जीवोंकी संख्याका परस्पर जोड़ देनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने चक्षुर्दर्शनी जीव हैं। और अवधिज्ञानी तथा केवलज्ञानी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अवधिदर्शनी तथा केवलदर्शनवालोंका प्रमाण है। **भावार्थ**—चक्षुदर्शन दो प्रकारका होता है, एक शक्तिरूप दूसरा व्यक्तिरूप। चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके शक्तिरूप चक्षुदर्शन होता है, और पर्याप्त जीवोंके व्यक्तिरूप चक्षुदर्शन होता है। इनमेंसे प्रथम शक्तिरूप चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं। आवलीके असंख्यातमे भागका प्रतराङ्गुलमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका भी जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतनी राशिप्रमाण त्रसराशि है। इसमेंसे त्रैराशिक द्वारा लब्ध चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियोंके प्रमाणमेंसे कुछ कम करना; क्योंकि द्वीन्द्रियादि जीवोंका प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ २ कम २ होता गया है। तथा लब्ध राशिमेंसे पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटाना। शेष शक्तिरूप चक्षुदर्शनवाले जीवोंका प्रमाण है। इस ही तरह पर्याप्त त्रस राशिमें चारका भाग देकर दोसे गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो

उसमेंसे कुछ कम व्यक्तरूप चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण है। अवधिज्ञानियोंकी बराबर अवधिदर्शनवाले और केवलज्ञानियोंकी बराबर केवल दर्शनवाले जीव हैं।

अचक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं।

एइंदियपहुदीणं खीणकसायंतणंतरासीणं।
जोगो अचक्खुदंसणजीवाणं होदि परिमाणं ॥ ४८७ ॥

एकेन्द्रियप्रभृतीनां क्षीणकषायान्तानन्तराशीनाम्।
योगः अचक्षुर्दर्शनजीवानां भवति परिमाणम् ॥ ४८७ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त अनन्तराशिके जोड़को अचक्षुदर्शनवाले जीवोंका प्रमाण समझना चाहिये।

॥ इति दर्शनमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त लेश्यामार्गणाका वर्णन करनेके पहले लेश्याका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं।

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४८८ ॥

लिंपत्यात्मीकरोति एतया निजापुण्यपुण्यं च।
जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणज्ञायकाख्याता ॥ ४८८ ॥

अर्थ—लेश्याके गुणको—स्वरूपको जाननेवाले गणधरादि देवोंने लेश्याका स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करै=पुण्य और पापके अधीन करै उसको लेश्या कहते हैं।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं।

जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४८९ ॥

योगप्रवृत्तिर्लेश्या कषायोदयानुरञ्जिता भवति।
ततः द्वयोः कार्यं बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ॥ ४८९ ॥

अर्थ—कषायोदयसे अनुरक्त योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इस ही लिये दोनोंका बन्धचतुष्करूप कार्य परमागममें कहा है। भावार्थ—कषाय और योग इन दोनोंके जोड़को लेश्या कहते हैं। इस हीं लिये लेश्याका कार्य बन्धचतुष्क है; क्योंकि बन्धचतुष्कमेंसे प्रकृति और प्रदेश—बन्ध योगके द्वारा होता है। और स्थिति अनुभाग बन्ध कषायके द्वारा होता है। जहां पर कषायोदय नहीं होता वहांपर केवल योगको उपचारसे लेश्या कहते हैं। अतएव वहां पर उपचरित लेश्याका कार्य भी केवल प्रकृति प्रदेश बन्ध ही होता है, स्थिति अनुभागबन्ध नहीं होता।

दो गाथाओंद्वारा लेश्यामार्गणाके अधिकारोंका नामनिर्देश करते हैं ।

णिद्देसवण्णपरिणामसंकमो कम्मलक्खणगदी य ।
सामी साहणसंखा खेत्तं फासं तदो कालो ॥ ४९० ॥
अंतरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंतित्ति ।
लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि ॥ ४९१ ॥

निर्देशवर्णपरिणामसंक्रमाः कर्मलक्षणगतयश्च ।
स्वामी साधनसंख्ये क्षेत्रं स्पर्शस्ततः कालः ॥ ४९० ॥
अन्तरभावाल्पबहुत्वमधिकाराः षोडश भवन्तीति ।
लेश्यानां साधनार्थं यथाक्रमं तैर्वक्ष्यामि ॥ ४९१ ॥

अर्थ—निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व ये लेश्याओंकी सिद्धिके लिये सोलह अधिकार परमागममें कहे हैं । इनके ही द्वारा क्रमसे लेश्याओंका निरूपण करेंगे ।

प्रथम निर्देशकेद्वारा लेश्याका निरूपण करते हैं ।

किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥ ४९२ ॥

कृष्णा नीला कापोता तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च ।
लेश्यानां निर्देशाः षट् चैव भवन्ति नियमेन ॥ ४९२ ॥

अर्थ—लेश्याओंके नियमसे ये छह निर्देश हैं । कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या । **भावार्थ**—इस गाथामें कहे हुए एव शब्दके द्वारा ही नियम अर्थ सिद्ध होजानेसे पुनः नियम शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है । अतः वह व्यर्थ ठहरकर ज्ञापन करता है कि लेश्याके यद्यपि सामान्यकी अपेक्षा छह भेद हैं; तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लेश्याओंके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ।

वर्णकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं ।

वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥ ४९३ ॥

वर्णोदयेन जनितः शरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या ।
पर्म २ सा षोढा कृष्णादिः अनेकभेदा स्वभेदेन ॥ ४९३ ॥

अर्थ—वर्ण नामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते

हैं। इसके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ये छह भेद हैं। तथा प्रत्येकके उत्तर-भेद अनेक हैं।

छप्पयणीलकवोदसुहेमंबुजसंखसण्णिहा वण्णे।
संखेज्जासंखेज्जाणंतवियप्पा य पत्तेयं ॥ ४९४ ॥

षट्पदनीलकपोतसुहेमाम्बुजशङ्खसन्निभाः वर्णे।
संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पाश्च प्रत्येकम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—वर्णकी अपेक्षासे भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणिके (नीलमके) समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोतलेश्या, सुवर्णके समान पीतलेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शंखके समान शुक्लेश्या होती है। इनमेंसे प्रत्येकके इन्द्रियोंसे प्रकट होनेकी अपेक्षा संख्यात भेद हैं, तथा स्कन्धकी अपेक्षा असंख्यात और परमाणुभेदकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं।

किस गतिमें कोनसी लेश्या होती है यह बताते हैं।

णिरया किण्हा कप्पा भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये।
उत्तरदेहे छक्कं भोगे रविचंदहरिदंगा ॥ ४९५ ॥

निरयाः कृष्णाः कल्पाः भावानुगता हि त्रिसुरनरतिरश्चि।
उत्तरदेहे षट्कं भोगे रविचन्द्रहरिताङ्गाः ॥ ४९५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण हैं। कल्पवासी देवोंकी द्रव्यलेश्या (शरीरका वर्ण) भावलेश्याके सदृश होता है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी मनुष्य तिर्यञ्च इनकी द्रव्य-लेश्या छहों होती हैं। तथा विक्रियाके द्वारा उत्पन्न होनेवाले शरीरका वर्ण भी छह प्रकारमेंसे किसी एक प्रकारका होता है। उत्तम भोगभूमिवालोंका सूर्यसमान, मध्यम भोग-भूमिवालोंका चन्द्रसमान, तथा जघन्य भोगभूमिवालोंका हरितवर्ण शरीर होता है।

बादरआऊतेऊ सुक्कातेऊय वाउकायाणं।
गोमुत्तमुग्गवण्णा कमसो अव्वत्तवण्णो य ॥ ४९६ ॥

बादराप्तैजसौ शुक्लतेजसौ वायुकायानाम्।
गोमूत्रमुद्गवर्णौ क्रमशः अव्यक्तवर्णश्च ॥ ४९६ ॥

अर्थ—क्रमसे बादर जलकायिककी द्रव्यलेश्या शुक्ल और बादर तेजस्कायिककी पीत होती है। वायुकायके तीन भेद हैं, घनोदधिवात, घनवात, तनुवात। इनमेंसे प्रथमका शरीर गोमूत्रवर्ण, दूसरेका शरीर मूंगसमान, और तीसरेके शरीरका वर्ण अव्यक्त है।

सव्वेसिं सुहुमाणं कावोदा सव्व विग्गहे सुक्का।
सव्वो मिस्सो देहो कवोदवण्णो हवे णियमा ॥ ४९७ ॥

सर्वेषां सूक्ष्मानां कापोताः सर्वे विग्रहे शुक्लाः ।

सर्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेन्नियमात् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवोंकी देह कपोतवर्ण है । विग्रहगतिमें सम्पूर्ण जीवोंका शरीर शुक्लवर्ण है । तथा अपनी २ पर्याप्तिके प्रारम्भ समयसे शरीरपर्याप्तिपर्यन्त समस्त जीवोंका शरीर नियमसे कपोतवर्ण होता है ।

इस तरह वर्णाधिकारके अनन्तर पांच गाथाओंमें परिणामाधिकारको कहते हैं ।

लोगाणमसंखेज्जा उदयट्ठाणा कसायगा होंति ।

तत्थ किलिट्ठा असुहा सुहा विसुद्धा तदालावा ॥ ४९८ ॥

लोकानामसंख्येयान्युदयस्थानानि कषायगाणि भवन्ति ।

तत्र क्लिष्टान्यशुभानि शुभानि विशुद्धानि तदालापात् ॥ ९४८ ॥

अर्थ—कषायोंके उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं । इसमेंसे अशुभ लेश्याओंके संक्लेशरूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असंख्यात लोकप्रमाण हैं; तथापि विशेषताकी अपेक्षा असंख्यातलोक प्रमाणमें असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभाग प्रमाण संक्लेशरूप स्थान हैं । और एक भागप्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्ध स्थान-हैं । परन्तु सामान्यसे ये भी असंख्यात लोकप्रमाण ही हैं ।

तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।

मंदतरा मंदतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥ ४९९ ॥

तीव्रतमास्तीव्रतरास्तीव्रा अशुभाः शुभास्तथा मन्दाः ।

मन्दतरा मन्दतमाः षट्स्थानगता हि प्रत्येकम् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—अशुभ लेश्यासम्बन्धी तीव्रतम तीव्रतर तीव्र ये तीन स्थान, और शुभलेश्या-सम्बन्धी मन्द मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं; क्योंकि कृष्ण लेश्यादि छह लेश्याओंके शुभ स्थानोंमें जघन्यसे उत्कृष्टपर्यन्त और अशुभ स्थानोंमें उत्कृष्टसे जघन्यपर्य-न्त प्रत्येकमें षट्स्थानपतित हानिवृद्धि होती है ।

असुहाणं वरमज्झिमअवरंसे किण्हणीलकाउतिए ।

परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स ॥ ५०० ॥

अशुभानां वरमध्यमावरांशे कृष्णनीलकापोतत्रिकानाम् ।

परिणमति क्रमेणात्मा परिहानितः क्लेशस्य ॥ ५०० ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अंशरू-पमें यह आत्मा क्रमसे संक्लेशकी हानि होनेसे परिणमन करता है । **भावार्थ**—इस आत्माकी जिस २ तरह संक्लेशपरिणति कम होती जाती है उसी २ तरह यह आत्मा

अशुभ लेश्याओंमेंसे उत्कृष्ट कृष्ण लेश्याको छोड़कर नील लेश्यारूपमें और नीलको छोड़कर कापोतरूपमें परिणमन करता है।

काऊ णीलं किण्हं परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा।
एवं किलेसहाणीवड्ढीदो होदि असुहतियं ॥ ५०१ ॥

कापोतं नीलं कृष्णं परिणमति क्लेशवृद्धित आत्मा।
एवं क्लेशहानिवृद्धितः भवति अशुभत्रिकम् ॥ ५०१ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर संक्लेशपरिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्णलेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संक्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है।

तेऊ पउमे सुक्के सुहाणमवरादिअंसगे अप्पा।
सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णदा होदि ॥ ५०२ ॥

तेजसि पद्मे शुक्ले शुभानामवराद्यंशगे आत्मा।
शुद्धेश्च वृद्धितो हानितः अन्यथा भवति ॥ ५०२ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा पीत पद्म शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अंशरूपमें परिणमन करता है। तथा विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्यपर्यन्त शुक्ल पद्म पीत लेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह शुद्धिकी हानि वृद्धि होनेसे शुभ लेश्याओंका परिणमन होता है।

उक्त परिणामाधिकारको मनमें रखकर संक्रमाधिकारका निरूपण करते हैं।

संकमणं सट्ठाणपरट्ठाणं होदि किण्हसुक्काणं।
वड्ढीसु हि सट्ठाणं उभयं हाणिम्मि सेस उभयेवि ॥ ५०३ ॥

संक्रमणं स्वस्थानपरस्थानं भवति कृष्णशुक्लयोः।
वृद्धिषु हि स्वस्थानमुभयं हानौ शेषस्योभयेऽपि ॥ ५०३ ॥

अर्थ—परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते हैं। उसके दो भेद हैं, एक स्वस्थान-संक्रमण दूसरा परस्थान-संक्रमण। किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर उस ही लेश्यारूप जब दूसरा परिणाम होता है, वहां स्वस्थान-संक्रमण होता है। और किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर किसी दूसरी लेश्या (विवक्षित लेश्यासे भिन्न) का जब कोई परिणाम होता है वहां परस्थान-संक्रमण होता है।

कृष्ण और शुक्ललेश्यामें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान-संक्रमण ही होता है। और हानिकी अपेक्षा स्वस्थान परस्थान दोनों ही संक्रमण होते हैं। तथा शेष चार लेश्याओंमें हानि तथा वृद्धि दोनों अपेक्षाओंमें स्वस्थान परस्थान दोनों संक्रमणोंके होनेकी सम्भावना है।

भावार्थ—कृष्णलेश्या अशुभलेश्या है, इस लिये उसमें यदि संक्लेशताकी वृद्धि होगी तो कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी। तथा शुक्ललेश्या शुभलेश्या है इस लिये शुक्ललेश्यामें यदि शुभपरिणामोंकी वृद्धि होगी तो शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी इस लिये वृद्धिकी अपेक्षा कृष्ण और शुक्ललेश्यामें स्वस्थानसंक्रमण ही है। तथा कृष्णलेश्यामें संक्लेशताकी यदि हानी हो तो कृष्णलेश्याके जघन्य अंशपर्यन्त भी होसकती है, और इसके नीचे नील कापोत लेश्यारूप भी होसकती है, इसलिये कृष्णलेश्यामें हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण संभव हैं। इस ही तरह शुक्ललेश्यामें यदि विशुद्धताकी हानि होय तो शुक्ललेश्याके जघन्य अंशपर्यन्त भी होसकती है, और उसके नीचे पद्म पीत लेश्यारूप भी होसकती है, इसलिये इसमें भी हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण सम्भव हैं। किन्तु मध्यकी चारलेश्याओंमेंसे अशुभलेश्याओंमें संक्लेशताकी हानि हो या वृद्धि हो दो प्रकारके संक्रमणोंमेंसे कोई भी संक्रमण होसकता है। तथा शुभलेश्याओंमें विशुद्धताकी हानि हो या वृद्धि हो दो प्रकारके संक्रमणोंमेंसे कोई भी संक्रमण हो सकता है। जैसे पद्मलेश्यामें यदि विशुद्धताकी वृद्धि हुई तो वह पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त भी हो सकती है इसलिये स्वस्थानसंक्रमण, और शुक्ललेश्यारूप भी परिणाम होसकता है इसलिये परस्थान संक्रमण भी सम्भव है। इसीप्रकार पीत तथा नील और कापोतलेश्यामें भी समझना चाहिये।

लेस्साणुक्कस्सादोवरहाणी अवरगादवरवड्ढी।
सट्ठाणे अवरादो हाणी णियमा परट्ठाणे ॥ ५०४ ॥

लेश्यानामुत्कृष्टादवरहानिः अवरकादवरवृद्धिः।
स्वस्थाने अवरात् हानिर्नियमात् परस्थाने ॥ ५०४ ॥

अर्थ—स्वस्थानकी अपेक्षा लेश्याओंके उत्कृष्टस्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनंतभागहानिरूप है। तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जघन्यस्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम जघन्य स्थानसे अनन्तभागवृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लेश्याओंके जघन्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्तगुणहानिरूप परस्थान संक्रमण ही होता है। **भावार्थ**—किसी विवक्षित लेश्याके जघन्य स्थानमें हानि होकर उसके समीपवर्ती लेश्याके उत्कृष्ट स्थानरूप यदि परिणाम हो तो वहांपर परस्थान संक्रमण ही होता है, और यह स्थान अनन्तगुणहानिरूप होता है। जैसे कृष्णलेश्याके जघन्यस्थानके समीप नीललेश्याका उत्कृष्ट स्थान है, वह कृष्णलेश्याके जघन्यस्थानसे अनन्तगुणहानिरूप है।

उपर्युक्त निरूपणका कारण क्या है? यह बताते हैं।

संकमणे छट्ठाणा हाणिसु वड्ढीसु होंति तण्णामा।
परिमाणं च य पुव्वं उत्तकमं होदि सुदणाणे ॥ ५०५ ॥

संक्रमणे षट्स्थानानि हानिषु वृद्धिषु भवन्ति तन्नामानि ।
परिमाणं च च पूर्वमुक्तक्रमं भवति श्रुतज्ञाने ॥ ५०५ ॥

अर्थ—संक्रमणाधिकारमें हानि और वृद्धि दोनों अवस्थाओंमें षट्स्थान होते हैं । इन षट्स्थानोंके नाम तथा परिमाण पहले श्रुतज्ञानमार्गणामें जो कहे हैं वेही यहांपर भी समझना । **भावार्थ**—षट्स्थानोंके नाम ये हैं अनन्तभाग असंख्यातभाग संख्यातभाग संख्यातगुण असंख्यातगुण अनन्तगुण । इन षट्स्थानोंकी सहनानी क्रमसे उर्वक चतुरंक पञ्चाङ्क षडङ्क सप्ताङ्क अष्टाङ्क है । और यहांपर अनन्तका प्रमाण जीवराशिमात्र, असंख्यातका प्रमाण असंख्यातलोकमात्र, और संख्यातका प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात है ।

लेश्याओंके कर्माधिकारको कहते हैं ।

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥ ५०६ ॥

णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तुं पडिदाइं ।
खाउं फलइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥ ५०७ ॥

पथिका ये षट् पुरुषाः परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे ।
फलभरितवृक्षमेकं प्रेक्षित्वा ते विचिन्तयन्ति ॥ ५०६ ॥

निर्मूलस्कन्धशाखोपशाखं छित्वा चित्वा पतितानि ।
खादितुं फलानि इति यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म्म ॥ ५०७ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि छह लेश्यावाले छह पथिक वनके मध्यमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देखकर अपने २ मनमें इस प्रकार विचार करते हैं, और उसके अनुसार वचन कहते हैं । कृष्णलेश्यावाला विचार करता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको मूलसे उखाड़कर इसके फलोंका भक्षण करूंगा । और नीललेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको स्कन्धसे काटकर इसके फल खाऊंगा । कापोतलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी बड़ी २ शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊंगा । पीतलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी २ शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊंगा । पद्मलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षके फलोंको तोड़कर खाऊंगा । शुक्ललेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षसे स्वयं टूट कर पड़े हुए फलोंको खाऊंगा । इस तरह जो मनपूर्वक वचनादिकी प्रवृत्ति होती है वह लेश्याका कर्म है । यहां पर यह एक दृष्टान्तमात्र दिया-गया है इसलिये इस ही तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

लेश्याओंके लक्षणाधिकारका निरूपण करते हैं ।

चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥ ५०८ ॥

चण्डो न मुञ्चति वैरं भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः ।
दुष्टो न चैति वशं लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य ॥ ५०८ ॥

अर्थ—तीव्र क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, युद्धकरनेका (लड़नेका) जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके भी वश न हो ये सब कृष्णलेश्यावालेके चिह्न (लक्षण) हैं ।

नीललेश्यावालेके चिह्न बताते हैं ।

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥ ५०९ ॥
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥ ५१० ॥

मन्दो बुद्धिविहीनो निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च ।
मानी मायी च तथा आलस्यश्चैव भेद्यश्च ॥ ५०९ ॥
निद्रावञ्चनबहुलो धनधान्ये भवति तीव्रसंज्ञश्च ।
लक्षणमेतद्भणितं समासतो नीललेश्यस्य ॥ ५१० ॥

अर्थ—कामकरनेमें मन्द हो, अथवा स्वच्छन्द हो वर्तमान कार्य करनेमें विवेकरहित हो, कला चातुर्यसे रहित हो, स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें लम्पट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्रायको सहसा न जान सकें, तथा जो अति निद्रालु और दूसरोंको ठगनेमें अतिदक्ष हो, और धनधान्यके विषयमें जिसकी अतितीव्र लालसा हो, ये नीललेश्यावालेके संक्षेपसे चिह्न बताये हैं ।

तीन गाथाओंमें कपोतलेश्यावालेका लक्षण कहते हैं ।

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥ ५११ ॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो ।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढिं वा ॥ ५१२ ॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ ५१३ ॥

रुष्यति निन्दति अन्यं दुष्यति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।
असूयति परिभवति परं प्रशंसति आत्मानं बहुशः ॥ ५११ ॥
न च प्रत्येति परं स आत्मानमिव परमपि मन्यमानः ।
तुष्यति अभिष्टुवतो न च जानाति हानिवृद्धी वा ॥ ५१२ ॥

मरणं प्रार्थयते रणे ददाति सुबहुकमपि स्तूयमानस्तु ।
न गणयति कार्याकार्यं लक्षणमेतत्तु कापोतस्य ॥ ५१३ ॥

अर्थ—दूसरेके ऊपर क्रोध करना, दूसरेकी निन्दा करना, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देना अथवा औरोंसे वैर करना, शोकाकुलित तथा भयग्रस्त होना, दूसरेके ऐश्वर्यादिको सहन न करसकना, दूसरेका तिरस्कार करना, अपनी नानाप्रकारसे प्रशंसा करना, दूसरेके ऊपर विश्वास न करना, अपनेसमान दूसरोंको भी मानना, स्तुति करनेवाले पर संतुष्ट होजाना, अपनी हानि वृद्धिको कुछ भी न समझना, रणमें मरनेकी प्रार्थना करना, स्तुति करनेवालेको खूब धन दे डालना, अपने कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना न करना, ये सब कपोतलेश्यावालेके चिह्न हैं ।

पीतलेश्यावालेके चिह्न बताते हैं ।

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ ५१४ ॥

जानाति कार्याकार्यं सेव्यमसेव्यं च सर्वसमदर्शी ।
दयादानरतश्च मृदुः लक्षणमेतत्तु तेजसः ॥ ५१४ ॥

अर्थ—अपने कार्य अकार्य सेव्य असेव्यको समझनेवाला हो, सबके विषयमें समदर्शी हो, दया और दानमें तत्पर हो, कोमलपरिणामी हो, ये पीतलेश्यावालेके चिह्न हैं ।

पद्मलेश्यावालेके लक्षण बताते हैं ।

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१५ ॥

त्यागी भद्रः सुकरः उद्युक्तकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।
साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत्तु पद्मस्य ॥ ५१५ ॥

अर्थ—दान देनेवाला हो, भद्रपरिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करनेका स्वभाव हो, इष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवोंको सहन करनेवाला हो, मुनि गुरु आदिकी पूजामें प्रीतियुक्त हो, ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ।

शुक्कलेश्यावालेके लक्षण बताते हैं।

ण य कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स ॥ ५१६॥

न च करोति पक्षपातं नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम्।
नास्ति च रागद्वेषौ स्नेहोऽपि च शुक्कलेश्यस्य ॥ ५१६॥

अर्थ—पक्षपात न करना, निदानको न बांधना, सब जीवोंमें समदर्शी होना, इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष न करना, स्त्री पुत्र मित्र आदिमें स्नेहरहित होना, ये सब शुक्कलेश्यावालेके लक्षण हैं।

क्रमप्राप्त गति अधिकारका वर्णन करते हैं।

लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा अट्ठट्ठवगरिसकालभवा ॥ ५१७॥

लेश्यानां खलु अंशाः षड्विंशतिः भवन्ति तत्र मध्यमकाः।
आयुष्कबन्धनयोग्या अष्ट अष्टापकर्षकालभवाः ॥ ५१७॥

अर्थ—लेश्याओंके कुल छव्वीस अंश हैं, इनमेंसे मध्यके आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष कालमें होते हैं वे ही आयुकर्मके बन्धके योग्य होते हैं। **भावार्थ**—जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यचकी भुज्यमान आयुका प्रमाण छह हजार इकसठ है। इसके तीन भागमेंसे दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भागके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्षका काल कहा जाता है। इस अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। यदि यहां पर भी बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक त्रितीय भागमेंसे भी दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। यदि यहां पर भी बंध न हो तो तीसरे अपकर्षमें होता है। और तीसरेमें भी न हो तो चौथे पांचमे छट्टे सातमे आठमे अपकर्षमेंसे किसी भी अपकर्षमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। यदि किसी भी अपकर्षमें बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयुका अन्तिम आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण काल) से पूर्वके अन्तर्मुहूर्तमें अवश्य ही आयुका बन्ध होता है।

भुज्यमान आयुके तीन भागोंमेंसे दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भागके प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालको अपकर्ष कहते हैं। इस अपकर्ष कालमें लेश्याओंके आठ मध्यमांशोंमेंसे जो अंश होगा उसके अनुसार आयुका बन्ध होगा। तथा आयुबन्धके योग्य आठ मध्यमांशोंमेंसे कोई अंश जिस अपकर्षमें होगा उस ही अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा, दूसरे कालमें नहीं।

जीवोंके दो भेद हैं एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क । जिनका विषभक्षणादि निमित्तके द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रक्रमायुष्क कहते हैं । और इससे जो रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं । जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीतिसे ही परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । किन्तु अनुपक्रमायुष्कोंमें कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कोंमें जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयुके अन्तिम छह महीना शेष रहने पर आयुके बन्ध करनेके योग्य होते हैं । इसमें भी छह महीनाके आठ अपकर्षकालमें ही आयुका बंध करते हैं—दूसरे कालमें नहीं । जो भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंच हैं वे अपनी आयुके नौ महीना शेष रहने पर नौ महीनाके आठ अपकर्षोंमेंसे किसी भी अपकर्षमें आयुका बन्ध करते हैं । इस प्रकार ये लेश्याओंके आठ अंश आयुबन्धको कारण हैं । जिस अपकर्षमें जैसा जो अंश हो उसके अनुसार आयुका बन्ध होता है ।

शेष अठारह अंशोंका कार्य बताते हैं ।

सेसट्ठारस अंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति ।
सुक्कुकस्संसमुदा सवट्ठं जांति खलु जीवा ॥ ५१८ ॥

शेषाष्टादशांशाश्चतुर्गतिगमनस्य कारणानि भवन्ति ।
शुक्लोत्कृष्टांशमृता सर्वार्थं यान्ति खलु जीवाः ॥ ५१८ ॥

अर्थ—अपकर्षकालमें होनेवाले लेश्याओंके आठ मध्यमांशोंको छोड़कर बाकीके अठारह अंश चारो गतियोंके गमनको कारण होते हैं । तथा शुक्लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे संयुक्त जीव मरकर नियमसे सर्वार्थसिद्धिको जाते हैं ।

अवरंसमुदा होंति सदारदुगे मज्झिमंसगेण मुदा ।
आणदकप्पादुवरिं सवट्ठाइल्लगे होंति ॥ ५१९ ॥

अवरांशमृता भवन्ति शतारद्विके मध्यमांशकेन मृताः ।
आनतकल्पादुपरि सर्वार्थादिमे भवन्ति ॥ ५१९ ॥

अर्थ—शुक्लेश्याके जघन्य अंशोंसे संयुक्त जीव मरकर शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त जाते हैं । और मध्यमांशोंकरके सहित मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धिसे पूर्वपूर्वके तथा आनत स्वर्गसे ऊपरके समस्त विमानोंमेंसे यथा सम्भव विमानमें उत्पन्न होता है । और आनत स्वर्गमें भी उत्पन्न होता है ।

पम्मुक्कस्संसमुदा जीवा उवजांति खलु सहस्सारं ।
अवरंसमुदा जीवा सणक्कुमारं च माहिंदं ॥ ५२० ॥

पद्मोत्कृष्टांशमृता जीवा उपयांति खलु सहस्रारम् ।
अवरांशमृता जीवाः सनत्कुमारं च माहेन्द्रम् ॥ ५२० ॥

अर्थ—पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव नियमसे सहस्रार स्वर्गको प्राप्त होते हैं । और पद्म लेश्याके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गको प्राप्त होते हैं ।

मज्झिमअंशेण मुदा तम्मज्झं जांति तेउजेट्ठमुदा ।
साणकुमारमाहिंदंतिमचक्किंदसेढिम्मि ॥ ५२१ ॥

मध्यमांशेन मृता तन्मध्यं यान्ति तेजोज्येष्ठमृताः ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रान्तिमचक्रेन्द्रश्रेण्याम् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—पद्मलेश्याके मध्यम अंशोके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके ऊपर और सहस्रार स्वर्गके नीचे २ के विमानोंमें उत्पन्न होते हैं । पीतलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके अन्तिम पटलमें चक्रनामक इन्द्रक-सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानमें उत्पन्न होते हैं ।

अवरंसमुदा सोहम्मीसाणादिमउडम्मि सेढिम्मि ।
मज्झिमअंसेण मुदा विमलविमाणादिवलभद्दे ॥ ५२२ ॥

अवरांशमृताः सौधर्मैशानादिमर्तौ श्रेण्याम ।
मध्यमांशेन मृताः विमलविमानादिबलभद्रे ॥ ५२२ ॥

अर्थ—पीतलेश्याके जघन्य अंशोके साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके ऋतु (नु)नामक इन्द्रक विमानमें अथवा श्रेणीबद्ध विमानमें उत्पन्न होता है । पीत लेश्याके मध्यम अशोके साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके दूसरे पटलके विमल नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके द्विचरम पटलके (अन्तिम पटलसे पूर्वका पटल) बलभद्रनामक इन्द्रक विमानपर्यन्त उत्पन्न होता है ।

किण्हवरंसेण मुदा अवधिट्ठाणम्मि अवरअंसमुदा ।
पंचमचरिमतिमिस्से मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२३ ॥

कृष्णवरांशेन मृता अवधिस्थाने अवरांशमृताः ।
पञ्चमचरमतिमिश्रे मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२३ ॥

अर्थ—कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव सातमी पृथ्वीके अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिलमें उत्पन्न होते हैं । जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलके तिमिश्रनामक इन्द्रक बिलमें उत्पन्न होते हैं । कृष्णलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव दोनोंके (सातमी पृथ्वीका अवधिस्थान नामक इन्द्रकबिल और पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलसम्बन्धी तिमिश्र बिल) मध्यस्थानमें यथासम्भव उत्पन्न होते हैं ।

नीलुक्कस्संसमुदा पंचम अंधिंदयम्मि अवरमुदा ।
वालुकसंपज्जलिदे मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२४ ॥

नीलोत्कृष्टांशमृताः पञ्चमान्धेन्द्रके अवरमृताः ।
वालुकासंप्रज्वलिते मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२४ ॥

अर्थ—नीललेश्याके उत्कृष्ट अंशोके साथ मरे हुए जीव पाचमी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी अन्ध्रनामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। कोई २ पांचमे पटलमें भी उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष और भी है कि कृष्णलेश्याके जघन्य अंशवाले भी जीव मरकर पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलमें उत्पन्न होते हैं। नीललेश्याके जघन्य अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। नीललेश्याके मध्यम अंशोंवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलके आगे और पांचमी पृथ्वीके अन्ध्रनामक इन्द्रकबिलके ऊपर ऊपर जितने पटल और इन्द्रक हैं उनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

वरकाओदंसमुदा संजलिदं जांति तदियणिरयस्स ।
सीमंतं अवरमुदा मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२५ ॥

वरकापोतांशमृताः संज्वलितं यान्ति तृतीयनिरयस्य ।
सीमन्तमवरमृता मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२५ ॥

अर्थ—कापोतलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। कोई २ अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें भी उत्पन्न होते हैं। कापोतलेश्याके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। और मध्यम अंशोके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकबिलसे आगे और तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिलके ऊपर तीसरी पृथ्वीके सात पटल, दूसरी पृथ्वीके ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वीके बारह पटलोंमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

किण्हचउक्काणं पुण मज्झंसमुदा हु भवणगादितिये ।
पुढवीआउवणप्फदिजीवेसु हवंति खलु जीवा ॥ ५२६ ॥

कृष्णचतुष्काणां पुनः मध्यांशमृता हि भवनकादित्रये ।
पृथिव्यब्वनस्पतिजीवेषु भवन्ति खलु जीवाः ॥ ५२६ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कपोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए कर्मभूमियां मिथ्यादृष्टि तिर्यंच वा मनुष्य, और पीतलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए

भोगभूमियां मिथ्यादृष्टि तिर्यंच वा मनुष्य, भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा कृष्ण नील कापोत पीत लेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए तिर्यंच वा मनुष्य भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी वा सौधर्म ईशान स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देव, बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जलकायिक वनस्पतिकायिक जीवोंमें उत्पन्न होते हैं।

किण्हतियाणं मज्झिमअंसमुदा तेउवाउवियलेसु ।
सुरणिरया सगलेस्सहिं णरतिरियं जांति सगजोग्गं ॥ ५२७ ॥

कृष्णत्रयाणां मध्यमांशमृतास्तेजोवायुविकलेषु ।
सुरनिरयाः स्वकलेश्याभिः नरतिर्यञ्चं यान्ति स्वकयोग्यम् ॥ ५२७ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशोके साथ मरे हुए तिर्यंच या मनुष्य, तेजकायिक वातकायिक विकलत्रय असंज्ञी पंचेन्द्रिय साधारण—वनस्पति इनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं। और भवनत्रय आदि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके देव तथा सातो पृथ्वीसम्बन्धी नारकी अपनी २ लेश्याके अनुसार मनुष्यगति या तिर्यंचगतिको प्राप्त होते हैं। **भावार्थ**—जिस गतिसम्बन्धी आयुका बन्ध हुआ हो उस ही गतिमें मरण समयपर होनेवाली लेश्याके अनुसार उत्पन्न होता है। जैसे मनुष्यअवस्थामें किसीने देवायुका बन्ध किया और मरणसमयपर उसके कृष्ण आदि अशुभ लेश्या हुई तो वह मरण करके भवनत्रिकमें उत्पन्न होगा—उत्कृष्ट देवोंमें नहीं होगा। यदि शुभ लेश्या हुई तो यथायोग्य कल्पवासियोंमें भी उत्पन्न होगा।

क्रमप्राप्त स्वामी अधिकारका वर्णन करते हैं।

काऊ काऊ काऊ णीला णीला य णीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा पढमादिपुढवीणं ॥ ५२८ ॥

कापोता कापोता कापोता नीला नीला च नीलकृष्णे च ।
कृष्णा च परमकृष्णा लेश्या प्रथमादिपृथिवीनाम् ॥ ५२८ ॥

अर्थ—प्रथम पृथ्वीमें कपोतलेश्याका जघन्य अंश है। दूसरी पृथ्वीमें कपोतलेश्याका मध्यम अंश है। तीसरी पृथ्वीमें कपोतलेश्याका उत्कृष्ट अंश और नीललेश्याका जघन्य अंश है। चौथी पृथ्वीमें नीललेश्याका मध्यम अंश है। पांचमी पृथ्वीमें नीललेश्याका उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेश्याका जघन्य अंश है। छट्ठी पृथ्वीमें कृष्णलेश्याका मध्यम अंश है। सातमी पृथ्वीमें कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट अंश है। **भावार्थ**—स्वामी अधिकारमें भावलेश्याकी अपेक्षा ही कथन है, इस लिये उपर्युक्त प्रकारसे नरकोंमें भी भावलेश्या ही समझना।

णरतिरियाणं ओघो इगिविगले तिण्णि चउ असण्णिस्स ।
सण्णिअपुण्णगमिच्छे सासणसम्मेवि असुहतियं ॥ ५२९ ॥

नरतिरश्चामोघ एकविकले तिस्रः चतस्रः असंज्ञिनः ।
संज्ञ्यपूर्णकमिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वेपि अशुभत्रिकम् ॥ ५२९ ॥

अर्थ—मनुष्य और तिर्यंचोंके सामान्यसे छहों लेश्या होती हैं । एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) जीवोंके कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं । असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके कृष्ण आदि चार लेश्या होती हैं; क्योंकि असंज्ञी पंचेन्द्रिय कपोतलेश्यावाले जीव मरणकर पहले नरकको जाता है । तथा तेजोलेश्यासहित मरनेसे भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होता है । कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यासहित मरनेसे यथायोग्य मनुष्य या तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है । संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक तथा अपि शब्दसे असंज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक और सासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त तथा भवनत्रिक जीवोंमें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती है । उपशम सम्यक्त्वकी विराधना करके सासादन गुणस्थानवाले जीवके अपर्याप्त अवस्थामें तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं ।

भोगा पुण्णगसम्मे काउस्स जहण्णियं हवे णियमा ।
सम्मे वा मिच्छे वा पज्जत्ते तिण्णि सुहलेस्सा ॥ ५३० ॥

भोगापूर्णकसम्यक्त्वे कापोतस्य जघन्यकं भवेत् नियमात् ।
सम्यक्त्वे वा मिथ्यात्वे वा पर्याप्ते तिस्रः शुभलेश्याः ॥ ५३० ॥

अर्थ—भोगभूमियां निर्वृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि जीवोंमें कापोतलेश्याका जघन्य अंश होता है । तथा भोगभूमिया सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवोंके पर्याप्त अवस्थामें पीत आदि तीन शुभ लेश्या ही होती हैं । **भावार्थ**—पहले मनुष्य या तिर्यंच आयुका बंध करके पीछे क्षायिक या वेदक सम्यक्त्वको स्वीकार करके यदि कोई कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यंच सम्यक्त्वसहित मरण करै तो वह भोगभूमिमें उत्पन्न होता है, वहां पर उसके कापोत लेश्याके जघन्य अंशरूप संक्लेश परिणाम होते हैं । परन्तु पर्याप्त अवास्थामें सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके शुभ लेश्या ही होती है ।

अयदोत्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये ।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥ ५३१ ॥

असंयत इति षड् लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये ।
ततः शुक्ला लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५३१ ॥

अर्थ—चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त छहों लेश्या होती हैं । तथा देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभलेश्या ही होती हैं । किन्तु इसके आगे

अपूर्वकरणसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त एक शुक्ललेश्या ही होती है। और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है।

णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया।
अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा॥ ५३२॥

नष्टकषाये लेश्या उच्यते सा भूतपूर्वगतिन्यायात्।
अथवा योगप्रवृत्तिः मुख्येति तत्र भवेल्लेश्या॥ ५३२॥

अर्थ—अकषाय जीवोंके जो लेश्या बताई है वह भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे बताई है। अथवा, योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं; इस अपेक्षासे वहां पर मुख्यरूपसे भी लेश्या है; क्योंकि वहां पर योगका सद्भाव है।

तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च।
एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं॥ ५३३॥
तेऊ तेऊ तेऊ पम्मा पम्मा य पम्मसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का भवणतिया पुण्णगे असुहा॥ ५३४॥

त्रयाणां द्वयोर्द्वयोः षण्णां द्वयोश्च त्रयोदशानां च।
एतस्माच्च चतुर्दशानां लेश्या भवनादिदेवानाम्॥ ५३३॥
तेजस्तेजस्तेजः पद्मा पद्मा च पद्मशुक्ले च।
शुक्ला च परमशुक्ला भवनत्रिका अपूर्णके अशुभाः॥ ५३४॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इन तीन देवोंके पीतलेश्याका जघन्य अंश है। सौधर्म ईशान स्वर्गवाले देवोंके पीतलेश्याका मध्यम अंश है। सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गवालोंके पीतलेश्याका उत्कृष्ट अंश और पद्मलेश्याका जघन्य अंश है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ शुक्र महाशुक्र इन छह स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका मध्यम अंश है। शतार सहस्रार स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंश और शुक्ललेश्याका जघन्य अंश है। आनत प्राणत आरण अच्युत तथा नव ग्रैवेयक इन तेरह स्वर्गवाले देवोंके शुक्ललेश्याका मध्यम अंश है। इसके ऊपर नव अनुदिश तथा पांच अनुत्तर इन चौदह विमानवाले देवोंके शुक्ललेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है। भवनवासी आदि तीन देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं। **भावार्थ**—जब भवनत्रिक देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ तीन लेश्या और पर्याप्त अवस्थामें पीत लेश्याका जघन्य अंश बताया इससे मालुम होता है कि शेष वैमानिक देवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें लेश्या समान ही होती है।

इस प्रकार स्वामी अधिकारका वर्णन करके साधन अधिकारका वर्णन करते हैं ।

वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो ॥ ५३५ ॥

वर्णोदयसंपादितशरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या ।
मोहोदयक्षयोपशमोपशमक्षयजजीवस्पन्दो भावः ॥ ५३५ ॥

अर्थ—वर्णनामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं । मोहनीय कर्मके उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षयसे जो जीवके प्रदेशोंकी चंचलता होती है उसको भावलेश्या कहते हैं । **भावार्थ**—द्रव्यलेश्याका साधन वर्णनामकर्मका उदय है । भावलेश्याका साधन असंयतपर्यन्त चार गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका उदय, और देशविरत आदि तीन गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका क्षयोपशम, उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मका उपशम, तथा क्षपकश्रेणिमें मोहनीय कर्मका क्षय होता है ।

क्रमप्राप्त संख्या अधिकारका वर्णन करते हैं ।

किण्हादिरासिमावलिअसंखभागेण भजिय पविभत्ते ।
हीणकमा कालं वा अस्सिय दव्वा दु भजिदव्वा ॥ ५३६ ॥

कृष्णादिराशिमावल्यसंख्यभागेन भक्त्वा प्रविभक्ते ।
हीनक्रमाः कालं वा आश्रित्य द्रव्याणि तु भक्तव्यानि ॥ ५३६ ॥

अर्थ—संसारी जीवराशिमेंसे तीन शुभ लेश्यावाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहै उतना कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका प्रमाण है । यह प्रमाण संसारी जीवराशिसे कुछ कम होता है । इस राशिमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देकर एक भागको अलग रखकर शेष बहुभागके तीन समान भाग करना । तथा शेष–अलग रक्खे हुए एक भागमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देकर बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे कृष्णलेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । और शेष एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेसे नीललेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । और अवशिष्ट एक भागको तीसरे भागमें मिलानेसे कापोतलेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । इस प्रकार अशुभ लेश्यावालोंका द्रव्यकी अपेक्षासे प्रमाण कहा । यह प्रमाण उत्तरोतर कुछ २ घटता २ है । अब कालकी अपेक्षासे प्रमाण बताते हैं । कृष्ण नील कापोत तीन लेश्याओंका काल मिलानेसे जो अन्तर्मुहूर्तमात्र काल होता है, उसमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देना । इसमें एक भागको जुदा रखना और बहुभागके तीन समान भाग करना । तथा अवशिष्ट एक भागमें आवलीके असंख्यातमे भागका फिर भाग देना । लब्ध एक भागको

अलग रखकर बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कृष्णलेश्याका काल है । लब्ध एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह नीललेश्याका काल है । अवशिष्ट एक भागको अवशिष्ट तीसरे समान भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कापोतलेश्याका काल है । इस प्रकार तीन अशुभ लेश्याओंके कालका प्रमाण भी उत्तरोत्तर अल्प २ समझना चाहिये ।

खेत्तादो असुहतिया अणंतलोगा कमेण परिहीणा ।
कालादोतीदादो अणंतगुणिदा कमा हीणा ॥ ५३७ ॥

क्षेत्रतः अशुभत्रिका अनन्तलोकाः क्रमेण परिहीनाः ।
कालादतीतादनन्तगुणिताः क्रमाद्धीनाः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन अशुभलेश्यावाले जीव लोकाकाशके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे हैं; परन्तु उत्तरोत्तर क्रमसे हीन २ हैं । कृष्ण लेश्यावालोंसे कुछ कम नील लेश्यावाले जीव हैं और नीललेश्यावालोंसे कुछ कम कापोत लेश्यावाले जीव हैं । तथा कालकी अपेक्षा अशुभ लेश्यावालोंका प्रमाण, भूतकालके जितने समय हैं उससे अनन्तगुणा है । यह प्रमाण भी उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये ।

केवलणाणाणंतिमभागा भावादु किण्हतियजीवा ।
तेउतिया संखेज्जा संखासंखेज्जभागकमा ॥ ५३८ ॥

केवलज्ञानानन्तिमभागा भावात्तु कृष्णत्रिकजीवाः ।
तेजस्त्रिका असंख्येयाः संख्यासंख्येयभागक्रमाः ॥ ५३८ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव, केवल ज्ञानके जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उसके अनन्तमे भागप्रमाण हैं । यहां पर भी पूर्ववत् उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये । पीत आदि तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण सामान्यसे असंख्यात है । तथापि पीतलेश्यावालोंसे संख्यातमे भाग पद्मलेश्यावाले हैं । और पद्मलेश्यावालोंसे असंख्यातमे भाग शुक्ललेश्यावाले जीव हैं ।

क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण बताते हैं ।

जोइसियादो अहिया तिरिक्खसण्णिस्स संखभागो दु ।
सूइस्स अंगुलस्स य असंखभागं तु तेउतियं ॥ ५३९ ॥

ज्योतिष्कतः अधिकाः तिर्यक्संज्ञिनः संख्यभागस्तु ।
सूचेरङ्गुलस्य च असंख्यभागं तु तेजस्त्रयम् ॥ ५३९ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक तेजोलेश्यावाले जीव हैं । और तेजो-

लेश्यावाले संज्ञी तिर्यंच जीवोंके प्रमाणसे संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले जीव हैं। और सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भाग शुक्ललेश्यावाले जीव हैं। **भावार्थ**—पैंसठ हजार पांचसौ छत्तीस प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरको देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ज्योतिषी देव हैं। और पांच वार संख्यातसे गुणित पण्णट्ठी प्रमाण प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरको देनेसे जो प्रमाण रहे उतने तिर्यंच, और संख्यात मनुष्य, इन दोनों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने तेजोलेश्यावाले जीव हैं। तथा तेजोलेश्यावालोंसे संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले और सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भाग शुक्ललेश्यावाले जीव हैं।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं।

वेसदछप्पण्णंगुलकदिहिदपदरं तु जोइसियमाणं।
तस्स य संखेज्जदिमं तिरिक्खसण्णीण परिमाणं॥ ५४०॥

द्विशतषट्पञ्चाशदङ्गुलकृतिहितप्रतरं तु ज्योतिष्कमानम्।
तस्य च संख्येयतमं तिर्यक्संज्ञिनां परिमाणम्॥ ५४०॥

अर्थ—दो सौ छप्पन अंगुलके वर्गप्रमाण (पण्णट्ठीप्रमाण=६५५३६) प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो प्रमाण हो उतने ज्योतिषी देव हैं। और इसके संख्यातमे भागप्रमाण संज्ञी तिर्यंच जीव हैं।

तेउदु असंखकप्पा पल्लासंखेज्जभागया सुक्का।
ओहिअसंखेज्जदिमा तेउतिया भावदो होंति॥ ५४१॥

तेजोद्वया असंख्यकल्पाः पल्यासंख्येयभागकाः शुक्लाः।
अवध्यसंख्येयाः तेजस्त्रिका भावतो भवन्ति॥ ५४१॥

अर्थ—असंख्यात कल्पकालके जितने समय हैं उतने ही सामान्यसे तेजोलेश्यावाले और उतने ही पद्मलेश्यावाले जीव हैं। तथापि तेजोलेश्यावालोंसे पद्मलेश्यावाले संख्यातमे भाग हैं। पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण शुक्ललेश्यावाले जीव हैं। इस प्रकार कालकी अपेक्षासे तीन शुभलेश्याओंका प्रमाण समझना चाहिये। तथा अवधिज्ञानके जितने विकल्प हैं उसके असंख्यातमे भाग सामान्यसे प्रत्येक शुभलेश्यावाले जीव हैं। तथापि तेजोलेश्यावालोंसे संख्यातमेभाग पद्मलेश्यावाले और पद्मलेश्यावालोंसे शुक्ललेश्यावाले असंख्यातमेभागमात्र हैं।

क्षेत्राधिकारके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करते हैं।

सट्ठाणसमुग्घादे उववादे सव्वलोयमसुहाणं।
लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेत्तं तु तेउतिये॥ ५४२॥

स्वस्थानसमुद्घाते उपपादे सर्वलोकमशुभानाम् ।
लोकस्यासंख्येयभागं क्षेत्रं तु तेजस्त्रिके ॥ ५४२ ॥

अर्थ—तीन अशुभलेश्याओंका सामान्यसे स्वस्थान तथा समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा सर्वलोकप्रमाण क्षेत्र है। और तीन शुभ लेश्याओंका क्षेत्र लोकप्रमाणके असंख्यातमे भागमात्र है। **भावार्थ**—यह सामान्यसे कथन किया है; किन्तु लेश्याओंके क्षेत्रका विशेष वर्णन, स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान सात प्रकारका समुद्घात, एक प्रकारका उपपाद इस तरह दश कारणोंकी अपेक्षासे किया है। सो विशेषजिज्ञासुओंको वह बड़ी टीकामें देखना चाहिये।

उपपादक्षेत्रके निकालनेके लिये सूत्र कहते हैं।

मरदि असंखेज्जदिमं तस्सासंखा य विग्गहे होंति।
तस्सासंखं दूरे उववादे तस्स खु असंखं ॥ ५४३ ॥

म्रियते असंख्येयं तस्यासंख्याश्च विग्रहे भवन्ति।
तस्यासंख्यं दूरे उपपादे तस्य खलु असंख्यम् ॥ ५४३ ॥

अर्थ—घनाङ्गुलके तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रेणीसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने सौधर्म और ईशान स्वर्गके जीवोंका प्रमाण है। इसमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे एक भागप्रमाण प्रतिसमय मरनेवाले जीव हैं। मरनेवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण हो उतने विग्रहगति करनेवाले जीव हैं। विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण हो उतने मारणान्तिक समुद्घातवाले जीव हैं। इसमें भी पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध एक भाग प्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्घातवाले जीव हैं। इसमें भी पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण उपपाद जीव हैं। यहां पर तिर्यंचोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे एक जीवसम्बन्धी प्रदेश फैलनेकी अपेक्षा डेढ़ राजू लम्बा संख्यात सूच्यंगुलप्रमाण चौड़ा वा ऊंचा क्षेत्र है, इसके घन-क्षेत्रफलको उपपाद जीवोंके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही उपपाद क्षेत्रका प्रमाण है। **भावार्थ**—जिस स्थानवाले जीवोंका क्षेत्र निकालना हो उस स्थानवाले जीवोंकी संख्याका अपनी २ एक जीवसम्बन्धी अवगाहनाप्रमाणसे अथवा जहां तक एक जीव गमन कर सकता है उस क्षेत्रप्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो सामान्यसे उतना ही उनका क्षेत्र कहा जाता है। यहांपर पीतलेश्यासम्बन्धी क्षेत्र का प्रमाण बताया है। पद्म लेश्यामें तथा शुक्ल लेश्यमें भी क्षेत्रका प्रमाण इस ही प्रकारसे होता है कुछ विशेषता है सो बड़ी टीकासे देखना।

सुक्कस्स समुग्घादे असंखलोगा य सव्वलोगो य।

शुक्लायाः समुद्धाते असंख्यलोकाश्च सर्वलोकश्च।

अर्थ—इस सूत्रके पूर्वार्धमें शुक्लेश्याका क्षेत्र लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभाग प्रमाण वा सर्व लोक बताया है सो केवल समुद्धातकी अपेक्षासे है। **भावार्थ**—शुक्ल लेश्याका क्षेत्र दूसरे स्थानोंमें उक्त रीतिसे ही समझना।

क्रमप्राप्त स्पर्शाधिकारका वर्णन करते हैं।

फासं सव्वं लोयं तिट्ठाणे असुहलेस्साणं॥ ५४४॥

स्पर्शः सर्वो लोकस्त्रिस्थाने अशुभलेश्यानाम्॥ ५४४॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका स्पर्श स्वस्थान, समुद्धात, उपपाद, इन तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्व लोक है **भावार्थ**—वर्तमानमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको क्षेत्र कहते हैं। और भूत तथा वर्तमान कालमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको स्पर्श कहते हैं। सो तीन अशुभलेश्यावाले जीवोंका स्पर्श उक्त तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्वलोक है। विशेषकी अपेक्षासे कृष्णलेश्यावालोंका दश स्थानोंमेंसे स्वस्थानस्वस्थान, वेदना कषाय मारणान्तिक समुद्धात, तथा उपपादस्थानमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है। संख्यात सूच्यंगुलको जगत्प्रतरसे गुणा करने पर जो प्रमाण उत्पन्न हो उतना विहारवत्स्वस्थानमें स्पर्श है। तथा वैक्रियिक समुद्धातमें लोकके संख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है। और इस लेश्यामें तैजस आहारक केवल समुद्धात नहीं होता। कृष्णलेश्याके समान ही नील तथा कापोतलेश्याका भी स्पर्श समझना।

तेजोलेश्यामें स्पर्शका वर्णन करते हैं।

तेउस्स य सट्ठाणे लोगस्स असंखभागमेत्तं तु।
अडचोद्दसभागा वा देसूणा होंति णियमेण॥ ५४५॥

तेजसश्च स्वस्थाने लोकस्य असंख्यभागमात्रं तु।
अष्ट चतुर्दशभागा वा देशोना भवन्ति नियमेन॥ ५४५॥

अर्थ—पीतलेश्याका स्वस्थानस्वस्थानकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है। और विहारवत्स्वस्थानकी अपेक्षा त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है।

एवं तु समुग्घादे णव चोद्दसभागयं च किंचूणं।
उववादे पढमपदं दिवड्ढचोद्दस य किंचूणं॥ ५४६॥

एवं तु समुद्धाते नव चतुर्दशभागश्च किञ्चिदूनः।
उपपादे प्रथमपदं द्व्यर्धचतुर्दश च किञ्चिदूनम्॥ ५४६॥

अर्थ—विहारवत्स्वस्थानकी तरह समुद्घातमें भी त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है। तथा मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा चौदह भागोंमेंसे कुछ कम नव भागप्रमाण स्पर्श है। और उपपाद स्थानमें चौदह भागमेंसे कुछ कम डेढ़ भाग-प्रमाण स्पर्श है। इस प्रकार यह पीत लेश्याका स्पर्श सामान्यसे तीन स्थानोंमें बताया है।

डेढ़ २ गाथामें पद्म तथा शुक्लेयशका स्पर्श बताते हैं।

पम्मस्स य सट्टाणसमुग्घाददुगेसु होदि पढमपदं।
अड चोद्दस भागा वा देसूणा होंति णियमेण॥ ५४७॥

पद्मायाश्च स्वस्थानसमुद्घातद्विकयोः भवति प्रथमपदम्।
अष्ट चतुर्दश भागा वा देशोना भवन्ति नियमेन॥ ५४७॥

अर्थ—पद्मलेश्याका विहारवत्स्वस्थान, वेदना कषाय वैक्रियिक तथा मारणान्तिक समुद्घातमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है। तैजस तथा आहार समुद्घातमें संख्यात घनाङ्गुल प्रमाण स्पर्श है। यहां पर च शब्दका ग्रहण किया है इसलिये स्वस्थानस्वस्थानमें लोकके असंख्यातभागोंमेंसे एक भाग प्रमाण स्पर्श है।

उववादे पढमपदं पणचोद्दसभागयं च देसूणं।
सुक्कस्स य तिट्ठाणे पढमो छचोदसा हीणा॥ ५४८॥

उपपादे प्रथमपदं पञ्चचतुर्दशभागकश्च देशोनः।
शुक्लायाश्च त्रिस्थाने प्रथमः षट्चतुर्दश हीनाः॥ ५४८॥

अर्थ—पद्मलेश्या शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त सम्भव है। इसलिये उपपादकी अपेक्षासे पद्मलेश्याका स्पर्श त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम पांच भागप्रमाण है। शुक्ल-लेश्यावाले जीवोंका स्वस्थानस्वस्थानमें तेजोलेश्याकी तरह लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है। और विहारवत्स्वस्थान, तथा वेदना कषाय वैक्रियिक मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद, इन तीन स्थानोंमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग प्रमाण स्पर्श है। तैजस आहारक समुद्घातमें संख्यातघनाङ्गुल स्पर्श है।

णवरि समुग्घादम्मि य संखातीदा हवंति भागा वा।
सव्वो वा खलु लोगो फासो होदित्ति णिद्दिट्ठो॥ ५४९॥

नवरि समुद्घाते च संख्यातीता भवन्ति भागा वा।
सर्वो वा खलु लोकः स्पर्शो भवतीति निर्दिष्टः॥ ५४९॥

अर्थ—केवल–समुद्घातमें विशेषता है, वह इस प्रकार है कि दण्ड समुद्घातमें स्पर्श क्षेत्रकी तरह संख्यात प्रतराङ्गुलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। और स्थित वा उपविष्ट कपाट समुद्घातमें संख्यातसूच्यङ्गुलमात्र जगत्प्रतर प्रमाण है। प्रतर समुद्घातमें लोकके

असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहु भागप्रमाण स्पर्श है । लोकपूर्ण समुद्घातमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है । **भावार्थ**—केवलसमुद्घातके चार भेद हैं । दण्ड कपाट प्रतर लोकपूर्ण । दण्ड समुद्घातके भी दो भेद हैं, एक स्थित दूसरा उपविष्ट । और स्थित तथा उपविष्टके भी आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो २ भेद हैं । कपाट समुद्घात के चार भेद हैं पूर्वाभिमुख स्थित उत्तराभिमुख स्थित पूर्वाभिमुख–उपविष्ट उत्तराभिमुख–उपविष्ट । इन चारमेंसे प्रत्येकके आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो २ भेद हैं । तथा प्रतर लोकपूर्णका एक २ ही भेद है ।

यहां पर जो दण्ड और कपाट समुद्घातका स्पर्श बताया है वह आरोहक और अवरोहककी अपेक्षा दो भेदोंमेंसे एक ही भेद का है, क्योंकि एक जीव समुद्घात अवस्थामें जितने क्षेत्रका आरोहण अवस्थामें स्पर्श करता है उतने ही क्षेत्रका अवरोहण अवस्थामें भी स्पर्श करता है। इस लिये यदि आरोहण अवरोहण दोनों अवस्थाओंका सामान्य स्पर्श जानना हो तो दण्ड और कपाट दोनों ही का उक्त प्रमाणसे दूना २ स्पर्श समझना चाहिये । प्रतर समुद्घातमें लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण वातवलयका स्थान छूट जाता है इसलिये यहां पर लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभागप्रमाण स्पर्श है ।

॥ इति स्पर्शाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त कालाधिकारका वर्णन करते हैं ।

कालो छलेस्साणं णाणाजीवं पडुच सवद्धा ।
अंतोमुहुत्तमवरं एयं जीवं पडुच हवे ॥ ५५० ॥

कालः षड्लेश्यानां नानाजीवं प्रतीत्य सर्वाद्धा ।
अन्तर्मुहूर्तोऽवर एकं जीवं प्रतीत्य भवेत् ॥ ५५० ॥

अर्थ—नाना जीवोंकी अपेक्षा कृष्ण आदि छहों लेश्याओंका सर्व काल है । तथा एक जीव अपेक्षा सम्पूर्ण लेश्याओंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है ।

उवहीणं तेत्तीसं सत्तर सत्तेव होंति दो चेव ।
अट्ठारस तेत्तीसा उक्कस्सा होंति अदिरेया ॥ ५५१ ॥

उदधीनां त्रयस्त्रिंशत् सप्तदश सप्तैव भवन्ति द्वौ चैव ।
अष्टादश त्रयस्त्रिंशत् उत्कृष्टा भवन्ति अतिरेकाः ॥ ५५१ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट काल कृष्णलेश्याका तेतीस सागर, नीललेश्याका सत्रह सागर, कापोतलेश्याका सातसागर, पीतलेश्याका दो सागर, पद्म लेश्याका अठारह सागर, शुक्ल लेश्याका तेतीस सागर से कुछ अधिक है । **भावार्थ**—यह अधिकका सम्बन्ध छहों लेश्याओंके उत्कृष्ट कालके साथ २ करना चाहिये; क्योंकि यह उत्कृष्ट कालका वर्णन देव और नार-

कियोंकी अपेक्षासे है। सो जिस पर्यायको छोड़कर देव या नारकी उत्पन्न हो उस पर्यायके अन्तके अन्तर्मुहूर्तमें तथा देव नारक पर्यायको छोड़कर जिस पर्यायमें उत्पन्न हो उस पर्यायके आदिके अन्तर्मुहूर्तमें वही लेश्या होती है। इस ही लिये छहों लेश्याओंके उक्त उत्कृष्ट कालप्रमाणमें दो २ अन्तर्मुहूर्तका काल अधिक २ समझना। तथा पीत और पद्मलेश्याके कालमें कुछ कम आधा सागर भी अधिक होता है। जैसे सौधर्म और ईशान स्वर्गमें दो सागरकी आयु है। परन्तु यदि कोई घातायुष्क सम्यग्दृष्टि सौधर्म या ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हो तो उसकी अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरकी भी आयु हो सकती है। इस ही तरह घातायुष्क मिथ्यादृष्टिकी पल्यके असंख्यातमें भागप्रमाण आयु अधिक हो सकती है। परन्तु यह अधिकपना सौधर्म स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ही है। क्योंकि आगे घातायुष्क जीव उत्पन्न नहीं होता।

॥ इति कालाधिकारः॥

दो गाथाओंमें अन्तर अधिकारका वर्णन करते हैं।

अंतरमवरुक्कस्सं किण्हतियाणं मुहुत्तअंतं तु।
उवहीणं तेत्तीसं अहियं होदित्ति णिद्दिट्ठं॥ ५५२॥
तेउतियाणं एवं णवरि य उक्कस्स विरहकालो दु।
पोग्गलपरिवट्टा हु असंखेज्जा होंति णियमेण॥ ५५३॥

अन्तरमवरोत्कृष्टं कृष्णत्रयाणां मुहूर्तान्तस्तु।
उदधीनां त्रयस्त्रिंशदधिकं भवतीति निर्दिष्टम्॥ ५५२॥
तेजस्त्रयाणामेवं नवरि च उत्कृष्टविरहकालस्तु।
पुद्गलपरिवर्ता हि असंख्येया भवन्ति नियमेन॥ ५५३॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभलेश्याओंका जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्तमात्र है। और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर होता है। पीत आदि तीन शुभ लेश्याओंका अंतर भी इस ही प्रकार है; परन्तु कुछ विशेषता है। शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अंतर नियमसे असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। **भावार्थ**—किसी विवक्षित एक लेश्याको छोड़कर दूसरी लेश्यारूप परिणमन करके जितने कालमें फिरसे विवक्षित लेश्यारूप परिणमन करै उतने कालको विवक्षित लेश्याका विरहकाल या अन्तर कहते हैं। इस प्रकारका अंतर कृष्णलेश्याका जघन्य अन्तर्मुहूर्तमात्र है। उत्कृष्ट अंतर दश अन्तर्मुहूर्त और आठवर्षकम एक कोटिपूर्व वर्ष अधिक तेतीस सागर प्रमाण है। इस ही प्रकार नील तथा कापोतलेश्याका भी अंतर जानना। परन्तु इतनी विशेषता है कि नील लेश्याके अंतरमें आठ अंतर्मुहूर्त और कापोतलेश्याके अंतरमें छह अंतर्मुहूर्त ही अधिक हैं। अब शुभ लेश्या-

ओंका उत्कृष्ट अंतर दृष्टान्तद्वारा बताते हैं । कोई जीव पीत लेश्याको छोड़कर क्रमसे एक २ अन्तर्मुहूर्तमात्रतक कपोत नील कृष्ण लेश्याको प्राप्त हुआ, कृष्ण लेश्याको प्राप्त होकर एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरिवर्तनोंका जितना काल हो उतने काल पर्यन्त भ्रमण कर विकलेन्द्रिय हुआ, यहां पर भी उत्कृष्टतासे संख्यात हजार वर्ष तक भ्रमण किया । पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे एक २ अंतर्मुहूर्तमें क्रमसे कृष्ण नील कपोत लेश्याको प्राप्त होकर पीत लेश्याको प्राप्त हुआ । इस प्रकारके जीवके पीत लेश्याका उत्कृष्ट अंतर छह अंतर्मुहूर्त और संख्यात हजार वर्ष अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरावर्तन है । पद्म लेश्याका उत्कृष्ट अंतर इस प्रकार है कि कोई पद्मलेश्यावाला जीव पद्मलेश्याको छोड़कर अंतर्मुहूर्त तक पीत लेश्यामें रह कर पल्यके असंख्यातमेभाग अधिक दो सागरकी आयुसे सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हुआ, वहांसे चयकर एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनोंके कालका जितना प्रमाण है उतने काल तक भ्रमण किया । पीछे विकलेन्द्रिय होकर संख्यात हजार वर्ष तक भ्रमण किया । पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक २ अन्तर्मुहूर्ततक क्रमसे कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याको प्राप्त होकर पद्मलेश्याको प्राप्त हुआ इस तरहके जीवके पांच अंतर्मुहूर्त और पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागर तथा संख्यात हजार वर्ष अधिक आवली के असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंतर होता है । शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंतर इस प्रकार है कि कोई शुक्ल लेश्यावाला जीव शुक्ललेश्याको छोड़कर क्रमसे एक २ अन्तर्मुहूर्ततक पद्म पीत लेश्याको प्राप्त होकर सौधर्म ईशान स्वर्गमें प्राप्त होकर तथा वहां पर पूर्वोक्त प्रमाण कालतक रह कर पीछे एकेन्द्रिय अवस्थामें पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण कर पीछे विकलेन्द्रिय होकर भी पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण करके क्रमसे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक २ अन्तर्मुहूर्त तक क्रमसे कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याको प्राप्त होकर शुक्ल लेश्याको प्राप्त हुआ इसतरहके जीवके सात अंतर्मुहूर्त संख्यात हजार वर्ष और पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागर अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र शुक्ललेश्याका उत्कृष्ट अंतर होता है ।

॥ इति अंतराधिकारः ॥

क्रमप्राप्त भाव और अल्पबहुत्व अधिकारका वर्णन करते हैं ।

भावादो छलेस्सा ओदयिया होंति अप्पबहुगं तु ।
दव्वपमाणे सिद्धं इदि लेस्सा वण्णिदा होंति ॥ ५५४ ॥

भावतः षड्लेश्या औदयिका भवन्ति अल्पबहुकं तु ।
द्रव्यप्रमाणे सिद्धमिति लेश्या वर्णिता भवन्ति ॥ ५५४ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा छहों लेश्या औदयिक हैं; क्योंकि योग और कषायके संयोगको ही लेश्या कहते हैं, और ये दोनो अपने २ योग्य कर्मके उदयसे होते हैं । तथा लेश्याओंका अल्पबहुत्व, पहले लेश्याओंका जो संख्या अधिकारमें द्रव्य प्रमाण बताया है उसीसे सिद्ध है । इनमें सबसे अल्प शुक्ललेश्यावाले हैं, इनसे असंख्यातगुणे पद्मलेश्यावाले और इनसे भी संख्यातगुणे पीतलेश्यावाले जीव हैं । पीत लेश्यावालोंसे अनंतानंतगुणे कपोतलेश्यावाले हैं, इनसे कुछ अधिक नील लेश्यावाले और इनसे भी कुछ अधिक कृष्णलेश्यावाले जीव हैं ।

॥ इति अल्पबहुत्वाधिकारः ॥

इस प्रकार सोलह अधिकारोंके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करके अब लेश्यारहित जीवोंका वर्णन करते हैं ।

किण्हादिलेस्सरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा ।
सिद्धिपुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुणेयव्वा ॥ ५५५ ॥

कृष्णादिलेश्यारहिताः संसारविनिर्गता अनंतसुखाः ।
सिद्धिपुरं संप्राप्ता अलेश्यास्ते ज्ञातव्याः ॥ ५५५ ॥

अर्थ—जो कृष्ण आदि छहों लेश्याओंसे रहित हैं, अतएव जो पंचपरिवर्तनरूप संसारसमुद्रके पारको प्राप्त होगये हैं, तथा जो अतीन्द्रिय अनंत सुखसे तृप्त हैं, और आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको जो प्राप्त होगये हैं, उन जीवोंको अयोगकेवली या सिद्धभगवान् कहते हैं । **भावार्थ**—जो अनंत सुखको प्राप्तकर संसारसे सर्वथा रहित होकर सिद्धि पुरको प्राप्त होगये हैं वे जीव सर्वथा लेश्याओंसे रहित होते हैं अत एव उनको अलेश्य-सिद्ध कहते हैं ।

॥ इति लेश्याप्ररूपणा समाप्ता ॥

क्रमप्राप्त भव्यमार्गणाका वर्णन करते हैं ।

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५५६ ॥

भव्या सिद्धिर्येषां जीवानां ते भवन्ति भवसिद्धाः ।
तद्विपरीता अभव्याः संसारान्न सिध्यन्ति ॥ ५५६ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हों उनको भव्यसिद्ध कहते हैं । जिनमें इन दोनोंमेंसे कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवोंको अभव्यसिद्ध कहते हैं । **भावार्थ**—कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्तिकी प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु कभी मुक्त न होंगे; जैसे बन्ध्यापनेके दोषसे रहित विधवा सती स्त्रीमें पुत्रोत्पत्तिकी योग्यता है; परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा । कोई भव्य ऐसे हैं जो नियमसे मुक्त होंगे । जैसे बन्ध्यापनेसे रहित स्त्रीके निमित्त मिलने पर नियमसे पुत्र उत्पन्न होगा । इन दोनो स्वभावोंसे जो रहित हैं उनको अभव्य कहते हैं । जैसे बन्ध्या स्त्रीके निमित्त मिले चाहे न मिले; परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है ।

जिनमें मुक्तिप्राप्तिकी योग्यता है उनको भव्यसिद्ध कहते हैं इस अर्थको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

भवत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा ।
ण हु मलविगमे णियमा ताणं कणओवलाणमिव ॥ ५५७ ॥

भव्यत्वस्य योग्या ये जीवास्ते भवन्ति भवसिद्धाः ।
न हि मलविगमे नियमात् तेषां कनकोपलानामिव ॥ ५५७ ॥

अर्थ—जो जीव अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धिकी प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु उस सिद्धिको कभी प्राप्त न होंगे उनको भवसिद्ध कहते हैं । इसप्रकारके जीवोंका कर्ममल नियमसे दूर नहीं हो सकता । जैसे कनकोपलका । **भावार्थ**–ऐसे बहुतसे कनकोपल हैं जिनमें निमित्त मिलनेपर शुद्ध स्वर्णरूप होनेकी योग्यता है; परन्तु उनकी इस योग्यताकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी । अथवा जिसतरह अहमिन्द्र देवोंमें नरकादिमें गमन करनेकी शक्ति है परन्तु उस शक्तिकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होती । इस ही तरह जिन जीवोंमें अनंतचतुष्टयको प्राप्त करनेकी योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी उनको भवसिद्ध कहते हैं । ये जीव सदा संसारमें ही रहते हैं ।

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहातीदणंतसंसारा ।
ते जीवा णायव्वा णेव य भव्वा अभव्वा य ॥ ५५८ ॥

न च ये भव्या अभव्या मुक्तिसुखा अतीतानन्तसंसाराः ।
ते जीवा ज्ञातव्या नैव च भव्या अभव्याश्च ॥ ५५८ ॥

अर्थ—जिनका पांच परिवर्तनरूप अनन्त संसार सर्वथा छूट गया है, और जो मुक्तिसुखके भोक्ता हैं उन जीवोंको न तो भव्य समझना चाहिये और न अभव्य समझना चाहिये; क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा है इसलिये वे भव्य भी नहीं हैं । और अनन्त चतुष्टयको प्राप्त हो चुके हैं इसलिये अभव्य भी

नहीं हैं। भावार्थ—जिसमें अनंत चतुष्टयके अभिव्यक्त होनेकी योग्यता ही न हो उसको अभव्य कहते हैं। अतः ये अभव्य भी नहीं हैं; क्योंकि इन्होने अनंत चतुष्टयको प्राप्त कर लिया है। और भव्यत्वका परिपाक हो चुका अतः अपरिपक्व अवस्थाकी अपेक्षासे भव्य भी नहीं हैं।

भव्यमार्गणामें जीवोंकी संख्या बताते हैं।

अवरो जुत्ताणंतो अभवरासिस्स होदि परिमाणं।
तेण विहीणो सवो संसारी भवरासिस्स ॥ ५५९ ॥

अवरो युक्तानन्तः अभव्यराशेर्भवति परिमाणम्।
तेन विहीनः सर्वः संसारी भव्यराशेः ॥ ५५९ ॥

अर्थ—जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि है। और सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे अभव्यराशिका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही भव्यराशिका प्रमाण है। **भावार्थ**—भव्यराशि बहुत अधिक है और अभव्य राशि बहुत थोड़ी है। अभव्य जीव सदा पांच परिवर्तन रूप संसरसे युक्त ही रहते हैं। एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका प्राप्त होना इसको संसार–परिवर्तन कहते हैं। इस संसार अर्थात् परिवर्तनके पांच भेद हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं, एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन। यहां पर इन परिवर्तनोंका क्रमसे स्वरूप बताते हैं। किसी जीवने, स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादिके तीव्र मंद मध्यम भावोंमेंसे यथासम्भव भावोंसे युक्त, औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तिरूप परिणमनेके योग्य पुद्गलोंका एक समयमें ग्रहण किया। पीछे द्वितीयादि समयोंमें उस द्रव्यकी निर्जरा करदी। तथा पीछे अनंतवार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया, अनन्तवार मिश्रद्रव्यको ग्रहण करके छोड़दिया, अनंतवार ग्रहीतको भी ग्रहण करके छोड़ दिया। जब वही जीव उन ही स्निग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उनही पुद्गलोंको जितने समयमें ग्रहण करै उतने कालसमुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्कन्धमें हों उसको ग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें एसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहले ग्रहण नहीं किया हो उसको अग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें दोनोंप्रकारके परमाणु हों उसको मिश्र कहते हैं। अग्रहीत परमाणु भी लोकमें अनन्तानन्त हैं; क्योंकि सम्पूर्ण जीवराशिका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करने पर जो लब्ध आवे उसका अतीतकालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उससे भी अनन्तगुणा पुद्गलद्रव्य है।

इस परिवर्तनका काल अग्रहीतग्रहण ग्रहीतग्रहण मिश्रग्रहणके भेदसे तीन प्रकारका है। इसकी घटना किस तरह होती है यह अनुक्रम यन्त्रद्वारा बताते हैं।

द्रव्यपरिवर्तन यन्त्र.

००x	००x	००१	००x	००x	००१
xx०	xx०	xx१	xx०	xx०	xx१
xx१	xx१	xx०	xx१	xx१	xx०
११x	११x	११०	११x	११x	११०

इस यन्त्रमें शून्यसे अग्रहीत, हंसपदसे (x इस चिह्नसे) मिश्र और एकके अंकसे ग्रहीत समझना चाहिये । तथा दोवार लिखनेसे अनन्तवार समझना चाहिये । इस यन्त्रके देखनेसे स्पष्ट होता है कि निरन्तर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होचुकनेपर एक वार मिश्रका ग्रहण होता है, मिश्रग्रहणके बाद फिर निरन्तर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एकवार मिश्रका ग्रहण होता है। इस ही क्रमसे अनन्तवार मिश्रका ग्रहण हो चुकने पर अग्रहीतग्रहणके अनंतर एक वार ग्रहीतका ग्रहण होता है । इसके बाद फिर उस ही तरह अनंत वार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होकर एकवार मिश्रका ग्रहण होता है। तथा मिश्रका ग्रहण अनन्तवार होचुकने पर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण करके एकवार फिर ग्रहीतका ग्रहण होता है। इस ही क्रमसे अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण होता है। यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये ही प्रथम पङ्क्तिमें पहले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे किये हैं । अर्थात् इस क्रमसे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण होचुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है । इसके बाद दूसरे भेदका प्रारम्भ होता है । यहां पर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकवार अग्रहीतका ग्रहण, फिर अनंतवार मिश्रका ग्रहण होने पर एक वार अग्रहीतका ग्रहण इस ही क्रमसे अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होकर अनंत वार मिश्रका ग्रहण करके एक वार ग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस क्रमसे एकवार ग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण होचुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका दूसरा भेद समाप्त होता है । इसके वाद तीसरे भेदमें अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकवार ग्रहीतका ग्रहण होता है, फिर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकवार ग्रहीतका ग्रहण इस क्रमसे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर अनंतवार मिश्रका ग्रहण करके एकवार अग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस तरह एकवार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही तरह अनंतवार अग्रहीतका ग्रहण होनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है । इसके बाद चौथे भेदका प्रारम्भ होता है, इसमें प्रथम ही अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण करके एकवार मिश्रका ग्रहण होता है, इसकेबाद फिर अनंतवार ग्रही-

तका ग्रहण होनेपर एकवार मिश्रका ग्रहण होता है। इस तरह अनंतवार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण करके एकवार अग्रहीतका ग्रहण होता है। जिस तरह एकवार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतवार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका चौथा भेद समाप्त होता है। इस चतुर्थ भेदके समाप्त होचुकने पर, नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारम्भके प्रथम समयमें वर्ण गन्ध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उस ही भावसे युक्त उस शुद्ध ग्रहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है। इस सबके समुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। तथा इसमें जितना काल लगे उसको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल कहते हैं।

इस ही तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है। विशेषता इतनी ही है कि जिस तरह नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें नोकर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उस ही तरह यहां पर कर्म-पुद्गलोंका ग्रहण होता है। परन्तु क्रममें कुछ भी विशेषता नहीं है। जिस तरहके चार भेद नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें होते हैं उस ही तरह कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें भी चार भेद होते हैं। इन चार भेदोंमें भी अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है, इससे अनंतगुणा काल मिश्रग्रहणका है। इससे भी अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका जघन्यकाल है इससे अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका उत्कृष्ट काल है। क्योंकि प्रायःकरके उस ही पुद्गलद्रव्यका ग्रहण होता है कि जिसके साथ द्रव्य क्षेत्र काल भावका संस्कार हो चुका है। इस ही अभिप्रायसे यह सूत्र कहा है किः—

सुहमट्ठिदिसंजुत्तं आसण्णं कम्मणिज्जरामुक्कं।
पाएण एदि गहणं दव्वमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ १॥

सूक्ष्मस्थितिसंयुक्तमासन्नं कर्मनिर्जरामुक्तम्।
प्रायेणैति ग्रहणं द्रव्यमनिर्दिष्टसंस्थानम्॥ १॥

अर्थ—जिन कर्मरूप परिणत पुद्गलोंकी स्थिति अल्प थी अत एव पीछे निर्जीर्ण होकर जिनकी कर्मरहित अवस्था होगई हो परन्तु जीवके प्रदेशोंके साथ जिनका एकक्षेत्रावगाह हो तथा जिनका संस्थान (आकार) कहा नहीं जा सकता इस तरहके पुद्गल द्रव्यका ही प्रायः-करके जीव ग्रहण करता है। **भावार्थ**—यद्यपि यह नियम नहीं है कि इस ही तरहके पुद्गलका जीव ग्रहण करै तथापि बहुधा इस ही तरहके पुद्गलका ग्रहण करता है; क्योंकि यह द्रव्य क्षेत्र काल भावसे संस्कारित है।

द्रव्यपरिवर्तनके उक्त चार भेदोंका इस गाथामें निरूपण किया हैः—।

अगहिदमिस्सं गहिदं मिस्समगहिदं तहेव गहिदं च।
मिस्सं गहिदमगहिदं गहिदं मिस्सं अगहिदं च॥ २॥

अग्रहीतं मिश्रं ग्रहीतं मिश्रमग्रहीतं तथैव ग्रहीतं च ।
मिश्रं ग्रहीतमग्रहीतं ग्रहीतं मिश्रमग्रहीतं च ॥ २ ॥

अर्थ—पहला अग्रहीत मिश्र ग्रहीत, दूसरा मिश्र अग्रहीत ग्रहीत, तीसरा मिश्र ग्रहीत अग्रहीत, चौथा ग्रहीत मिश्र अग्रहीत, इस तरह चार प्रकारसे पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर परिवर्तनके प्रारम्भ समयमें ग्रहण किये हुए पुद्गलोंका ग्रहण होता है। और तब ही एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा होता है। इसका विशेष स्वरूप पहले लिख चुके हैं। **भावार्थ**— यहां पर प्रकरणके अनुसार शेष चार परिवर्तनोंका भी स्वरूप लिखते हैं। क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं, एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन दूसरा परक्षेत्रपरिवर्तन। एक जीव सर्व जघन्य अवगाहनाको जितने उसके प्रदेश हों उतनीवार धारण करके पीछे क्रमसे एक २ प्रदेश अधिक २ की अवगाहनाओंको धारण करते २ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त अवगाहनाओंको जितने समयमें धारण करसके उतने काल समुदायको एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके अष्ट मध्य—प्रदेशोंको अपने शरीरके अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उस ही रूपसे उस ही स्थानमें दूसरी तीसरी वार भी उत्पन्न हुआ। इसी तरह घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण जघन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश हैं उतनीवार उसी स्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और श्वासके अठारहमे भागप्रमाण क्षुद्र आयुको भोग २ कर मरणको प्राप्त हुआ। पीछे एक २ प्रदेशके अधिकक्रमसे जितने कालमें सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाले उतने कालसमुदायको एक परक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं।

कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें पहलीवार उत्पन्न हुआ, इस ही तरह दूसरीवार दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समययें उत्पन्न हुआ, तथा तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तीसरीवार उत्पन्न हुआ। इसही क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके वीस कोड़ाकोड़ी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ, तथा इसही क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ, इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक कालपरिवर्तन कहते हैं।

कोई जीव दशहजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य दश हजार वर्षकी आयुसे प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ, पीछे एक २ समयके अधिकक्रमसे नरकसम्बन्धी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको क्रमसे पूर्ण कर, अन्तर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यंचगतिमें उत्पन्न होकर यहांपर भी नरगतिकीतरह एक २ समयके अधिकक्रमसे तिर्यग्गतिसम्बन्धी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। पीछे तिर्यग्गतिकी तरह मनुष्यगतिको पूर्ण किया, क्योंकि मनुष्यगतिकी भी जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी तथा उत्कृष्ट तीन पल्यकी आयु है। मनुष्यागतिके बाद दश हजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य दश हजार वर्षकी आयुसे देवगतिमें उत्पन्न होकर पीछे एक २ समयके

अधिकक्रमसे इकतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया; क्योंकि यद्यपि देवगतिसम्बन्धी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरकी है तथापि यहांपर इकतीस सागर ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागरतक ही होती है। और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे ही है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि संसारमें अर्धपुद्गल परिवर्तनका जितना काल है उससे अधिक कालतक नहीं रहता। इस क्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमण करनेमें जितना काल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं। तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसको एक भवपरिवर्तन कहते हैं।

योगस्थान अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान[1] स्थितिस्थान इन चारके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है। प्रकृति और प्रदेशबन्धको कारणभूत आत्माके प्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके तरतमरूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। जिन कषायके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभागबंध होता है उनको अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबन्धको कारणभूत कषायपरिणामोंको कषायाध्यवसायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। बन्धरूप कर्मकी जघन्यादिक स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं। इनका परिवर्तन किस तरह होता है यह दृष्टान्तद्वारा नीचे लिखते हैं।

श्रेणिके असख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके होजानेपर एक अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है, और असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है, तथा असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर एक स्थितिस्थान होता है। इस क्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूलप्रकृति वा उत्तरप्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण जघन्य स्थितिका बंध होता है। यही यहांपर जघन्य स्थितिस्थान है। अतः इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्यही अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान जघन्य ही कषायाध्यवसायस्थान और जघन्य ही योगस्थान होते हैं। यहांसे ही भावपरिवर्तनका प्रारम्भ होता है। अर्थात् इसके आगे श्रेणीके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर दूसरा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है। इसके बाद फिर श्रेणीके असंख्यातये भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर तीसरा अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है। इसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। जिस क्रमसे दूसरा कषाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यातलोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके

---

[1] एक ही कषाय परिणाममें दो कार्य करनेका स्वभाव है। एक स्वभाव अनुभाग बंधको कारण है, और दूसरा स्वभाव स्थिति बंधको कारण है। इनको ही अनुभागबंधाध्यवसाय और कषायाध्यवसाय कहते हैं।

होजानेपर जघन्य स्थितिस्थान होता है। जो क्रम जघन्य स्थितिस्थानमें बताया वही क्रम एक २ समय अधिक द्वितीयादि स्थितिस्थानोमें समझना चाहिये। तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक समस्त स्थिति स्थानोंके हो जानेपर, और ज्ञानावरणके स्थिति स्थानोंकी तरह क्रमसे सम्पूर्ण मूल वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थितिस्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। तथा इस परिवर्तनमें जितना काल लगे उसको एक भावपरिवर्तनका काल कहते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इन पांच परिवर्तनोंका स्वरूप यहांपर कहा है। इनका काल उत्तरोत्तर अनन्तगुणा २ है। नानाप्रकारके दुःखोंसे आकुलित पांच परिवर्तनरूप संसारमें यह जीव मिथ्यात्वके निमित्तसे अनंतकालसे भ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमणके कारणभूत कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी जिनमें योग्यता नहीं है उनको अभव्य कहते हैं। और जिनमें कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी योग्यता है उनको भव्य कहते हैं।

॥ इति भव्यत्वमार्गणाधिकारः समाप्तः ॥

क्रमप्राप्त सम्यक्त्व मार्गणाका वर्णन करते हैं।

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

षट्पञ्चनवविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम्।
आज्ञया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ ५६० ॥

अर्थः—छह द्रव्य पांच अस्तिकाय नव पदार्थ इनका जिनेन्द्र देवने जिस प्रकारसे वर्णन किया है उस ही प्रकारसे इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकारसे होता है एक तो केवल आज्ञासे दूसरा अधिगमसे। **भावार्थ**—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य हैं। तथा कालको छोड़कर शेष ये ही पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं। और जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नव प्रकारके पदार्थ हैं। इनका 'जिनेन्द्रदेवने जैसा स्वरूप कहा है वास्तवमें वही सत्य है,' इस तरह विना युक्तिसे निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। तथा इनके विषयमें प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदि नय, नाम स्थापना आदि निक्षेप इत्यादिकेद्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

छह द्रव्योंके अधिकारोंका वर्णन करते हैं।

छद्दवेसु य णामं उवलक्खणुवाय अत्थणे कालो।
अत्थणखेत्तं संखा ठाणसरूवं फलं च हवे ॥ ५६१ ॥

---

1 सभी परिवर्तनोंमें जहां क्रमभंग होगा वह गणनामें नहीं आवेगा।

षड्द्रव्येषु च नाम उपलक्षणानुवादः अस्तित्वकालः।
अस्तित्वक्षेत्रं संख्या स्थानस्वरूपं फलं च भवेत्॥ ५६१॥

अर्थ—छह द्रव्योंके निरूपण करनेमें ये सात अधिकार हैं। नाम, उपलक्षणानुवाद, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थानस्वरूप, फल।

प्रथमही नाम अधिकारको कहते हैं।

जीवाजीवं दव्वं रूवारूविति होदि पत्तेयं।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया॥ ५६२॥

जीवाजीवं द्रव्यं रूप्यरूपीति भवति प्रत्येकम्।
संसारस्था रूपिणः कर्मविमुक्ता अरूपगताः॥ ५६२॥

अर्थ—द्रव्य सामान्यके दो भेद हैं। एक जीवद्रव्य दूसरा अजीव द्रव्य। जीवद्रव्यके भी दो भेद हैं। एक रूपी दूसरा अरूपी। जितने संसारी जीव हैं वे सब रूपी हैं; क्योंकि उनका कर्म–पुद्गलके साथ एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध है। जो जीव कर्मसे रहित होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं वे सब अरूपी हैं; क्योंकि उनसे कर्मपुद्गलका सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है।

अजीव द्रव्यमें भी रूपी अरूपीका भेद गिनाते हैं।

अज्जीवेसु य रूवी पुग्गलदव्वाणि धम्म इदरोवि।
आगासं कालोवि य चत्तारि अरूविणो होंति॥ ५६३॥

अजीवेषु च रूपीणि पुद्गलद्रव्याणि धर्म्म इतरोऽपि।
आकाशं कालोपि च चत्वारि अरूपीणि भवन्ति॥ ५६३॥

अर्थ—अजीव द्रव्यके पांच भेद हैं, पुद्गल, धर्म्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमें एक पुद्गल द्रव्य रूपी है। और शेष धर्म अधर्म, अकाश, काल ये चार द्रव्य अरूपी हैं।

उपलक्षणानुवाद अधिकारको कहते हैं।

उवजोगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ॥ ५६४॥

उपयोगो वर्णचतुष्कं लक्षणमिह जीवपुद्गलानां तु।
गतिस्थानावगाहवर्तनक्रियोपकारस्तु धर्मचतुर्णाम्॥ ५६४॥

अर्थ—ज्ञानदर्शनरूप उपयोग जीवद्रव्यका लक्षण है। वर्ण गन्ध रस स्पर्श यह पुद्गलद्रव्यका लक्षण है। जो जीव और पुद्गलद्रव्यको गमन करनेमें सहकारी हो उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जो जीव तथा पुद्गलद्रव्यको ठहरनेमें सहकारी हो उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं। जो सम्पूर्ण द्रव्योंको स्थान देनेमें सहायक हो उसको आकाश कहते हैं। जो समस्त द्रव्योंके अपने २ स्वभावमें वर्तनेका सहकारी है उसको कालद्रव्य कहते हैं।

गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे ।
धम्मतिये णहि किरिया मुक्खा पुण साधका होंति ॥ ५६५ ॥

गतिस्थानावगाहक्रिया जीवानां पुद्गलानामेव भवेत् ।
धर्मत्रिके नहि क्रिया मुख्याः पुनः साधका भवन्ति ॥ ५६५ ॥

अर्थ—गमन करनेकी या ठहरनेकी अथवा रहनेकी क्रिया जीवद्रव्य या पुद्गलद्रव्यकी ही होती है। धर्म अधर्म आकाशमें ये क्रिया नहीं होती, क्योंकि न तो इनके स्थान चलायमान होते हैं । और न प्रदेश ही चलायमान होते हैं । किन्तु ये तीनो ही द्रव्य जीव पुद्गलकी उक्त तीनों क्रियाओंके मुख्य साधक हैं । **भावार्थ**—मुख्य साधक कहनेका अभिप्राय यह नहीं हैं कि धर्मादि द्रव्य जीव पुद्गलको गमन आदि करनेमें प्रेरक हैं; किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय जीव या पुद्गल गति आदिमें परिणत हों उस समय उनकी गति आदिमें सहकारी होना धर्मादि द्रव्यका मुख्य कार्य है ।

गति आदिमें धर्मादि द्रव्य किसतरह सहायक होते हैं यह दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं ।

जत्तस्स पहं ठत्तस्स आसणं णिवसगस्स वसदी वा ।
गदिठाणोग्गहकरणे धम्मतियं साधगं होदि ॥ ५६६ ॥

यातस्य पन्थाः तिष्ठतः आसनं निवसकस्य वसतिर्वा ।
गतिस्थानावगाहकरणे धर्मत्रयं साधकं भवति ॥ ५६६ ॥

अर्थ—गमन करनेवालेको मार्गकी तरह धर्म द्रव्य जीवपुद्गलकी गतिमें सहकारी होता है । ठहरनेवालेको आसनकी तरह अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी होता है । निवासकरनेवालेको मकानकी तरह आकाशद्रव्य जीव पुद्गल आदिको अवगाह देनेमें सहकारी साधक होता है ।

वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु ।
कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥ ५६७ ॥

वर्तनाहेतुः कालो वर्तनागुणमवेहि द्रव्यनिचयेषु ।
कालाधारेणैव च वर्तन्ते हि सर्वद्रव्याणि ॥ ५६७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंका यह स्वभाव है कि वे अपने २ स्वभावमें सदा ही वर्तें । परन्तु उनका यह वर्तना किसी बाह्य सहकारीके विना नहीं हो सकता इसलिये इनको वर्तानेका सहकारी कारणरूप वर्तनागुण जिसमें पाया जाय उसको काल कहते हैं; क्योंकि कालके आश्रयसे ही समस्त द्रव्य वर्तते है ।

मूर्तीक जीव पुद्गलके वर्तनेका सहकारी कारण होना काल द्रव्यमें सम्भव है, परन्तु धर्मादिक अमूर्तीक तथा व्यापक द्रव्योंमें किसतरह घटित होसकता है ? इस शङ्काका समाधान करते हैं ।

धम्माधम्मादीणं अगुरुगुलहुगं तु छहिँ वि वड्ढीहिं ।
हाणीहिं वि वड्ढंतो हायंतो वट्टदे जह्मा ॥ ५६८ ॥

धर्माधर्मादीनामगुरुकलघुकं तु षड्भिरपि वृद्धिभिः ।
हानिभिरपि वर्धमानं हीयमानं वर्तते यस्मात् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—धर्मादिक द्रव्योंमें अगुरुलघु नामका एक गुण है। इस गुणमें तथा इसके निमित्तसे धर्मादिक द्रव्यके शेष गुणोंमें छह प्रकारकी वृद्धि तथा छह प्रकारकी हानि होती है। और इन वृद्धि हानिके निमित्तसे वर्धमान तथा हीयमान धर्मादि द्रव्योंमें वर्तना सम्भव है। **भावार्थ**—धर्मादि द्रव्योंमें स्वसत्ताका नियामक कारणभूत अगुरुलघु गुण है। इसके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंमें अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि, तथा अन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनंतगुणहानि ये छह हानि होती हैं। तथा इस गुणके निमित्तसे दूसरे गुणोंमें भी ये हानि वृद्धि होती हैं। इसलिये धर्मादि द्रव्योंके इस परिणमनका भी बाह्य सहकारी कारण मुख्य काल द्रव्य ही है।

-वर्तनाका कारण कालद्रव्य किसतरह है यह स्पष्ट करते हैं।

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं ।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥ ५६९ ॥

न च परिणमति स्वयं स नच परिणामयति अन्यदन्यैः ।
विविधपरिणामिकानां भवति हि कालः स्वयं हेतुः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—परिणामी होनेसे कालद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत हो जाय यह बात नहीं है, वह तो स्वयं दूसरे द्रव्यरूप परिणत होता है, और न दूसरे द्रव्योंको अपने स्वरूप अथवा भिन्नद्रव्यस्वरूप परणमाता है; किन्तु अपने स्वभावसे ही अपने २ योग्य पर्यायोंसे परिणत होनेवाले द्रव्योंके परिणमनमें कालद्रव्य उदासीनतासे स्वयं बाह्य सहकारी होजाता है।

कालं अस्सिय दव्वं सगसगपज्जायपरिणदं होदि ।
पज्जायावट्ठाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं ॥ ५७० ॥

कालमाश्रित्य द्रव्यं स्वकस्वकपर्यायपरिणतं भवति ।
पर्यायावस्थानं शुद्धनयेन भवति क्षणमात्रम् ॥ ५७० ॥

अर्थ—कालके आश्रयसे प्रत्येक द्रव्य अपने २ योग्य पर्यायोंसे परिणत होता है। इन पर्यायोंकी स्थिती शुद्धनयसे एक क्षण मात्र रहती है।

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।
ववहारअवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु ॥ ५७१ ॥

व्यवहारश्च विकल्पो भेदस्तथा पर्याय इत्येकार्थः ।
व्यवहारावस्थानस्थितिर्हि व्यवहारकालस्तु ॥ ५७१ ॥

अर्थ—व्यवहार विकल्प भेद पर्याय इन शब्दोंका एक ही अर्थ है । व्यंजनपर्यायके ठहरनेका जितना काल है उतने कालको व्यवहारकाल कहते हैं ।

अवरा पज्जायठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति ।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु ॥ ५७२ ॥

अवरा पर्यायस्थितिः क्षणमात्रं भवति सा च समय इति ।
द्वयोरण्वोरतिक्रमकालप्रमाणं भवेत् स तु ॥ ५७२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंकी पर्यायकी जघन्य स्थिति एक क्षणमात्र होती है, इसीको समय भी कहते हैं । दो परमाणुओंके अतिक्रमण करनेके कालका जितना प्रमाण है उसको समय कहते हैं । **भावार्थ**—समीपमें स्थित दो परमाणुओंमेंसे मंद गमनरूप परिणत होकर जितने कालमें एक परमाणु दूसरी परमाणुका उल्लंघन करै उतने कालको एक समय कहते हैं । इतनी ही प्रत्येक पर्यायकी जघन्य स्थिति है ।

प्रकारान्तरसे समयका प्रमाण बताते हैं ।

[1]णभएयपयेसत्थो परमाणु मंदगइपवट्टंतो ।
बीयमणंतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालो ॥ १ ॥

नभएकप्रदेशस्थः परमाणुर्मन्दगतिप्रवर्तमानः ।
द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावत् याति सः समयकालः ॥ १ ॥

अर्थ—आकाशके एक प्रदेशपर स्थित एक परमाणु मन्दगतिके द्वारा गमन करके दूसरे अनन्तर प्रदेशपर जितने कालमें प्राप्त हो उतने कालको एक समय कहते हैं ।

प्रदेशका प्रमाण बताते हैं ।

[2]जेत्तीवि खेत्तमेत्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च ।
तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स ॥ २ ॥

यावदपि क्षेत्रमात्रमणुना रुद्धं खलु गगनद्रव्यं च ।
स च प्रदेशो भणितः अपरपरकारणं यस्य ॥ २ ॥

अर्थ—जितने आकाशद्रव्यमें पुद्गलका एक अविभागी परमाणु आजाय उतने क्षेत्रमात्रको एक प्रदेश कहते हैं । इस प्रदेशके निमित्तसे ही आगे पीछेका अथवा दूर समी-

---

१-२ ये दोनों ही गाथा क्षेपक हैं ।

पका व्यवहार सिद्ध होता है। **भावार्थ**—अमुक पदार्थ अमुक पदार्थके आगे है और अमुक पदार्थ पीछे है। अथवा अमुक पदार्थ अमुक पदार्थके समीप है और अमुक पदार्थसे दूर है इस व्यवहारको सिद्ध करनेवाला प्रदेशविभाग ही है।

व्यवहारकालका निरूपण करते हैं।

आवलिअसंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुस्सासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥ ५७३ ॥

आवलिरसंख्यसमया संख्येयावलिसमूह उच्छ्वासः।
सप्तोच्छ्वासः स्तोकः सप्तस्तोको लवो भणितः ॥ ५७३ ॥

अर्थ—असंख्यातसमयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है।

उच्छ्वासका स्वरूप क्षेपक गाथाद्वारा बताते हैं।

अड्ढस्स अणलस्स य णिरुवहदस्स य हवेज्ज जीवस्स।
उस्सासाणिस्सासो एगो पाणोत्ति आहीदो ॥ १ ॥

आढ्यस्यानलसस्य च निरुपहतस्य च भवेत् जीवस्य।
उच्छ्वासनिःश्वास एकः प्राण इति आख्यातः ॥ १ ॥

अर्थ—सुखी, आलस्यरहित, रोग पराधीनता चिन्ता आदिसे रहित जीवके संख्यात-आवलीके समूहरूप एक श्वासोच्छ्वास प्राण होता है। **भावार्थ**—दुःखी आदि जीवके संख्यात आवलीप्रमाण कालके पहले भी श्वासोच्छ्वास होजाता है। इसलिये यहां पर सुखी आदि विशेषणोंसे युक्त जीवका ग्रहण किया है।

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वेनालिया मुहुत्तं तु।
एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥ ५७४ ॥

अष्टत्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिको मुहूर्तस्तु।
एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तस्ततः शेषः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली (घड़ी) होती है। दो घड़ीका एक मुहूर्त होता है। इसमें एक समय कम करनेसे भिन्नमुहूर्त अथवा अन्तर्मुहूर्त होता है। तथा इसके आगे दो तीन चार आदि समय कम करनेसे अन्तर्मुहूर्तके ही भेद होते हैं।

जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण क्षेपक गाथाके द्वारा बताते हैं।

ससमयमावलि अवरं समऊणमुहुत्तयं तु उक्कस्सं।
मज्झासंखवियप्पं वियाण अंतोमुहुत्तमिणं ॥ १ ॥

समसमय आवलिरवरः समयोनमुहूर्तकस्तु उत्कृष्टः ।
मध्यासंख्यविकल्पः विजानीहि अन्तर्मुहूर्तमिमम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक समयसहित आवलीप्रमाण कालको जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । एक समय कम मुहूर्तको उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । इन दोनोंके मध्यके असंख्यात भेद हैं । उन सबको भी अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिये ।

दिवसो पक्खो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु ।
संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो ॥ ५७५ ॥

दिवसः पक्षो मास ऋतुरयनं वर्षमेवमादिर्हि ।
संख्येयासंख्येयानन्ता भवन्ति व्यवहाराः ॥ ५७५ ॥

अर्थ—तीस मुहूर्तका एक दिवस (अहोरात्र) पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, दो अयनका एक वर्ष इत्यादि व्यवहार कालके आवलीसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद होते हैं ।

ववहारो पुण कालो माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु ।
जोइसियाणं चारे ववहारो खलु समाणोत्ति ॥ ५७६ ॥

व्यवहारः पुनः कालः मानुपक्षेत्रे ज्ञातव्यस्तु ।
ज्योतिष्काणां चारे व्यवहारः खलु समान इति ॥ ५७६ ॥

अर्थ—परन्तु यह व्यवहार काल मनुष्यक्षेत्रमें ही समझना चाहिये; क्योंकि मनुष्य-क्षेत्रके ही ज्योतिषी देवोंके विमान गमन करते हैं, और इनके गमनका काल तथा व्यवहार काल दोनों समान हैं ।

प्रकारान्तरसे व्यवहारकालका प्रमाण बताते हैं ।

ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु ।
तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥ ५७७ ॥

व्यवहारः पुनस्त्रिविधोऽतीतो वर्तमानो भविष्यंस्तु ।
अतीतः संख्येयावलिहतसिद्धानां प्रमाणं तु ॥ ५७७ ॥

अर्थ—व्यवहार कालके तीन भेद हैं । भूत वर्तमान भविष्यत् । सिद्धराशिका संख्यात आवलीके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत कालका प्रमाण है ।

समओ हु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि ।
भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥ ५७८ ॥

समयो हि वर्तमानो जीवात् सर्वपुद्गलादपि ।
भावी अनंतगुणित इति व्यवहारो भवेत्कालः ॥ ५७८ ॥

अर्थ—वर्तमान कालका प्रमाण एक समय है। सम्पूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गलद्रव्यराशिसे अनंतगुणा भविष्यत् कालका प्रमाण है। इस प्रकार व्यवहार कालके तीन भेद होते हैं।

कालोविय ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिचो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई॥ ५७९॥

कालोऽपि च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः।
उत्पन्नप्रध्वंसी अपरो दीर्घान्तरस्थायी॥ ५७९॥

अर्थ—काल यह व्यपदेश (संज्ञा) मुख्यकालका बोधक है; क्योंकि विना मुख्यके गौण अथवा व्यवहारकी भी प्रवृत्ति नहीं होसकती। यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है। तथा व्यवहारकाल वर्तनकी अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत भविष्यत्की अपेक्षा दीर्घन्तरस्थायी है।

क्रमप्राप्त स्थिति अधिकारका वर्णन करते हैं।

छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकालअत्थपज्जाये।
वेंजणपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदित्तादो॥ ५८०॥

षड्द्रव्यावस्थानं सदृशं त्रिकालार्थपर्याये।
व्यंजनपर्याये वा मिलिते तेषां स्थितित्वात्॥ ५८०॥

अर्थ—अवस्थान=स्थिति छहों द्रव्योंकी समान है। क्योंकि त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय वा व्यंजनपर्यायके मिलनेसे ही उनकी स्थिति होती है। **भावार्थ**—छहों द्रव्य अनादिनिधन हैं; क्योंकि कथंचित् द्रव्य पर्यायोंसे भिन्न कुछभी चीज नहीं है। और इन पर्यायोंके दो भेद हैं एक व्यंजनपर्याय दूसरी अर्थपर्याय। वाग्गोचर-वचनके विषयभूत स्थूलपर्यायको व्यंजनपर्याय कहते हैं, और वचनके अगोचर सूक्ष्म पर्यायोंको अर्थपर्याय कहते हैं। ये दोनोंही पर्याय पर्यायत्वकी अपेक्षा त्रिकालवर्ती अर्थात् अनादिनिधन हैं।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं।

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं॥ ५८१॥

एकद्रव्ये ये अर्थपर्याया व्यञ्जनपर्यायाश्चापि।
अतीतानागतभूताः तवत्तत् भवति द्रव्यम्॥ ५८१॥

अर्थ—एक द्रव्यमें जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय या व्यंजनपर्याय हैं उतना ही द्रव्य है। **भावार्थ**—त्रिकाल सम्बन्धी संस्थानस्वरूप (आकाररूप) प्रदेशवत्त्वगुणकी पर्याय—व्यंजनपर्याय, तथा प्रदेशवत्त्वगुणको छोड़कर शेषगुणोंकी त्रिकालसम्बन्धी

समस्तपर्याय (अर्थपर्याय) इनका जो समूह है वही द्रव्य है। त्रिकालवर्ती पर्यायोंको छोड़कर द्रव्य कोई चीज नहीं है।

इस प्रकार स्थिति अधिकारका वर्णन करके क्रमके अनुसार क्षेत्र अधिकारका वर्णन करते हैं।

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा॥ ५८२॥

आकाशं वर्जयित्वा सर्वाणि लोके चैव न सन्ति बहिः।
व्यापिनौ धर्माधर्मौ अवस्थितावचलितौ नित्यौ॥ ५८२॥

अर्थ—आकाशको छोड़कर शेष समस्तद्रव्य लोकमें ही हैं–बाहर नहीं हैं। तथा धर्म और अधर्मद्रव्य व्यापक हैं, अवस्थित हैं, अचलित हैं, और नित्य हैं। **भावार्थ**—आकाशद्रव्यके दो भेद हैं, एक लोक दूसरा अलोक। जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल पाया जाय उतने आकाशको लोक कहते हैं। इसके बाहर जितना अनन्त आकाशद्रव्य है उसको अलोक कहते हैं। धर्म अधर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोकमें तिलमें तैलकी तरह व्याप्त हैं। तथा ये दोनों ही द्रव्य आकाशके जिन प्रदेशोंमें स्थित हैं उनही प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं। जीवादिकी तरह एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें गमन नहीं करते। और अपने स्थानपर रहते हुए भी इनके प्रदेश जलकल्लोलकी तरह सकम्प नहीं होते हैं। और न ये दोनों द्रव्य कभी अपने स्वरूपसे च्युत होते हैं। अर्थात् न तो इनमें विभाव पर्याय होती है और न इनका कभी सर्वथा अभाव ही होता है।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो॥ ५८३॥

लोकस्यासंख्येयादिभागप्रभृतिस्तु सर्वलोक इति।
आत्मप्रदेशविसर्पणसंहारे व्यापृतो जीवः॥ ५८३॥

अर्थ—एक जीव अपने प्रदेशोंके संहारविसर्पकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतकमें व्याप्त होकर रहता है। **भावार्थ**—आत्मामें प्रदेशसंहारविसर्पत्व गुण है। इसके निमित्तसे उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं। इसलिये एक जीवका क्षेत्र शरीरप्रमाणकी अपेक्षा अङ्गुलके असंख्यातमे भागसे लेकर हजार योजन तकका होता है। इसके आगे समुद्घातकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भाग, संख्यातमे भाग, तथा सम्पूर्ण लोकप्रमाण भी होता है।

पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि॥ ५८४॥

पुद्गलद्रव्याणां पुनरेकप्रदेशादयो भवन्ति भजनीयाः।
एकैकस्तु प्रदेशः कालाणूनां ध्रुवो भवति ॥ ५८४ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यका क्षेत्र एकप्रदेशसे लेकर यथासम्भव समझना चाहिये—जैसे परमाणुका एक प्रदेशप्रमाण ही क्षेत्र है, तथा द्व्यणुकका एक प्रदेश और दो प्रदेश भी क्षेत्र है, त्र्यणुकका एक प्रदेश दो प्रदेश तीन प्रदेश क्षेत्र है इत्यादि। किन्तु एक २ कालाणुका क्षेत्र एक २ प्रदेश ही निश्चित है। **भावार्थ**—कालद्रव्य अणुरुप ही है। कालाणुके पुद्गलद्रव्यकी तरह स्कन्ध नहीं होते। जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतनी ही कालाणु हैं। इस लिये रत्नराशिकी तरह एक २ कालाणु लोकाकाशके एक २ प्रदेशपर ही सदा स्थित रहती है। तथा जो कालाणु जिस प्रदेशपर स्थित है वह उसी प्रदेशपर सदा स्थित रहती है। किन्तु पुद्गल द्रव्यके स्कंध होते हैं अतः उसके अनेक प्रकारके क्षेत्र होते हैं।

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥ ५८५ ॥

संख्येयासंख्येयानन्ता वा भवन्ति पुद्गलप्रदेशाः।
लोकाकाश एव स्थितिरेकप्रदेशोऽणोर्भवेत् ॥ ५८५ ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध संख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके होते हैं; परन्तु उन सबकी स्थिति लोकाकाशमें ही होजाती है; किन्तु अणु एक ही प्रदेशमें रहता है। **भावार्थ**—जिस तरह जलसे अच्छीतरह भरे हुए पात्रमें लवण आदि कई पदार्थ आसकते हैं उसी तरह असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनंतप्रदेशी स्कन्ध आदि समा सकते हैं।

लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जियं होदि ॥ ५८६ ॥

लोकाकाशप्रदेशाः षड्द्रव्यैः स्फुटाः सदा भवन्ति।
सर्वमलोकाकाशमन्यैर्विवर्जितं भवति ॥ ५८६ ॥

अर्थ—लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें छहों द्रव्य व्याप्त हैं। और अलोकाकाश आकाशको छोड़कर शेषद्रव्योंसे सर्वथा रहित है।

इस तरह क्षेत्र अधिकारका वर्णन करके संख्या अधिकारको कहते हैं।

जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु।
धम्मतियं एक्केक्कं लोगपदेसप्पमा कालो ॥ ५८७ ॥

जीवा अनन्तसंख्या अनन्तगुणाः पुद्गला हि ततस्तु।
धर्मत्रिकमेकैकं लोकप्रदेशप्रमः कालः ॥ ५८७ ॥

अर्थ—जीव द्रव्य अनन्त हैं । उनसे अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं । धर्म अधर्म आकाश ये एक २ द्रव्य हैं । तथा लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं ।

लोगागासपदेसे एक्केक्के जेट्ठिया हु एक्केका ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयवा ॥ ५८८ ॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैके ये स्थिता हि एकैकाः ।
रत्नानां राशिरिव ते कालाणवो मन्तव्याः ॥ ५८८ ॥

अर्थ—वे कालाणु रत्नराशिकी तरह लोकाकाशके एक २ प्रदेशमें एक २ स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिये । **भावार्थ**—जिसतरह रत्नोंकी राशि भिन्न २ स्थित रहती है उसी तरह प्रत्येक कालाणु लोकाकाशके एक २ प्रदेशपर भिन्न २ स्थित है । इसी लिये जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं ।

ववहारो पुण कालो पोग्गलदवादणंतगुणमेत्तो ।
तत्तो अणंतगुणिदा आगासपदेसपरिसंखा ॥ ५८९ ॥

व्यवहारः पुनः कालः पुद्गलद्रव्यादनन्तगुणमात्रः ।
ततः अनन्तगुणिता आकाशप्रदेशपरिसंख्या ॥ ५८९ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके प्रमाणसे अनन्तगुणा व्यवहारकालका प्रमाण है । तथा व्यवहार कालके प्रमाणसे अनन्तगुणी आकाशके प्रदेशोंकी संख्या है ।

लोगागासपदेसा धम्माधम्मेगजीवगपदेसा ।
सरिसा हु पदेसो पुण परमाणुअवट्ठिदं खेत्तं ॥ ५९० ॥

लोकाकाशप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवगप्रदेशाः ।
सदृशा हि प्रदेशः पुनः परमाण्ववस्थितं क्षेत्रम् ॥ ५९० ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, एक जीवद्रव्य, तथा लोकाकाश, इनकी प्रदेशसंख्या परस्परमें समान है । जितने क्षेत्रको एक पुद्गलका परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रको प्रदेश कहते हैं ।

स्थानस्वरूपाधिकारका वर्णन करते हैं ।

सवमरूवी दवं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि ।
रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥ ५९१ ॥

सर्वमरूपि द्रव्यमवस्थितमचलिताः प्रदेशा अपि ।
रूपिणो जीवाश्चलितास्त्रिविकल्पा भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ५९१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अरूपी द्रव्य जहां स्थित हैं वहां ही सदा स्थित रहते हैं, तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते । किन्तु रूपी (संसारी) जीवद्रव्य चल हैं, तथा इनके प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं । **भावार्थ**—धर्म अधर्म आकाश काल और मुक्त जीव ये

अपने स्थानसे कभी चलायमान नहीं होते तथा एक स्थान पर ही रहते हुए भी इनके प्रदेश कभी सकम्प नहीं होते । किन्तु संसारी जीवोंके प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं । चल भी होते हैं, अचल भी होते हैं, तथा चलाचल भी होते हैं । विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रदेश चल ही होते हैं । अयोगकेवलियोंके प्रदेश अचल ही होते हैं । और शेष जीवोंके प्रदेश चलाचल होते हैं ।

पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा हु ।
चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥ ५९२ ॥

पुद्गलद्रव्येऽणवः संख्यातादयो भवंति चलिता हि ।
चरममहास्कन्धे च चलाचला भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यमें परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कन्ध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अन्तिम महास्कन्ध चलाचल है; क्योंकि उसमें कोई परमाणु चल हैं और कोई परमाणु अचल हैं ।

परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलद्रव्यके तेईस भेदोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं ।

अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहिं अंतरिया ।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा ॥ ५९३ ॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा ।
बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा ॥ ५९४ ॥

अणुसंख्यासंख्यातानन्ताश्च अग्राह्यकाभिरन्तरिताः ।
आहारतेजोभाषामनःकार्मणा ध्रुवस्कन्धाः ॥ ५९३ ॥
सान्तरनिरन्तरया च शून्या प्रत्येकदेहध्रुवशून्याः ।
बादरनिगोदशून्याः सूक्ष्मनिगोदा नभो महास्कन्धाः ॥ ५९४ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद हैं । अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा ।

इन वर्गणाओंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद तथा इनका अल्पबहुत्व बताते हैं ।

परमाणुवग्गणम्मि ण अवरुक्कस्सं च सेसगे अत्थि ।
गेज्झमहक्खंधाणं वरमहियं सेसगं गुणियं ॥ ५९५ ॥

परमाणुवर्गणायां नावरोत्कृष्टं च शेषके अस्ति ।
ग्राह्यमहास्कन्धानां वरमधिकं शेषकं गुणितम् ॥ ५९५ ॥

अर्थ—तेईस प्रकारकी वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणामें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं हैं । शेष वाईस जातिकी वर्गणाओंमें जघन्य उत्कृष्ट भेद हैं । तथा इन वाईस जातिकी वर्गणाओंमें भी आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ये पांच ग्राह्य वर्गणा और एक महास्कन्ध वर्गणा इन छह वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद प्रतिभागकी अपेक्षासे हैं । किन्तु शेष सोलह जातिकी वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद गुणाकारकी अपेक्षासे हैं ।

पांच ग्राह्यवर्गणाओंका तथा अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये प्रतिभागका प्रमाण बताते हैं ।

सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठट्ठं ।
पल्लासंखेज्जदियं अंतिमखंधस्स जेट्ठट्ठं ॥ ५९६ ॥

सिद्धानन्तिमभागः प्रतिभागो ग्राह्याणां ज्येष्ठार्थम् ।
पल्यासंख्येयमन्तिमस्कन्धस्य ज्येष्ठार्थम् ॥ ५९६ ॥

अर्थ—पांच ग्राह्यवर्गणाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेकेलिये प्रतिभागका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमे भाग है । और अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेकेलिये प्रतिभागका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भाग है । **भावार्थ**—सिद्धराशिके अनंतमे भागका अपने २ जघन्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अपने २ जघन्यमें मिलानेसे पांच ग्राह्य वर्गणाओंके अपने २ उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है । और अन्तिम महास्कन्धके जघन्य भेदमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको जघन्यके प्रमाणमें मिलानेसे महास्कन्धके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है ।

संखेज्जासंखेज्जे गुणगारो सो दु होदि हु अणंते ।
चत्तारि अगेज्जेसु वि सिद्धाणमणंतिमो भागो ॥ ५९७ ॥

संख्यातासंख्यातायां गुणकारः स तु भवति हि अनन्तायाम् ।
चतसृषु अग्राह्यास्वपि सिद्धानामनन्तिमो भागः ॥ ५९७ ॥

अर्थ—संख्याताणुवर्गणा और असंख्याताणुवर्गणामें गुणकारका प्रमाण अपने २ उत्कृष्टमें अपने २ जघन्यका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है । इस गुणकारके साथ अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपना २ उत्कृष्ट भेद निकलता है । और अनन्ताणुवर्गणा तथा चार अग्राह्यवर्गणाओंके गुणकारका प्रमाण सिद्धराशिके अनंतमे भागमात्र है । इस गुणकारके साथ अपने जघन्यका गुणा करनेसे अपना २ उत्कृष्ट भेद निकलता है ।

जीवादोणंतगुणो धुवादितिण्हं असंखभागो दु ।
पल्लस्स तदो तत्तो असंखलोगवहिदो मिच्छो ॥ ५९८ ॥

जीवादनन्तगुणो ध्रुवादितिसृणामसंख्यभागस्तु ।
पल्यस्य ततस्ततः असंख्यलोकावहिता मिथ्या ॥ ५९८ ॥

अर्थ—ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, इन तीन वर्गणाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेकेलिये गुणकारका प्रमाण जीवराशिसे अनन्तगुणा है । तथा प्रत्येकशरीर वर्गणाका गुणकार पल्यके असंख्यातमे भाग है । और ध्रुवशून्यवर्गणाका गुणकार, मिथ्यादृष्टि जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है । इस गुणकारके साथ जघन्य भेदका गुणा करनेसे उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है ।

सेढी सूई पल्ला जगपदरा संखभागगुणगारा ।
अप्पप्पणअवरादो उक्कस्से होंति णियमेण ॥ ५९९ ॥

श्रेणी सूची पल्यजगत्प्रतरासंख्यभागगुणकाराः ।
आत्मात्मनोवरादुत्कृष्टे भवन्ति नियमेन ॥ ५९९ ॥

अर्थ—बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा इन चार वर्गणाओंके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकालनेके लिये गुणकारका प्रमाण क्रमसे जगच्छ्रेणीका असंख्यातमा भाग, सूच्यंगुलका असंख्यातमा भाग, पल्यका असंख्यातमा भाग, जगत्प्रतरका असंख्यातमा भाग है । अपने २ गुणकारके प्रमाणसे अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपने २ उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है । **भावार्थ**—यहां पर पुद्गलद्रव्यकी तेईस वर्गणाओंका एकपङ्क्तिकी अपेक्षा वर्णन किया है । जिनको नानापङ्क्तिकी अपेक्षा इन वर्गणाओंका स्वरूप जानना हो वे बड़ी टीकामें देख लें । किसी भी वर्तमान एक कालमें उक्त तेईस वर्गणाओंमेंसे कौन २ सी वर्गणा कितनी २ पाई जाती हैं, इस अपेक्षाको लेकर जो वर्णन किया जाता है उसको नाना पङ्क्तिकी अपेक्षा वर्णन कहते हैं ।

हेट्ठिमउक्कस्सं पुण रूवहियं उवरिमं जहण्णं खु ।
इदि तेवीसवियप्पा पुग्गलदव्वा हु जिणदिट्ठा ॥ ६०० ॥

अधस्तनोत्कृष्टं पुनः रूपाधिकमुपरिमं जघन्यं खलु ।
इति त्रयोविंशतिविकल्पानि पुद्गलद्रव्याणि हि जिनदिष्टानि ॥ ६०० ॥

अर्थ—तेईस वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणाको छोड़कर शेष बाईस वर्गणाओंमें नीचेकी वर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे आगे की वर्गणाके जघन्य भेदका प्रमाण होता है । जैसे संख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे असंख्याताणुवर्गणाका जघन्य भेद होता है । और असंख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट

भेदमें एक मिलानेसे अनन्ताणुवर्गणाका जघन्य भेद होता है। इसी तरह आगे भी समझना। इसी क्रमसे पुद्गलद्रव्यके बाईस भेद होते हैं; किन्तु एक अणुवर्गणाको मिलानेसे पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद होते हैं यह जिनेन्द्रदेवने कहा है।

प्रकारान्तरसे होनेवाले पुद्गलद्रव्यके छह भेदोंके दृष्टान्त दिखाते हैं।

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥ ६०१ ॥

पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मपरमाणवः ।
षड्विधभेदं भणितं पुद्गलद्रव्यं जिनवरैः ॥ ६०१ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यको जिनेन्द्र देवने छह प्रकारका बताया है। जैसे १ पृथ्वी २ जल ३ ४ छाया, नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंका विषय, ५ कर्म, ६ परमाणु।

इन छह भेदोंकी क्या २ संज्ञा है यह बताते हैं।

बादरबादर बादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च ।
सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं ॥ ६०२ ॥

बादरबादरं बादरं बादरसूक्ष्मं च सूक्ष्मस्थूलं च ।
सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मं धरादिकं भवति षड्भेदम् ॥ ६०२ ॥

अर्थ—बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म, इस तरह पुद्गलद्रव्यके छह भेद हैं, जैसे उक्त पृथ्वी आदि। **भावार्थ**—जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादरबादर कहते हैं, जैसे पृथ्वी काष्ठ पाषाण आदि। जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादर कहते हैं जैसे जल तैल आदि। जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण कुछ भी न हो सके ऐसे नेत्रसे देखने योग्य स्कन्धको बादरसूक्ष्म कहते हैं। जैसे छाया, आतप, चांदनी आदि। नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषयभूत पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे शब्द गन्ध रस आदि। जिसका किसी इन्द्रियके द्वारा ग्रहण न हो सके उस पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्म कहते हैं जैसे कर्म। जो स्कन्धरूप नहीं हैं ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओंको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं।

खधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥ ६०३ ॥

स्कन्धं सकलसमर्थं तस्य चार्धं भणन्ति देशमिति ।
अर्द्धार्द्धं च प्रदेशमविभागिनं चैव परमाणुम् ॥ ६०३ ॥

अर्थ—जो सर्वांशमें पूर्ण है उसको स्कन्ध कहते हैं। उसके आधेको देश और आधेके आधेको प्रदेश कहते हैं। जो अविभागी है उसको परमाणु कहते हैं।

॥ इति स्थानस्वरूपाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त फलाधिकारको कहते हैं।

गदिठाणोग्गहकिरियासाधणभूदं खु होदि धम्मतियं।
वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु ॥ ६०४ ॥

गतिस्थानावगाहक्रियासाधनभूतं खलु भवति धर्मत्रयम्।
वर्तनाक्रियासाधनभूतो नियमेन कालस्तु ॥ ६०४ ॥

अर्थ—गति, स्थिति, अवगाह, इन क्रियाओंके साधन क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश-द्रव्य हैं। और वर्तना क्रियाका साधन काल द्रव्य है। **भावार्थ**—क्षेत्रसे क्षेत्रान्तकी प्राप्तिकी कारणभूत जीव पुद्गलकी पर्यायविशेषको गति कहते हैं। इस गतिक्रियाका साधन (उदासीन निमित्त) धर्मद्रव्य है। जैसे जलमें मच्छियोंकी गतिक्रिया जलके निमित्तसे होती है। गतिविरुद्ध पर्यायको स्थिति कहते हैं। यह पर्याय जीव पुद्गलकी होती है। तथा यह स्थितिक्रिया अधर्मद्रव्यके निमित्तसे ही होती है। कहीं पर भी रहनेको अवगाह कहते हैं। यह अवगाहक्रिया आकाशद्रव्यके निमित्तसे ही होती है। तथा प्रत्येक पदार्थकी वर्तना क्रिया कालद्रव्यके निमित्तसे होती है। (शङ्का) सूक्ष्म पुद्गलादिक भी एक दूसरेको अवकाश देते हैं इसलिये अवगाहहेतुत्व आकाशका ही असाधारण लक्षण क्यों कहा? (समाधान) यद्यपि सूक्ष्म पुद्गलादिक एक दूसरेको अवगाह देते हैं तथापि ये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह नहीं दे सकते। समस्त द्रव्योंको अवगाह देनेकी सामर्थ्य आकाशमें ही है। इसलिये आकाशकाही अवगाहहेतुत्व यह असाधारण लक्षण युक्त है। यद्यपि अलोकाकाश किसी द्रव्यको अवगाह नहीं देता, तथापि उसका अवगाह देनेका स्वभाव वहां पर भी है। किन्तु धर्मद्रव्यका निमित्त न मिलनेसे जीवादि अवगाह्य पदार्थ अलोकाकाशमें गमन नहीं करते इसलिये अलोकाकाश किसीको अवगाह नहीं देता।

जीव और पुद्गलका उपकार (फल) बताते हैं।

अण्णोण्णुवयारेण य जीवा वट्टंति पुग्गलाणि पुणो।
देहादीणिवत्तणकारणभूदा हु णियमेण ॥ ६०५ ॥

अन्योन्योपकारेण च जीवा वर्तन्ते पुद्गलाः पुनः।
देहादिनिर्वर्तनकारणभूता हि नियमेन ॥ ६०५ ॥

अर्थ—जीव परस्परमें उपकार करते हैं। जैसे सेवक स्वामीकी हितसिद्धिमें प्रवृत्त होता है, और स्वामी सेवकको धनादि देकर संतुष्ट करता है। तथा पुद्गल शरीरादि उत्पन्न

करनेमें कारण है । भावार्थ—शरीर इन्द्रिय मन श्वासोच्छ्वास आदिके द्वारा पुद्गलद्रव्य जीवका उपकार करता है । तथा पुद्गलद्रव्य जीवका उपकार करता है यही नहीं किन्तु परस्परमें भी उपकार करता है । जैसे शास्त्रका उपकार गत्ता वेष्टन करते हैं । यहां पर चकारका ग्रहण किया है इसलिये जिस तरह परस्परमें या एक दूसरेको जीव पुद्गल उपकार करते हैं उस ही तरह अपकार भी करते हैं ।

इसी अर्थको दो गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं ।

आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो ।
णिस्सासोवि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं ॥ ६०६ ॥

आहारवर्गणातः त्रीणि शरीराणि भवन्ति उच्छ्वासः ।
निश्वासोपि च तेजोवर्गणास्कन्धात्तुतेजोऽङ्गम् ॥ ६०६ ॥

अर्थ—तेईस जातिकी वर्गणाओंमेंसे आहारवर्गणाके द्वारा औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं । तथा तेजोवर्गणारूप स्कन्धके द्वारा तैजस शरीर बनता है ।

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो ।
अट्ठविहकम्मदव्वं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६०७ ॥

भाषामनोवर्गणातः क्रमेण भाषा मनश्च कार्मणतः ।
अष्टविधकर्मद्रव्यं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ—भाषावर्गणाके द्वारा चार प्रकारका वचन, मनोवर्गणाके द्वारा हृदयस्थानमें अष्ट दल कमलके आकार द्रव्यमन, तथा कार्मण वर्गणाके द्वारा आठप्रकारके कर्म बनते हैं । ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

अविभागी पुद्गल परमाणु स्कन्धरूपमें किस तरह परिणत होती हैं, इसका कारण बताते हैं ।

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतविहा णिद्धलुक्खगुणा ॥ ६०८ ॥

स्निग्धत्वं रूक्षत्वं बन्धस्य च कारणं तु एकादयः ।
संख्येयासंख्येयानन्तविधा स्निग्धरूक्षगुणाः ॥ ६०८ ॥

अर्थ—बन्धका कारण स्निग्धत्व या रूक्षत्व है । इस स्निधित्व या रूक्षत्व गुणके एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं । भावार्थ—एक किसी गुणविशेषकी स्निग्धत्व और रूक्षत्व ये दो पर्याय हैं । ये ही बन्धकी कारण हैं । इन पर्यायोंके अविभागप्रतिच्छेदोंकी (शक्तिके निरंश अंश) अपेक्षा एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत भेद हैं ।

जैसे स्निग्ध पर्यायके एक अंश दो अंश तीन अंश इत्यादि एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंश होते हैं और इन्हीकी अपेक्षा एकसे लेकर अनंततक भेद होते हैं। उस ही तरह रूक्षत्व पर्यायके भी एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंशोंकी अपेक्षा एकसे लेकर अनंत तक भेद होते हैं। अथवा, बन्ध कमसे कम दो परमाणुओंमें होता है। सो ये दोनों परमाणु स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों या एक स्निग्ध एक रूक्ष हो परन्तु बंध हो सकता है। जिस तरह दो परमाणुओंमें बन्ध होता है उस ही तरह संख्यात असंख्यात अनंत परमाणुओंमें भी बन्ध होता है; क्योंकि बन्धका कारण स्निग्धरूक्षत्व है।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं।

एगगुणं तु जहण्णं णिद्धत्तं विगुणतिगुणसंखेज्जाऽ- ।
संखेज्जाणंतगुणं होदि तहा रुक्खभावं च ॥ ६०९ ॥

एकगुणं तु जघन्यं स्निग्धत्वं द्विगुणत्रिगुणसंख्येयाऽ– ।
संख्येयानन्तगुणं भवति तथा रूक्षभावं च ॥ ६०९ ॥

अर्थ—स्निग्धत्वका जो एक निरंश अंश है उसको ही जघन्य कहते हैं। इसके आगे स्निग्धत्वके दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं। इस ही तरह रूक्षत्वके भी एक अंशको जघन्य कहते हैं। और इसके आगे दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं।

एवं गुणसंजुत्ता परमाणू आदिवग्गणम्मि ठिया ।
जोग्गदुगाणं बंधे दोण्हं बंधो हवे णियमा ॥६१०॥

एवं गुणसंयुक्ताः परमाणव आदिवर्गणायां स्थिताः ।
योग्यद्विकयोः बंधे द्वयोर्बन्धो भवेन्नियमात् ॥ ६१० ॥

अर्थ—इस प्रकार स्निग्ध या रूक्ष गुणसे युक्त परमाणु अणुवर्गणामें ही हैं। इसके आगे दो आदि परमाणुओंका बन्ध होता है, परन्तु यह दोका बन्ध भी तब ही होता है जब कि दोनों नियमसे बन्धके योग्य हों।

जब कि सामान्यसे बन्धका कारण स्निग्धरूक्षत्व बतादिया तब उसमें योग्यता और अयोग्यता क्या है ? यह बताते हैं।

णिद्धणिद्धा ण बज्झंति रुक्खरुक्खा य पोग्गला ।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥ ६११ ॥

स्निग्धस्निग्धा न बध्यन्ते रूक्षरूक्षाश्च पुद्गलाः ।
स्निग्धरूक्षाश्च बध्यन्ते रूप्यरूपिणश्च पुद्गलाः ॥ ६११ ॥

अर्थ—स्निग्ध स्निग्ध पुद्गलका और रूक्ष रूक्ष पुद्गलका परस्परमें बन्ध नहीं होता।

किन्तु स्निग्ध रूक्ष और रूपी अरूपी पुद्गलोंका परस्परमें बन्ध होता है । **भावार्थ**—यद्यपि यहां पर यह कहा है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका बन्ध नहीं होता तथापि यह कथन सामान्य है; क्योंकि आगे चलकर विशेष कथनके द्वारा स्वयं ग्रन्थकार इस बातको स्पष्ट कर देंगे कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है । और इस ही लिये यहांपर रूपी अरूपीका बन्ध होता है ऐसा कहा है ।

रूपी अरूपी संज्ञा किसकी है यह बताते हैं ।

णिद्धिदरोलीमज्झे विसरिसजादिस्स समगुणं एक्कं ।
रूविति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवित्ति ॥६१२॥

स्निग्धेतरावलीमध्ये विसदृशजातेः समगुण एकः ।
रूपीति भवति संज्ञा शेषाणां ते अरूपिण इति ॥ ६१२ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणिमें जो विसदृश जातिका एक समगुण है उसकी रूपी संज्ञा है । और समगुणको छोड़कर अवशिष्ट सबकी अरूपी संज्ञा है । **भावार्थ**—जब कि विसदृश जातिके एक समगुणकी ही रूपी संज्ञा है और शेषकी अरूपी, और रूपी अरूपीका बन्ध होता है, तब यह सिद्ध है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है । स्निग्धकी अपेक्षा रूक्ष और रूक्षकी अपेक्षा स्निग्ध विसदृश होता है ।

रूपी अरूपीका उदाहरण दिखाते हैं ।

दोगुणणिद्धाणुस्स य दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी ।
इगितिगुणादि अरूवी रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे ॥ ६१३ ॥

द्विगुणस्निग्धाणोश्च द्विगुणरूक्षाणुको भवेत् रूपी ।
एकत्रिगुणादिः अरूपी रूक्षस्यापि तद्व इति जानीहि ॥ ६१३ ॥

अर्थ—स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दोगुण युक्त परमाणु रूपी है शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं । इस ही तरह रूक्षका भी समझना चाहिये । **भावार्थ**—रूक्षके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा स्निग्धका दो गुणोंसे युक्त परमाणु रूपी है और शेष एक तीन आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं ।

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥६१४॥

स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्यधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण द्व्यधिकेन ।
स्निग्धस्य रूक्षेण भवेद्बन्धो जघन्यवर्ज्ये विषमे समे वा ॥ ६१४ ॥

अर्थ—एक स्निग्ध परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध

होता है। एक रूक्ष परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध होता है। एक स्निग्ध परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक रूक्ष परमाणुके साथ भी बन्ध होता है। सम विषम दोनोंका बन्ध होता है; किन्तु जघन्यगुणवालेका बन्ध नहीं होता। **भावार्थ**—एक गुणवालेका तीनगुणवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। शेष स्निग्ध या रूक्ष दोनों जातिके परमाणुओंका समधारा या विषमधारामें दो गुण अधिक होनेपर बन्ध होता है। दो चार छह आठ दश इत्यादि जहां पर दोके ऊपर दो दो अंशोंकी अधिकता हो उसको समधारा कहते हैं। तीन पांच सात नौ ग्यारह इत्यादि जहां पर तीनके ऊपर दो दो अंशोंकी वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं। इन दोनों धाराओंमें जघन्य गुणको छोड़कर दो गुण अधिकका ही बन्ध होता है औरका नहीं।

णिद्धिदरे समविसमा दोत्तिगआदी दुउत्तरा होंति।
उभयेवि य समविसमा सरिसिदरा होंति पत्तेयं॥ ६१५॥

स्निग्धेतरयोः समविषमा द्वित्रिकादयः द्व्युत्तरा भवन्ति।
उभयेऽपि च समविषमाः सदृशेतरे भवन्ति प्रत्येकम्॥ ६१५॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्ष दोनोंमेंही दोगुणके ऊपर जहां दो २ की वृद्धि हो वहां समधारा होती है। और जहां तीन गुणके ऊपर दो २ की वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं। सो स्निग्ध और रूक्ष दोनोंमेंही दोनों ही धारा होती हैं। तथा प्रत्येक धारामें रूपी और अरूपी होते हैं।

इस ही अर्थको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं।

दोत्तिगपभवदुउत्तरगदेसणंतरदुगाण बंधो दु।
णिद्धे लुक्खे वि तहावि जहण्णुभयेवि सव्वत्थ॥ ६१६॥

द्वित्रिकप्रभवद्व्युत्तरगतेष्वनन्तरद्विकयोः बन्धस्तु।
स्निग्धे रूक्षे पि तथापि जघन्योभयेऽपि सर्वत्र॥ ६१६॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्ष गुणमें समधारामें दो अंशोंके आगे दो दो अंशोंकी वृद्धि होती है। और विषमधारामें तीनके आगे दो २ की वृद्धि होती है। सो इन दोनोंमें ही अनन्तरद्विकका बन्ध होता है। जैसे दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्षका चारगुणवाले स्निग्ध या रूक्षके साथ तथा तीनगुणवाले स्निग्ध या रूक्षका पांच गुणवाले स्निग्ध या रूक्षके साथ बन्ध होता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। किन्तु जघन्यका बन्ध नहीं होता। दूसरी सब जगह स्निग्ध और रूक्षमें बंध होता है। **भावार्थ**—स्निग्ध या रूक्ष गुणसे युक्त जिन दो पुद्गलोंमें बंध होता है उनके स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंमें दो अंशोंका अंतर होना चाहिये। जैसे दो चार, तीन पांच, चार छह, पांच सात इत्यादि। इस तरह दो अंश अधिक

रहनेपर सर्वत्र बंध होता है । इस नियमके अनुसार एकगुणवाले और तीनगुणवालेका भी बंध होना चाहिये किन्तु सो नहीं होता; क्योंकि यह नियम है कि जघन्य गुणवालेका बंध नहीं होता । अतएव एक गुणवालेका तीन गुणवालेके साथ बंध नहीं होता; किन्तु तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ बंध हो सकता है; क्योंकि तीन गुणवाला जघन्यगुणवाला नहीं है, एकगुणवालेको ही जघन्य गुणवाला कहते हैं ।

णिद्धिदरवरगुणाणू सपरट्ठाणेवि णेदि बंधट्ठं ।
बहिरंतरंगहेदुहि गुणंतरं संगदे एदि ॥ ६१७ ॥

स्निग्धेतरावरगुणाणुः स्वपरस्थानेऽपि नैति बन्धार्थम् ।
बहिरंतरङ्गहेतुभिर्गुणान्तरं संगते एति ॥ ६१७ ॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्षका जघन्य गुणवाला परमाणु स्वस्थान या परस्थान कहीं भी बन्धको प्राप्त नहीं होता । किन्तु बाह्य और अन्तरङ्ग कारणके निमित्तसे किसी दूसरे गुणवाला—अंशवाला होने पर बन्धको प्राप्त होते हैं । **भावार्थ**—स्निग्ध या रूक्ष गुणका जब एक अंश—अविभागप्रतिच्छेद—रूप परिणमन होता है तब उसका न स्वस्थानमें बंध होता है और न परस्थानमें बंध होता है । किन्तु बाह्य अभ्यन्तर कारणके निमित्तसे जब जघन्य स्थानको छोड़कर अधिक अंशरूप परिणमन होजाय तब वे ही स्निग्ध रूक्ष गुण बंधको प्राप्त हो सकते हैं ।

णिद्धिदरगुणा अहिया हीणं परिणामयंति बंधम्मि ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं ॥ ६१८ ॥

स्निग्धेतरगुणा अधिका हीनं परिणामयंति बन्धे ।
संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानाम् ॥ ६१८ ॥

अर्थ—संख्यात असंख्यात अनंतप्रदेवाले स्कन्धोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कन्ध अपने से हीनगुणवाले परमाणु या स्कन्धोंको अपनेरूप परणमाते हैं । जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणु या स्कन्धको एक हजार दो अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कन्ध परणमाता है । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

॥ इति फलाधिकारः ॥

इस तरह सात अधिकारोंके द्वारा छह द्रव्योंका वर्णन करके अब पंचास्तिकायका वर्णन करते हैं ।

दव्वं छक्कमकालं पंचत्थीकायसण्णिदं होदि ।
काले पदेसपचयो जम्हा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६१९ ॥

द्रव्यं षट्कमकालं पञ्चास्तिकायसंज्ञितं भवति ।
काले प्रदेशप्रचयो यस्मात् नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६१९ ॥

अर्थ—कालमें प्रदेशप्रचय नहीं है इसलिये कालको छोड़कर शेष द्रव्योंको ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं । **भावार्थ**—जो सद्रूप हो उसको अस्ति कहते हैं। और जिनके प्रदेश अनेक हो उनको काय कहते हैं । काय दो प्रकारके होते हैं, एक मुख्य दूसरा उपचरित। जो अखण्डप्रदेशी हैं उन द्रव्योंको मुख्य काय कहते हैं । जैसे जीव धर्म अधर्म आकाश । जिसके प्रदेश तो खण्डित हों; किन्तु स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे परस्परमें बन्ध होकर जिनमें एकत्व होगया हो, अथवा बन्ध होकर एकत्व होनेकी जिसमें सम्भावना हो उसको उपचरित काय कहते हैं, जैसे पुद्गल । किन्तु कालद्रव्य स्वयं अनेकप्रदेशी न होनेसे मुख्य काय भी नहीं है । और स्निग्ध रूक्ष गुण न होनेसे बंध होकर एकत्वकी भी उसमें सम्भावना नहीं है, इसलिये वह (काल) उपचरित काय भी नहीं है । अतः कालद्रव्यको छोड़कर शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश इन पांच द्रव्योंको ही पंचास्तिकाय कहते हैं । और कालद्रव्यको कायरूप नहीं किन्तु अस्तिरूप कहते हैं ।

नव पदार्थोंको बताते हैं

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं ।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतित्ति ॥ ६२० ॥

नव च पदार्था जीवाजीवाः तेषां च पुण्यपापद्विकम् ।
आस्रवसंवरनिर्जराबन्धा मोक्षश्च भवन्तीति ॥ ६२० ॥

अर्थ—मूलमें जीव और अजीव ये दो पदार्थ हैं । इन हीके सम्बन्धसे पुण्य और पाप ये दो पदार्थ होते हैं । इसलिये चारपदार्थ हुए । तथा पुण्यपापके आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष ये पांच पदार्थ होते हैं । इसलिये सब मिलाकर नव पदार्थ होते हैं । **भावार्थ**—जिसमें ज्ञानदर्शनरूप चेतना पाई जाय उसको जीव कहते हैं । जिसमें चेतना न हो उसको अजीव कहते हैं । शुभ कर्मोंको पुण्य और अशुभ कर्मोंको पाप कहते हैं । कर्मोंके आनेके द्वारको, या मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दको, अथवा बन्धके कारणको आस्रव कहते हैं । अनेक पदार्थोंमें एकत्वबुद्धिके उत्पादक सम्बन्धविशेषको अथवा आत्मा और कर्मके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं । आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं । बद्ध कर्मोंके एकदेश क्षयको निर्जरा कहते हैं । आत्मासे समस्त कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं । ये ही नव पदार्थ हैं ।

जीवदुगं उत्तट्ठं जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा ।
वदसहिदावि य पावा तव्विवरीया हवंतित्ति ॥ ६२१ ॥

जीवद्विकमुक्तार्थं जीवाः पुण्या हि सम्यक्त्वगुणसहिताः ।
व्रतसहिता अपि च पापास्तद्विपरीता भवन्तीति ॥ ६२१ ॥

अर्थ—जीव और अजीवका अर्थ पहले बताचुके हैं। जीवके भी दो भेद हैं, एक पुण्य और दूसरा पाप। जो सम्यक्त्वगुणसे या व्रतसे युक्त हैं उनको पुण्य जीव कहते हैं। और इससे जो विपरीत हैं उनको पाप जीव कहते हैं।

गुणस्थानक्रमकी अपेक्षासे जीवराशिकी संख्या बताते हैं।

मिच्छाइट्ठी पावा णंताणंता य सासणगुणावि ।
पल्लासंखेज्जदिमा अणअण्णदरुदयमिच्छगुणा ॥ ६२२ ॥

मिथ्यादृष्टयः पापा अनन्तानन्ताश्च सासनगुणा अपि ।
पल्यासंख्येया अनान्यतरोदयमिथ्यात्वगुणाः ॥ ६२२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पाप जीव हैं। ये अनंतानंत हैं; क्योंकि द्वितीयादि तेरह गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट समस्त संसारी जीवराशि मिथ्यादृष्टि ही है। तथा सासादन गुणस्थानवाले जीव पल्यके असंख्यातमे भाग हैं। और ये भी पाप जीव ही हैं; क्योंकि अनंतानुबंधी चार कषायोंमेंसे किसी एक कषायका इसके उदय होरहा है। इसलिये यह मिथ्यात्व गुणको प्राप्त है। **भावार्थ**—सासादन गुणस्थानवालेका पहले यह लक्षण कह आये हैं कि "किसी एक अनंतानुबंधी कषायके उदयसे जो सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतसे तो गिरपड़ा है; किन्तु मिथ्यात्वरूप भूमिके सम्मुख है—अर्थात् अभीतक जिसने मिथ्यात्वभूमिको ग्रहण नहीं किया है, किन्तु एक समयसे लेकर छह आवलीतकके कालमें नियमसे वह उस मिथ्यात्व भूमिको ग्रहण करलेगा ऐसे जीवको सासादनगुणस्थानवाला कहते हैं।" अतः इस गुणस्थानवाले जीवोंको पुण्य जीव नहीं कह सकते; क्योंकि अनंतानुबंधी कषायके उदयसे इनका सम्यक्त्वगुण भी नष्ट हो चुका है और इनके किसी प्रकारका व्रत भी नहीं है। किन्तु नियमसे ये मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होंगे इसलिये इनको मिथ्यादृष्टि—पाप जीव ही कहते हैं। इन जीवोंकी संख्या पल्यके असंख्यातमे भाग है। और मिथ्यादृष्टि जीवोंकी संख्या अनंतानंत है।

मिच्छा सावयसासणमिस्साविरदा दुवारणंता य ।
पल्लासंखेज्जदिममसंखगुणं संखसंखगुणं ॥ ६२३ ॥

मिथ्याः श्रावकसासनमिश्राविरता द्विवारानन्ताश्च ।
पल्यासंख्येयमसंख्यगुणं संख्यासंख्यगुणम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि अनंतानंत हैं। श्रावक पल्यके असंख्यातमे भाग हैं। सासाद गुणस्थानवाले श्रावकोंसे असंख्यातगुणे हैं। मिश्र सासादनवालोंसे संख्यातगुणे हैं। अव्रतस-

म्यग्दृष्टि मिश्रजीवोंसे असंख्यातगुणे हैं । इनमें अन्तके चार स्थानोंमें कुछ २ अधिक समझना चाहिये । **भावार्थ**—मनुष्य और तिर्यंच इन दो गतियोंमें ही देशसंयम गुणस्थान होता है । इनमें तेरह करोड़ मनुष्य और पल्यके असंख्यातमे भाग तिर्यंच हैं । सासादन गुणस्थान चारों गतियोंमें होता है । इनमें बावन करोड़ मनुष्य और श्रावकोंसे असंख्यातगुणे इतर तीन गतिके जीव हैं । मिश्र गुणस्थान भी चारो गतियोंमें होता है इनमें एकसौ चार करोड़ मनुष्य और सासादनवालोंसे संख्यातगुणे शेष तीन गतिके जीव हैं । तथा अव्रत गुणस्थान भी चारो गतियोंमें होता है । इनमें सातसौ करोड़ मनुष्य हैं और मिश्रवालोंसे असंख्यातगुणे शेष तीन गतिके जीव हैं ।

तिरधियसयणवणउदी छण्णउदी अप्पमत्त वे कोडी ।
पंचेव य तेणउदी णवट्ठविसयच्छउत्तरं पमदे ॥ ६२४ ॥

त्र्यधिकशतनवनवतिः षण्णवतिः अप्रमत्ते द्वे कोटी ।
पञ्चैव च त्रिनवतिः नवाष्टद्विशतषडुत्तरं प्रमत्ते ॥ ६२४ ॥

अर्थ—प्रमत्त गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पांच करोड़ तिरानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छह है (५९३९८२०६) । अप्रमत्त गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण दो करोड़ छ्यानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन (२९६९९१०३) है ।

तिसयं भणंति केई चउरुत्तरमत्थपंचयं केई ।
उवसामगपरिमाणं खवगाणं जाण तद्दुगुणं ॥ ६२५ ॥

त्रिशतं भणन्ति केचित् चतुरुत्तरमस्तपञ्चकं केचित् ।
उपशामकपरिमाणं क्षपकाणां जानीहि तद्द्विगुणम् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणिवाले आठवें नौमे दशमे ग्यारहमे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण कोई आचार्य तीनसौ कहते हैं । कोई तीनसौ चार कहते हैं । कोई दो सौ निन्यानवे कहते हैं । क्षपकश्रेणिवाले आठमे नौमे दशमे बारहमे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण उपशम श्रेणिवालोंसे दूना है ।

उपशमश्रेणिवाले तीनसौ चार जीवोंका निरंतर आठ समयोंमें विभाग करते हैं ।

सोलसयं चउवीसं तीसं छत्तीस तह य बादालं ।
अडदालं चउवण्णं चउण्णं होंति उवसमगे ॥ ६२६ ॥

षोडशकं चतुर्विंशतिः त्रिंशत् षट्त्रिंशत् तथा च द्वाचत्वारिंशत् ।
अष्टचत्वारिंशत् चतुःपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् भवन्ति उपशमके ॥ ६२६ ॥

अर्थ—निरंतर आठ समयपर्यन्त उपशमश्रेणि मांडनेवाले जीवोंमें अधिकसे अधिक प्रथम समयमें १६, द्वितीय समयमें २४, तृतीय समयमें ३०, चतुर्थ समयमें ३६, पांचमे समयमें ४२, छट्ठे समयमें ४८, सातमेमें ५४, और आठमेमें ५४, जीव होते हैं ।

वत्तीसं अडदालं सट्ठी वावत्तरी य चुलसीदी ।
छण्णउदी अट्ठुत्तरसयमट्ठुत्तरसयं च खवगेसु ॥ ६२७ ॥

द्वात्रिंशदष्टचत्वारिंशत् षष्टिः द्वासप्ततिश्च चतुरशीतिः ।
षण्णवतिः अष्टोत्तरशतमष्टोत्तरशतं च क्षपकेषु ॥ ६२७ ॥

अर्थ—अंतरायरहित आठ समयपर्यन्त क्षपकश्रेणि माड़नेवाले जीव अधिकसे अधिक, उपर्युक्त आठ समयोंमें होनेवाले उपशमश्रेणि वालोंसे दूने होते हैं । इनमेंसे प्रथम समयमें ३२, दूसरे समयमें ४८, तीसरे समयमें ६०, चतुर्थ समयमें ७२, पांचमे समयमें ८४, छट्टे समयमें ९६, सातमे समयमें १०८, आठमे समयमें १०८ होते हैं ।

अट्ठेव सयसहस्सा अट्ठाणउदी तहा सहस्साणं ।
संखा जोगिजिणाणं पंचसयबिउत्तरं वंदे ॥ ६२८ ॥

अष्टैव शतसहस्राणि अष्टानवतिस्तथा सहस्राणाम् ।
संख्या योगिजिनानां पंचशतद्व्युत्तरं वन्दे ॥ ६२८ ॥

अर्थ—सयोगकेवली जिनोंकी संख्या आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो है । इनकी मैं सदाकाल बन्दना करता हूं । **भावार्थ**— निरंतर आठ समयोमें एकत्रित होनेवाले सयोगी जिनकी संख्या दूसरे आचार्यकी अपेक्षासे इस प्रकार कही है कि "छसु सुद्धसमयेसु तिण्णि तिण्णि जीवा केवलमुप्पाययंति, दोसु समयेसु दो दो जीवा केवल मुप्पाययंति एवमट्ठसमयसंचिदजीवा बावीसा हवंति" अर्थात् आठ समयोंमेंसे छह समयोंमें प्रतिसमय तीन तीन जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं, और दो समयोंमें दो दो जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं । इस तरह आठ समयोंमें बाईस सयोगी जिन होते हैं ।

जब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेमें छह महीनाका अंतराल होता है तब अन्तराल न पड़नेसे निरंतर आठ समयोंमें बाईस केवली होते हैं । इसके विशेष कथनमें छहप्रकारका त्रैराशिक होता है । प्रथम यह कि जब छह महीना आठ समयमात्र कालमें बाईस केवली होते हैं तब आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो केवली कितने कालमें होंगे । इसका चालीस हजार आठसौ इकतालीसको छह महीना आठ समयोंसे गुणा करने पर जो कालका प्रमाण लब्ध आवे वही उत्तर होगा । दूसरा छह महीना आठ समयोमें निरंतर केवलज्ञान उत्पन्न होनेका काल आठ समय है तब पूर्वोक्त प्रमाण कालमें कितने समय होंगे । इसका उत्तर तीन लाख छबीस हजार सात सौ अट्ठाईस है । तथा दूसरे आचार्योंके मतकी अपेक्षा आठ समयोमें बाईस या चवालीस या अठासी या एकसौ छिहत्तर जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं तब पूर्वोक्त समयप्रमाणमें या उसके आधेमें या चतुर्थांशमें या अष्टमांशमें कितने जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करेंगे । इन चार प्रकारके त्रैराशिकोंका उत्तर आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो होता है ।

क्षपक तथा उपशमक जीवोंकी युगपत् संभवती विशेष संख्याको तीन गाथाओंमें कहते हैं।

होंति खवा इगिसमये बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य।
उक्कस्सेणट्ठुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा॥ ६२९॥
पत्तेयबुद्धतित्थयरत्थिणउंसयमणोहिणाणजुदा।
दसछक्कवीसदसवीसट्ठावीसं जहाकमसो॥ ६३०॥
जेट्ठावरबहुमज्झिमओगाहणगा दु चारि अट्ठेव।
जुगवं हवंति खवगा उवसमगा अद्धमेदेसिं॥ ६३१॥

भवन्ति क्षपका एकसमये बोधितबुद्धाश्च पुरुषवेदाश्च।
उत्कृष्टेनाष्टोत्तरशतप्रमाः स्वर्गतश्च च्युताः॥ ६२९॥
प्रत्येकबुद्धतीर्थकरस्त्रीपुंनपुंसकमनोवधिज्ञानयुताः।
दशषट्कविंशतिदशविंशत्यष्टाविंशो यथाक्रमशः॥ ६३०॥
ज्येष्ठावरबहुमध्यमावगाहा द्वौ चत्वारोऽष्टैव।
युगपत् भवन्ति क्षपका उपशमका अर्धमेतेषाम्॥ ६३१॥

अर्थ—युगपत् एक समयमें क्षपकश्रेणिवाले जीव अधिकसे अधिक होते हैं तो कितने होते हैं? उसका हिसाव इस प्रकार है कि बोधितबुद्ध एकसौ आठ, पुरुषवेदी एकसौ आठ, स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि माड़नेवाले एकसौ आठ, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिके धारक दश, तीर्थंकर छह, स्त्रीवेदी वीस, नपुंसकवेदी दश, मनःपर्ययज्ञानी वीस, अवधिज्ञानी अट्ठाईस, मुक्त होनेके योग्य शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक दो, जघन्य अवगाहनाके धारक चार, समस्त अवगाहनाओंके मध्यवर्ती अवगाहनाके धारक आठ। ये सब मिलकर चारसौ बत्तीस होते हैं। उपशमश्रेणिवाले इसके आधे (२१६) होते हैं। **भावार्थ**—पहले तो गुणस्थानमें एकत्रित होनेवाले जीवोंकी संख्या बताई थी, और यहां पर श्रेणिमें युगपत् सम्भवती जीवोंकी उत्कृष्ट संख्या बताई है।

सर्व संयमी जीवोंकी संख्याको बताते हैं।

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि॥ ६३२॥

सप्तादयोऽष्टान्ताः षण्णवमध्याश्च संयताः सर्वे।
अञ्जलिमौलिकहस्तस्त्रिकरणशुद्ध्या नमस्यामि[1]॥ ६३२॥

१ तान् इत्यध्याहारः।

अर्थ—छट्ठे गुणस्थानसे लेकर चौदहमे गुणस्थानतकके सर्व संयमियोंका प्रमाण तीन कम नव करोड़ है (८९९९९९९७) । इनको मैं हाथ जोड़कर शिर नवाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूं । **भावार्थ**—प्रमत्तवाले जीव (५९३९८२०६) अप्रमत्तवाले (२९६९९१०३) उपशमश्रेणीवाले चारो गुणस्थानवर्ती (११९६) क्षपकश्रेणीवाले चार गुणस्थानवर्ती (२३९२) सयोगी जिन (८९८५०२) इन सबका जोड़ (८९९९९-३९९) होता है सो इसको सर्वसंयमियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर शेष अयोगी जीवोंका प्रमाण (५९८) रहता है । इसको संयमियोंके प्रमाणमें जोड़नेसे संयमियोंका कुलप्रमाण तीन कम नौ करोड़ होता है ।

चारो गतिसम्बन्धी मिथ्यादृष्टि सासादन मिश्र और अविरत इनकी संख्याके साधकभूत पल्यके भागहारका विशेष वर्णन करते हैं ।

ओघासंजदमिस्सयसासणसम्माणभागहारा जे ।
रूऊणावलियासंखेज्जेणिह भजिय तत्थ णिक्खित्ते ॥ ६३३ ॥
देवाणं अवहारा होंति असंखेण ताणि अवहरिय ।
तत्थेव य पक्खित्ते सोहम्मीसाण अवहारा ॥ ६३४ ॥

ओघा असंयतमिश्रकसासनसमीचां भागहारा ये ।
रूपोनावलिकासंख्यातेनेह भक्त्वा तत्र निक्षिप्ते ॥ ६३३ ॥
देवानामवहारा भवन्ति असंख्येन तानवहृत्य ।
तत्रैव च प्रक्षिप्ते सौधर्मैशानावहाराः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—गुणस्थानसंख्यामें असंयत मिश्र सासादनके भागहारोंका जो प्रमाण बताया है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है । तथा देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है । **भावार्थ**—जहां जहांका जितना २ भागहारका प्रमाण बताया है उस २ भागहारका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने २ ही वहां २ जीव समझने चाहिये । पहले गुणस्थानसंख्यामें असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण एकवार असंख्यात कहाथा, इसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है, इस देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने देवगतिसम्बन्धी असंयतगुणस्थानवर्ती जीव हैं । तथा देवगतिसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका

भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको उस भागहारमें मिलानेसे सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है। इस भागहारका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयत गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण है। इसी तरह मिश्र और सासादनके भागहारका प्रमाण भी समझना चाहिये।

सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारका प्रमाण बताते हैं।

सोहम्मसाणहारमसंखेण य संखरूवसंगुणिदे।
उवरि असंजदमिस्सयसासणसम्माण अवहारा॥ ६३५॥

सौधर्मेशानहारमसंख्येन च संख्यरूपसंगुणिते।
उपरि असंयतमिश्रकसासनसमीचामवहाराः॥ ६३५॥

अर्थ—सौधर्म ईशान स्वर्गके सासादन गुणस्थानमें जो भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। इससे असंख्यातगुणा मिश्र गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। तथा मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादन गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है।

इस गुणितक्रमकी व्याप्तिको बताते हैं।

सोहम्मादासारं जोइसिवणभवणतिरियपुढवीसु।
अविरदमिस्से संखं संखासंखगुण सासणे देसे॥ ६३६॥

सौधर्मादासहस्रारं ज्योतिष्विवनभवनतिर्यक्पृथ्वीषु।
अविरतमिश्रेऽसंख्यं संख्यासंख्यगुणं सासने देशे॥ ६३६॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्गपर्यन्त, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, तिर्यंच, सातों नरकपृथ्वी, इनके अविरत और मिश्र गुणस्थानमें असंख्यातका गुणक्रम है। और सासादन गुणस्थानमें संख्यातका तथा देशसंयम गुणस्थानमें असंख्यातका गुणक्रम समझना चाहिये। **भावार्थ**—सौधर्म ईशान स्वर्गके आगे सानत्कुमार माहेन्द्रके असंयत मिश्र सासादन गुणस्थानके भागहारोंका प्रमाण बता चुके हैं। इसमें सासादन गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा ब्रह्म ब्रह्मोत्तरके असंयत गुणस्थानका भागहार है। इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तरसम्बधी सासादनके भागहारसे असंख्यातगुणा लांतव कापिष्ठके असंयत गुणस्थान सम्बन्धी भागहारका प्रमाण है। और इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। इसी क्रमके अनुसार शुक्र महाशुक्रसे लेकर सातमी पृथ्वीतकके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भाग-

---

१ यहां पर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है।

हारोंका प्रमाण समझना चाहिये । विशेषता यह है कि देशसंयम गुणस्थान स्वर्गोंमें तथा नरकोंमें नहीं होता; किन्तु तिर्यञ्चोंमें होता है । इसलिये तिर्यंचोंमें जो सासादनके भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा तिर्यंचोंके देशव्रत गुणस्थानका भागहार है । तथा तिर्यंचोंके देशसंयम गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है वही प्रथम नरकके असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है । किन्तु देशव्रतके भागहारका प्रमाण स्वर्ग तथा नरकमें नहीं है ।

आनतादिकमें गुणितक्रमकी व्याप्तिको तीन गाथाओंद्वारा बताते हैं ।

चरमधरासाणहरा आणदसम्माण आरणप्पहुदिं ।
अंतिमगेवेज्जंतं सम्माणमसंखसंखगुणहारा ॥ ६३७ ॥

चरमधरासानहारादानतसमीचामारणप्रभृति ।
अंतिमग्रैवेयकान्तं समीचामसंख्यसंख्यगुणहाराः ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सप्तम पृथ्वीके सासादनसम्बन्धी भागहारसे आनत प्राणतके असंयतका भागहार असंख्यातगुणा है । तथा इसके आगे आरण अच्युतसे लेकर नौमे ग्रैवेयकपर्यंत दश स्थानोंमें असंयतका भागहार क्रमसे संख्यातगुणा[1] २ है ।

तत्तो ताणुत्ताणं वामाणमणुद्दिसाण विजयादि ।
सम्माणं संखगुणो आणदमिस्से असंखगुणो ॥ ६३८ ॥

ततस्तेषामुक्तानां वामानामनुदिशानां विजयादि- ।
समीचां संख्यगुण आनतमिश्रे असंख्यगुणः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—इसके अनंतर आनत प्राणतसे लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंतके मिथ्यादृष्टि जीवोंका भागहार क्रमसे अंतिम ग्रैवेयक सम्बन्धी असंयतके भागहारसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा[2] है । इस अंतिम ग्रैवेयक सम्बन्धी मिथ्यादृष्टिके भागहारसे क्रमपूर्वक संख्यातगुणा[3] संख्यातगुणा नव अनुदिश और विजय वैजयंत जयंत अपराजितके असंयतोंका भागहार है । विजयादिकसम्बन्धी असंयतके भागहारसे आनत प्राणत सम्बन्धी मिश्रका भागहार असंख्यातगुणा है ।

तत्तो संखेज्जगुणो सासणसम्माण होदि संखगुणो ।
उत्तट्ठाणे कमसो पणछस्सत्तट्ठचदुरसंदिट्ठी ॥ ६३९ ॥

ततः संख्येयगुणः सासनसमीचां भवति संख्यगुणः ।
उक्तस्थाने क्रमशः पञ्चषट्सप्ताष्टचतुःसंदृष्टिः ॥ ६३९ ॥

१-२-३ इन स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पांच अंक छह अंक तथा सातका अंक है । इस बातको आगेके गाथामें कहेंगे ।

अर्थ—आनत प्राणतसम्बन्धी मिश्रके भागहारसे, आरण अच्युतसे लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंत दश स्थानोंमें मिश्रसम्बन्धी भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है। यहांपर संख्यातकी सहनानी आठका अंक है। अंतिम ग्रैवेयकसम्बन्धी मिश्रके भागहारसे आनत प्राणतसे लेकर नवम ग्रैवेयकपर्यंत ग्यारह स्थानोंमें सासादनसम्यग्दृष्टीके भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यातगुणा २ है। यहां पर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है। इन पूर्वोक्त पांच स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पांच, छह, सात, आठ, और चारके अंक हैं।

सगसगअवहारेहिं पल्ले भजिदे हवंति सगरासी।
सगसगगुणपडिवण्णे सगसगरासीसु अवणिदे वामा॥ ६४०॥

स्वकस्वकावहारैः पल्ये भक्ते भवन्ति स्वकराशयः।
स्वकस्वकगुणप्रतिपन्नेषु स्वकस्वकराशिषु अपनीतेषु वामाः॥ ६४०॥

अर्थ—अपने २ भागहारका पल्यमें भाग देनेसे अपनी २ राशिके जीवोंका प्रमाण निकलता है। तथा अपनी २ सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रतका प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण रहता है। **भावार्थ**—यहां पर मनुष्योंके भागहारका प्रमाण नहीं बताया है, तथा देशव्रत गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंच इन दोनों हीके होता है, इसलिये तिर्यंचोंकी ही सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रत गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे मिथ्यादृष्टि तिर्यंच जीवोंका प्रमाण होता है; किन्तु देव और नारकियोंकी सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र और सासादन गुणस्थानवाले, जीवोंका ही प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण होता है। परन्तु जहां पर मिथ्यादृष्टि आदि जीव सम्भव हों वहां पर ही इनका (मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंका) प्रमाण निकालना चाहिये, अन्यत्र नहीं; क्योंकि ग्रैवेयकसे ऊपरके सब देव असंयत ही होते हैं।

मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जीवोंका प्रमाण बताते हैं।

तेरसकोडी देसे बावण्णं सासणे मुणेदव्वा।
मिस्सावि य तद्दुगुणा असंजदा सत्तकोडिसयं॥ ६४१॥

त्रयोदशकोट्यो देशे द्वापञ्चाशत् सासने मन्तव्याः।
मिश्रा अपि च तद्द्विगुणा असंयताः सप्तकोटिशतम्॥ ६४१॥

अर्थ—देससंयम गुणस्थानमें तेरह करोड़, सासादनमें बावन करोड़, मिश्रमें एकसौ चार करोड़, असंयतमें सात करोड़ मनुष्य हैं। प्रमत्तादि गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पूर्वे ही बता चुके हैं। इस प्रकार यह गुणस्थानोंमें मनुष्य जीवोंका प्रमाण है।

जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्णं तु ।
सुहपयडीणं दव्वं पावं असुहाण दव्वं तु ॥ ६४२ ॥

जीवेतरस्मिन् कर्मचये पुण्यं पापमिति भवति पुण्यं तु ।
शुभप्रकृतीनां द्रव्यं पापमशुभप्रकृतीनां द्रव्यं तु ॥ ६४२ ॥

अर्थ—जीव पदार्थमें सामान्यसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवाले जीव पाप हैं । और मिश्र गुणस्थानवाले पुण्य और पापके मिश्ररूप हैं । तथा असंयतसे लेकर सब ही पुण्य जीव हैं । इसके अनंतर अजीव पदार्थका वर्णन करते हैं । अजीव पदार्थमें कार्मण स्कन्धके दो भेद हैं । एक पुण्य दूसरा पाप । शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य और अशुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं । **भावार्थ**—कार्मण स्कन्धमें सातावेदनीय, नरकायुको छोड़कर शेष तीन आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, इन शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य[1] कहते हैं । इनके सिवाय घातिकर्मकी समस्त प्रकृति और असातावेदनीय, नरक आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, इन प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं ।

आसवसंवरदव्वं समयपबद्धं तु णिज्जरादव्वं ।
तत्तो असंखगुणिदं उक्कस्सं होदि णियमेण ॥ ६४३ ॥

आस्रवसंवरद्रव्यं समयप्रबद्धं तु निर्जराद्रव्यम् ।
ततोऽसंख्यगुणितमुत्कृष्टं भवति नियमेन ॥ ६४३ ॥

अर्थ—आस्रव और संवरका द्रव्यप्रमाण समयप्रबद्धप्रमाण है । और उत्कृष्ट निर्जराद्रव्य समयप्रबद्धसे असंख्यातगुणा है । **भावार्थ**—एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण कर्मपुद्गलका ही आस्रव होता है, इसलिये आस्रवको समयप्रबद्धप्रमाण कहा है । और आस्रवके निरोधरूप संवर है । सो यह संवर भी एकसमयमें उतने ही द्रव्यका होगा, इसलिये द्रव्य–संवरको भी समयप्रबद्ध प्रमाण कहा है । गुणश्रेणिनिर्जरामें असंख्यात समयप्रबद्धोंकी निर्जरा एक ही समयमें हो जाती है, इसलिये उत्कृष्ट निर्जराद्रव्यको असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण कहा है ।

बंधो समयपबद्धो किंचूणदिवड्ढमेत्तगुणहाणी ।
मोक्खो य होदि एवं सद्दहिदव्वा दु तच्चट्ठा ॥ ६४४ ॥

बन्धः समयप्रबद्धः किञ्चिदूनद्व्यर्धमात्रगुणहानिः ।
मोक्षश्च भवत्येवं श्रद्धातव्यास्तु तत्वार्थाः ॥ ६४४ ॥

अर्थ—बन्धद्रव्य समयप्रबद्धप्रमाण है; क्योंकि एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण ही कर्मप्रकृतियोंका बंध होता है । तथा मोक्षद्रव्यका प्रमाण द्व्यर्धगुणहानिगुणितसमयप्रबद्ध प्रमाण

---

१ पुण्य और पाप प्रकृतियोंकी भिन्न २ संख्या कर्मकाण्डमें देखना चाहिये ।

है; क्योंकि अयोगि गुणस्थानके अन्तमें जितनी कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है उतना ही मोक्षद्रव्यका प्रमाण है। तथा यहां पर (अयोगि गुणस्थानके अंत समयमें) कर्मोंकी सत्ता द्व्यर्धगुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण है। इसलिये मोक्षद्रव्यका प्रमाण भी द्व्यर्धगुणहानिगुणितसमयप्रबद्धप्रमाण ही है। इस प्रकार इन सात तत्वोंका श्रद्धान करना चाहिये। **भावार्थ**—पूर्वमें जो छह द्रव्य पञ्चास्तिकाय नव पदार्थोंका स्वरूप बताया है उसके अनुसार ही उनका श्रद्धान करना चहिये; क्योंकि इनके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्वके भेदोंको गिनानेके पहले क्षायिक सम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं।

खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई।
तं खाइयसम्मत्तं णिचं कम्मक्खवणहेदु ॥ ६४५ ॥

क्षीणे दर्शनमोहे यच्छ्रद्धानं सुनिर्मलं भवति।
तत्क्षायिकसम्यक्त्वं नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ ६४५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षीण होजाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य और कर्मोंके क्षय होनेका कारण है। **भावार्थ**—यद्यपि दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन ही भेद हैं; तथापि अनंतानुबंधी कषाय भी दर्शन गुणको विपरीत करता है इसलिये इसको भी दर्शनमोहनीय कहते हैं। इसी लिये आचार्योंने **पञ्चाध्यायीमें** कहा है कि 'सप्तैते दृष्टिमोहनम्' अतएव इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होजानेसे दर्शन गुणकी जो अत्यन्त निर्मल अवस्था होती है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके प्रतिपक्षी कर्मका एकदेश भी अवशिष्ट नहीं रहा है इस ही लिये यह दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह सांत नहीं है। तथा इसके होनेपर असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है इसलिये यह कर्मक्षयका हेतु है। इसी अभिप्रायका बोधक दूसरा क्षेपक गाथा भी है। वह इसप्रकार है कि—

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एकेव तदियतुरियभवे।
णादिकदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥ १ ॥

दर्शनमोहे क्षपिते सिद्ध्यति एकस्मिन्नेव तृतीयतुरीयभवे।
नातिक्रामति तुरीयभवं न विनश्यति शेषसम्यक्त्व व ॥ १ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होजाने पर उस ही भवमें या तीसरे चौथे भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होता है, किन्तु चौथे भवका उलंघन नहीं करता, तथा दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह यह सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता। **भावार्थ**—क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर या तो उस ही भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होजाता है। या देवायुका बंध होगया हो तो तीसरे भवमें सिद्ध होता है। यदि सम्यग्दर्शनके पहले मिथ्यात्व अवस्थामें मनुष्य या

तिर्यंच आयुका बंध होगया हो तो चौथे भवमें सिद्ध होता है; किन्तु चतुर्थ भवका अतिक्रमण नहीं करता । यह सम्यक्त्व साद्यनंत है ।

क्षायिकसम्यक्त्वका विशेषस्वरूप बताते हैं ।

वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदियभयआणएहिं रूवेहिं ।
वीभच्छजुगुंच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥ ६४६ ॥

वचनैरपि हेतुभिरपि इन्द्रियभयानीतै रूपैः ।
बीभत्स्यजुगुप्साभिश्च त्रैलोक्येनापि न चाल्यः ॥ ६४६ ॥

अर्थ—श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले आकारोंसे यद्वा ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर उत्पन्न होनेवाली ग्लानिसे किं बहुना तीन लोकसे भी यह क्षायिक सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता । **भावार्थ**—क्षायिक सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगमसे विरुद्ध श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते । तथा वह भयोत्पादक आकार या ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर भी भ्रष्ट नहीं होता । यदि कदाचित् तीन लोक उपस्थित होकर भी उसको अपने श्रद्धानसे भ्रष्ट करना चाहें तो भी वह भ्रष्ट नहीं होता ।

यह सम्यग्दर्शन किसके तथा कहां पर उत्पन्न होता है यह बताते हैं ।

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु ।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥ ६४७ ॥

दर्शनमोहक्षपणाप्रस्थापकः कर्मभूमिजातो हि ।
मनुष्यः केवलिमूले निष्ठापको भवति सर्वत्र ॥ ६४७ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका प्रारम्भ केवलीके मूलमें कर्मभूमिका उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही करता है, तथा निष्ठापन सर्वत्र होता है । **भावार्थ**—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें (निकट) ही होता है, तथा उसका (प्रारम्भका) करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है । यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होनेके प्रथम ही मरण होजाय तो उसकी (क्षपणकी) समाप्ति चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें हो सकती है ।

वेदकसम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं ।

दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।
चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥ ६४८ ॥

दर्शनमोहोदयादुत्पद्यते यत् पदार्थश्रद्धानम् ।
चलमलिनमगाढं तद् वेदकसम्यक्त्वमिति जानीहि ॥ ६४८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल मलिन अगाढरूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। **भावार्थ**—मिथ्यात्व मिश्र और अनंतानुबंधी चतुष्क इनका सर्वथा क्षय अथवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर; किन्तु अवशिष्ट सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होते हुए पदार्थोंका जो श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। यहां पर भी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयजनित चलता मलिनता और अगाढता ये तीन दोष होते हैं। इन तीनोंका लक्षण पहले कहचुके हैं।

तीन गाथाओंमें उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप और सामग्रीका वर्णन करते हैं।

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ॥ ६४९ ॥

दर्शनमोहोपशमादुत्पद्यते यत्पदार्थश्रद्धानम्।
उपशमसम्यक्त्वमिदं प्रसन्नमलपङ्कतोयसमम् ॥ ६४९ ॥

अर्थ—उक्त सम्यक्त्वविरोधिनी सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व इस तरहका निर्मल होता है जैसा कि निर्मली आदि पदार्थोंके निमित्तसे कीचड़ आदि मलके नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल होता है। **भावार्थ**—उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं; क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मोंका उदय दोनों ही स्थानपर नहीं है। किन्तु विशेषता इतनी ही है कि क्षायिक सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव होगया है, और उपशम सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता है। जैसे किसी जलमें निर्मली आदिके द्वारा ऊपरसे निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है, और किसी जलके नीचे कीचड़ रहती ही नहीं। ये दोनों जल निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं। अन्तर यही है कि एकके नीचे कीचड़ है दूसरीके नीचे कीचड़ नहीं है।

खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥ ६५० ॥

क्षायोपशमिकविशुद्धी देशना प्रायोग्यकरणलब्धी च।
चतस्रोऽपि सामान्याः करणं पुनर्भवति सम्यक्त्वे ॥ ६५० ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण, ये पांच लब्धि हैं। इनमें चार तो सामान्य हैं; किन्तु करण–लब्धि विशेष है–इसके होनेपर सम्यक्त्व या चारित्र नियमसे होता है। **भावार्थ**—लब्धि शब्दका अर्थ प्राप्ति है। प्रकृतमें सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य सामग्रीकी प्राप्ति होना इसको लब्धि कहते हैं। उसके उक्त पांच भेद हैं। सम्यक्त्वके योग्य कर्मोंके क्षयोपशम होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। निर्मलता-विशेषको विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेशको देशना कहते हैं। पंचेन्द्रियादिस्वरूप

योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं । अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंको करणलब्धि कहते हैं। इन तीनों करणोंका स्वरूप पहले कह चुके हैं। इन पांच लब्धियोंमेंसे आदिकी चार लब्धि तो सामान्य हैं–अर्थात् भव्य अभव्य दोनोंके होती हैं, किन्तु करण लब्धि असाधारण है–इसके होने पर नियमसे सम्यक्त्व या चारित्र होता है। जब तक करणलब्धि नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता।

उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके योग्य सामग्रीको बताकर उसको ग्रहण करनेकेलिये योग्य जीव कैसा होना चाहिये यह बताते हैं।

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ॥ ६५१ ॥

चतुर्गतिभव्यः संज्ञी पर्याप्तः शुद्धकश्च साकारः।
जागरूकः सल्लेश्यः सलब्धिकः सम्यक्त्वमुपगच्छति ॥ ६५१ ॥

अर्थ—जो जीव चार गतियोंमेंसे किसी एक गतिका धारक, तथा भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धियुक्त, जागृत, उपयोगयुक्त, और शुभ लेश्याका धारक होकर करणलब्धिरूप परिणामोंका धारक होता है वह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥ ६५२ ॥

चत्वार्यपि क्षेत्राणि आयुष्कबन्धेन भवति सम्यक्त्वम्।
अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुष्कं मुक्त्वा ॥ ६५२ ॥

अर्थ—चारो गतिसम्बन्धी आयुकर्मका बन्ध होजाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है; किन्तु देवायुको छोड़कर शेष आयुका बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते। **भावार्थ**—चारो गतिमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीवकें चार प्रकारकी आयुमेंसे किसी भी आयुका बंध होने पर भी सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है–इसमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु सम्यक्त्व ग्रहण होनेके अनन्तर अणुव्रत या महाव्रत उसी जीवके हो-सकते हैं जिसके चार आयुकर्मोंमेंसे केवल देवायुका बंध हुआ हो, अथवा किसी भी आयुका बंध न हुआ हो। नरकायु तिर्यगायु मनुष्यायुका बंध करनेवाले सम्यग्दृष्टिके अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते।

सम्यक्त्वमार्गणाके दूसरे भेदोंको गिनाते हैं।

ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो य परिवडिदो।
सो सासणोत्ति णेयो पंचमभावेण संजुत्तो ॥ ६५३ ॥

न च मिथ्यात्वं प्राप्तः सम्यक्त्वतश्च यश्च परिपतितः।
स सासन इति ज्ञेयः पंचमभावेन संयुक्तः ॥ ६५३ ॥

अर्थ—जो जीव सम्यक्त्वसे तो च्युत हो गया है किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है उसको सासन कहते हैं। यह जीव पांचमे पारणामिक भावोंसे युक्त होता है । **भावार्थ**—सासनरूप परिणामोंका होना भी सम्यक्त्वगुणका एक विपरिणाम है, इसलिये यह भी सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है । अत एव यहां पर इसका वर्णन किया है; क्योंकि सम्यक्त्वमार्गणामें सामान्यसे सम्यक्त्वके समस्त भेदोंका वर्णन करना चाहिये । इस गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा पारणामिक भाव होते हैं, तथा अनन्तानुबंधी आदिकी अपेक्षा औदायिकादि भाव होते हैं । और इसका विशेष स्वरूप गुणस्थानाधिकारमें कह चुके हैं इसलिये यहां नहीं कहते हैं ।

मिश्रगुणस्थानका स्वरूप बताते हैं ।

सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।
विरयाविरयेण समो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ॥ ६५४ ॥

श्रद्धानाश्रद्धानं यस्य च जीवस्य भवति तत्त्वेषु ।
विरताविरतेन समः सम्यग्मिथ्य इति ज्ञातव्यः ॥ ६५४ ॥

अर्थ—विरताविरतकी तरह जिस जीवके तत्त्वके विषयमें श्रद्धान और अश्रद्धान दोनो हों उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये । **भावार्थ**—जिसतरह विरत और अविरत दोनों प्रकारके परिणामोंके जोड़की अपेक्षा विरताविरत नामका पांचमा गुणस्थान होता है, उसी तरह श्रद्धान और अश्रद्धानरूप परिणामोंके जोड़की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व नामका तीसरा गुणस्थान होता है । यह भी सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है ।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ ६५५ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्दधाति ।
श्रद्दधाति असद्भावमुपदिष्टं वा अनुपदिष्टम् ॥ ६५५ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवके कहे हुए आप्त आगम पदार्थका श्रद्धान नहीं करता; किन्तु कुगुरुओंके कहे हुए या विना कहे हुए भी मिथ्या पदार्थका श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं । **भावार्थ**—मिथ्यात्व—दर्शनमोहनीयके उदयसे दो प्रकारके विपरिणाम होते हैं । एक ग्रहीत विपरीत श्रद्धान दूसरा अग्रहीत विपरीत श्रद्धान । जो कुगुरुओंके उपदेशसे विपरीत श्रद्धान होता है उसको ग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं। और जो विना उपदेशके ही विपरीत श्रद्धान हो उसको अग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं । इन दोनों ही प्रकारके विपरिणामोंको मिथ्यात्व इस सामान्य शब्दमें कहते हैं । तथा यह मिथ्यात्व सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है । इसलिये इसी गाथाको एकवार गुणस्थानाधिकारमें आने पर भी यहां दूसरीवार कहा है ।

सम्यक्त्वमार्गणामें तीन गाथाओंद्वारा जीवसंख्या बताते हैं ।

वासपुधत्ते खइया संखेज्जा जइ हवंति सोहम्मे ।
तो संखपल्लठिदिये केवदिया एवमणुपादे ॥ ६५६ ॥

वर्षपृथक्त्वे क्षायिकाः संख्येया यदि भवन्ति सौधर्मे ।
तर्हि संख्यपल्यस्थितिके कति एवमनुपाते ॥ ६५६ ॥

अर्थ—क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सौधर्म ईशान स्वर्गमें पृथक्त्व वर्षमें संख्यात उत्पन्न होते हैं तो संख्यात पल्यकी स्थितिमें कितने जीव उत्पन्न होंगे ? इसका त्रैराशिक करनेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण निकलता है; क्योंकि क्षायिकसम्यग्दृष्टि बहुधा कल्पवासी देव होते हैं और कल्पवासी देव बहुत करके सौधर्म ईशान स्वर्गमें ही हैं । **भावार्थ**—फलराशि संख्यातका और इच्छाराशि संख्यात पल्यका परस्पर गुणा करके प्रमाण राशि पृथक्त्ववर्षका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है।

इस प्रकार त्रैराशिक करनेसे लब्धप्रमाण कितना आया यह बताते हैं ।

संखावलिहिदपल्ला खइया तत्तो य वेदमुवसमगा ।
आवलिअसंखगुणिदा असंखगुणहीणया कमसो ॥ ६५७ ॥

संख्यावलिहितपल्या क्षायिकास्ततश्च वेदमुपशमकाः ।
आवल्यसंख्यगुणिता असंख्यगुणहीनकाः क्रमशः ॥ ६५७ ॥

अर्थ—संख्यात आवलीसे भक्त पल्यप्रमाण क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं । क्षायिक सम्यग्दृष्टिके प्रमाणका आवलीके असंख्यातमे भागसे गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है । तथा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंके प्रमाणसे असंख्यातगुणा हीन उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

सासादन मिश्र और मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

पल्लासंखेज्जदिमा सासणमिच्छा य संखगुणिदा हु ।
मिस्सा तेहिं विहीणो संसारी वामपरिमाणं ॥ ६५८ ॥

पल्यासंख्याताः सासनमिथ्याश्च संख्यगुणिता हि ।
मिश्रास्तैर्विहीनः संसारी वामपरिमाणम् ॥ ६५८ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण सासादनमिथ्यादृष्टि जीव हैं । और इनसे संख्यातगुणे मिश्र जीव हैं । तथा संसारी जीवराशिमेंसे क्षायिक औपशमिक क्षायोपशमिक सासादन मिश्र इन पांच प्रकारके जीवोंका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना ही मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति सम्यक्त्वमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त संज्ञिमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा ।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो ॥ ६५९ ॥

नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमस्तज्जबोधनं संज्ञा ।
सा यस्य स तु संज्ञी इतरः शेषेन्द्रियावबोधः ॥ ६५९ ॥

अर्थ—नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको या तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं । यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं । और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं । **भावार्थ**—जीव दो प्रकारके होते हैं एक संज्ञी दूसरे असंज्ञी । जिनके लब्धि या उपयोगरूप मन पायाजाय उनको संज्ञी कहते हैं । और जिनके मन न हो उनको असंज्ञी कहते हैं । इन असंज्ञी जीवोंके यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान ही होता है ।

संज्ञी असंज्ञीकी पहचानकेलिये चिह्नोंका वर्णन करते हैं ।

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी दु ॥ ६६० ॥

शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही मनोऽवलम्बेन ।
यो जीवः स संज्ञी तद्विपरीतोऽसञ्ज्ञी तु ॥ ६६० ॥

अर्थ—हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं । इच्छापूर्वक हाथ पैरके चलानेको क्रिया कहते हैं । वचन अथवा चाबुक आदिके द्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं । और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं ।

जो जीव इन शिक्षादिकको मनके अवलम्बनसे ग्रहण=धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । और जिन जीवोंमें यह लक्षण घटित न हो उनको असंज्ञी कहते हैं ।

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥ ६६१ ॥

मीमांसति यः पूर्वं कार्यमकार्यं च तत्त्वमितरञ्च ।
शिक्षते नाम्ना एति च समनाः अमनाश्च विपरीतः ॥ ६६१ ॥

अर्थ—जो जीव प्रवृत्ति करनेके पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार करै, तथा तत्त्व और अतत्त्वका स्वरूप समझ सके, और उसका जो नाम रक्खा गया हो उस नामके द्वारा बुलाने पर आसके, उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं । और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं ।

संज्ञीमार्गणागत जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

देवेहिं सादिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं ।
तेणूणो संसारी सव्वेसिमसण्णिजीवाणं ॥ ६६२ ॥

देवैः सातिरेको राशिः संज्ञिनां भवति परिमाणम् ।
तेनोनः संसारी सर्वेषामसंज्ञिजीवानाम् ॥ ६६२ ॥

अर्थ—देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक संज्ञी जीवोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण संसारी जीव राशिमेंसे संज्ञी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति संज्ञिमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त आहारमार्गणाका वर्णन करते हैं ।

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं ।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ ६६३ ॥

उदयापन्नशरीरोदयेन तद्देहवचनचित्तानाम् ।
नोकर्मवर्गणानां ग्रहणमाहारकं नाम ॥ ६६३ ॥

अर्थ—शरीरनामा नामकर्मके उदयसे देह वचन और द्रव्य मनरूप बननेके योग्य नोकर्मवर्गणाका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं ।

निरुक्तिपूर्वक आहारकका अर्थ लिखते हैं ।

आहरदि सरीराणं तिण्हं एयदरवग्गणाओ य ।
भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥ ६६४ ॥

आहरति शरीराणां त्रयाणामेकतरवर्गणाश्च ।
भासामनसोर्नियतं तस्मादाहारको भणितः ॥ ६६४ ॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे किसी भी एक शरीरके योग्य वर्गणाओंको तथा वचन और मनके योग्य वर्गणाओंको यथायोग्य जीवसमास तथा कालमें जीव आहरण=ग्रहण करता है इसलिये इसको आहारक कहते हैं ।

जीव दो प्रकारके होते हैं एक आहारक दूसरे अनाहारक । आहारक जीव कौन २ होते हैं और अनाहारक जीव कौन २ होते हैं यह बताते हैं ।

विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥ ६६५ ॥

विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्धाता अयोगिनश्च ।
सिद्धाश्च अनाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ ६६५ ॥

अर्थ—विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिसम्बन्धी जीव, प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, समस्त सिद्ध इतने जीव तो अनाहारक होते हैं। और इनको छोड़कर शेष जीव आहारक होते हैं।

समुद्घात कितने प्रकारका होता है यह बताते हैं।

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥

वेदनाकषायवैगूर्विकाश्च मारणान्तिकः समुद्घातः ।
तेज आहारः षष्ठः सप्तमः केवलिनां तु ॥ ६६६ ॥

अर्थ—समुद्घातके सात भेद हैं। वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक, केवल। इनका स्वरूप लेश्यामार्गणाके क्षेत्राधिकारमें कहा जाचुका है इस लिये यहां पर नहीं कहा है।

समुद्घातका स्वरूप बताते हैं।

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥

मूलशरीरमत्यक्त्वा उत्तरदेहस्य जीवपिण्डस्य ।
निर्गमनं देहाद्भवति समुद्घातनाम तु ॥ ६६७ ॥

अर्थ—मूल शरीरको न छोड़कर तैजस कार्मण रूप उत्तर देहके साथ २ जीवप्रदेशोंके शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं।

आहारमारणंति य दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु ।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ॥ ६६८ ॥

आहारमारणांतिकद्विकमपि नियमेन एकदिशिकं तु ।
दशदिशि गता हि शेषाः पञ्चसमुद्घातका भवन्ति ॥ ६६८ ॥

अर्थ—उक्त सात प्रकारके समुद्घातोंमेंसे आहार और मारणान्तिक ये दो समुद्घात तो एक ही दिशामें गमन करते हैं; किन्तु बाकीके पांच समुद्घात दशों दिशाओंमें गमन करते हैं।

आहारक और अनाहारकके कालका प्रमाण बताते हैं।

अंगुलअसंखभागो कालो आहारयस्स उक्कस्सो ।
कम्मम्मि अणाहारो उक्कस्सं तिण्णि समया हु ॥ ६६९ ॥

अङ्गुलासंख्यभागः कालः आहारकस्योत्कृष्टः ।
कार्मणे अनाहारः उत्कृष्टः त्रयः समया हि ॥ ६६९ ॥

अर्थ—आहारकका उत्कृष्ट काल सूच्यंगुलके असंख्यातमें भागप्रमाण है। कार्मण शरीरमें अनाहारका उत्कृष्ट काल तीन समयका है, और जघन्य काल एक समयका है। तथा आहारका जघन्य काल तीन समय कम श्वासके अठारहमे भाग प्रमाण है, क्योंकि विग्रहगतिसम्बन्धी तीन समयोंके घटाने पर क्षुद्र भवका काल इतना ही अवशेष रहता है।

आहारमार्गणासम्बन्धी जीवोंकी संख्याको बताते हैं।

कम्मइयकायजोगी होदि अणाहारयाण परिमाणं।
तव्विरहिदसंसारो सव्वो आहारपरिमाणं ॥ ६७० ॥

कार्मणकाययोगी भवति अनाहारकाणां परिमाणम् ।
तद्विरहितसंसारी सर्वे आहारपरिमाणम् ॥ ६७० ॥

अर्थ—कार्मणकाययोगी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अनाहारक जीवोंका प्रमाण है। और संसारी जीवराशिमेंसे कार्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही आहारक जीवोंका प्रमाण है।

॥ इति आहारमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त उपयोगाधिकारका वर्णन करते हैं।

वत्थुणिमित्तं भावो जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो सायारो चेव णायारो ॥ ६७१ ॥

वस्तुनिमित्तं भावो जातो जीवस्य यस्तूपयोगः ।
स द्विविधो ज्ञातव्यः साकारश्चैवानाकारः ॥ ६७१ ॥

अर्थ—जीवका जो भाव वस्तुको (ज्ञेयको) ग्रहण करनेकेलिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं एक साकार (सविकल्प) दूसरा निराकार (निर्विकल्प)।

दोनोंप्रकारके उपयोगोंके उत्तरभेदोंको बताते हुए यह उपयोग जीवका लक्षण है यह बताते हैं।

णाणं पंचविहंपि य अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।
चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥ ६७२ ॥

ज्ञानं पंचविधमपि च अज्ञानत्रिकं च साकारोपयोगः ।
चतुर्दर्शनमनाकारः सर्वे तल्लक्षणा जीवाः ॥ ६७२ ॥

अर्थ—पांच प्रकारका सम्यग्ज्ञान और तीन प्रकारका अज्ञान ये साकार उपयोग है। चार प्रकारका दर्शन अनाकार उपयोग है। यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवोंका लक्षण है।

साकार उपयोगमें कुछ विशेषताको बताते हैं।

मदिसुदओहिमणेहिंय सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु सायारो॥ ६७३॥

मतिश्रुतावधिमनोभिश्च स्वकस्वकविषये विशेषविज्ञानम्।
अन्तर्मुहूर्तकाल उपयोगः स तु साकारः॥ ६७३॥

अर्थ—मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इनकेद्वारा अपने २ विषयका अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त जो विशेषज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं। **भावार्थ**—साकार उपयोगके पांच भेद हैं। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल। इनमेंसे आदिके चार ही उपयोग छद्मस्थ जीवोंके होते हैं। उपयोग चेतनाका एक परिणमन है। तथा एक वस्तुके ग्रहणरूप यह चेतनाका यह परिणमन छद्मस्थ जीवके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रह सकता है। इस साकार उपयोगमें यही विशेषता है कि यह वस्तुके विशेष अंशको ग्रहण करता है।

अनाकार उपयोगका स्वरूप बताते हैं।

इंदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणायारो॥ ६७४॥

इन्द्रियमनोऽवधिना वा अर्थे अविशेष्य यद्ग्रहणम्।
अन्तर्मुहूर्तकालः उपयोगः स अनाकारः॥ ६७४॥

अर्थ—इन्द्रिय मन और अवधिकेद्वारा अन्तर्मुहूर्तकालतक पदार्थोंका जो सामान्यरूपसे ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं। **भावार्थ**—दर्शनके चार भेद हैं, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमेंसे आदिके तीन ही दर्शन छद्मस्थ जीवोंके होते हैं। नेत्रकेद्वारा पदार्थका जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। और नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मनकेद्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञानके पहले इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना आत्ममात्रसे जो रूपी पदार्थविषयक समान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोगकी तरह छद्मस्थ जीवोंके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्ततक ही होता है।

उपयोगाधिकारमें जीवोंका प्रमाण बताते हैं।

णाणुवजोगजुदाणं परिमाणं णाणमग्गणं व हवे।
दंसणुवजोगियाणं दंसणमग्गण व उत्तकमो॥ ६७५॥

ज्ञानोपयोगयुतानां परिमाणं ज्ञानमार्गणावद्भवेत् ।
दर्शनोपयोगिनां दर्शनमार्गणावदुक्तक्रमः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगवाले जीवोंका प्रमाण ज्ञानमार्गणावाले जीवोंकी तरह समझना चाहिये । और दर्शनोपयोगवालोंका प्रमाण दर्शनमार्गणावालोंकी तरह समझना चाहिये । इनमें कुछ विशेषता नहीं है ।

॥ इति उपयोगाधिकारः ॥

उक्त प्रकारसे वीस प्ररूपणाओंका वर्णन करके अब अन्तर्भावाधिकारका वर्णन करते हैं ।

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणुवजोगो ।
जोग्गा परूविदव्वा ओघादेसेसु पत्तेयं ॥ ६७६ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणोपयोगौ ।
योग्याः प्ररूपितव्या ओघादेशयोः प्रत्येकम् ॥ ६७६ ॥

अर्थ—उक्त वीस प्ररूपणाओंमेसे गुणस्थान और मार्गणास्थानमें यथायोग्य प्रत्येक गुणस्थान जीवसमास पर्याप्ति प्राण संज्ञा मार्गणा उपयोगका निरूपण करना चाहिये । **भावार्थ**—इस अधिकारमें यह बताते हैं कि किस २ मार्गणामें या गुणस्थानमें शेष किस २ प्ररूपणाका अन्तर्भाव होता है । परन्तु इस अन्तर्भावका निरूपण यथायोग्य होना चाहिये ।

किस २ मार्गणामें कौन २ गुणस्थान होते हैं ? उत्तरः—

चउपण चोद्दस चउरो णिरयादिसु चोद्दसं तु पंचक्खे ।
तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणट्ठाणं ॥ ६७७ ॥

चत्वारि पञ्च चतुर्दश चत्वारि निरयादिषु चतुर्दश तु पञ्चाक्षे ।
त्रसकाये शेषेन्द्रियकाये मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—गतिमार्गणाकी अपेक्षासे क्रमसे नरकगगितमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं, और तिर्यग्गतिमें पांच, मनुष्यगतिमें चौदह, तथा देवगतिमें नरकगतिके समान चार गुणस्थान होते हैं । इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवोंके चौदह गुणस्थान और शेष एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त जीवोंके केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । कायमार्गणाकी अपेक्षा त्रसकायके चौदह और शेष स्थावर कायके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । **भावार्थ**—यहां पर यह बताया है कि अमुक २ गति इन्द्रिय या कायवाले जीवोंके अमुक २ गुणस्थान होता है । इसी तरह जीवसमासादिकोंको भी यथायोग्य समझना चाहिये । जैसे कि नरक और देवगतिमें पर्याप्ति और निर्वृत्यपर्याप्ति ये दो जीवसमास होते हैं । तिर्यग्गतिमें चौदह तथा मनुष्यगतिमें संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास

होते हैं । इन्द्रिय मार्गणामें एकेन्द्रिय जीवोंके बादर पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवोंके अपने २ पर्याप्त अपर्याप्त इसतरह दो २ जीवसमास होते हैं । पंचेन्द्रियमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त असंज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं । कायमार्गणाकी अपेक्षा स्थावरकायमें एकेन्द्रियके समान चार जीवसमास होते हैं । और त्रसकायमें शेष दश जीवसमास होते हैं ।

मज्झिमचउमणवयणे सण्णिप्पहुदिं दु जाव खीणोत्ति ।
सेसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो ॥ ६७८ ॥

मध्यमचतुर्मनोवचनयोः संज्ञिप्रभृतिस्तु यावत् क्षीण इति ।
शेषाणां योगीति च अनुभयवचनं तु विकलतः ॥ ६७८ ॥

अर्थ—असत्यमन उभयमन असत्य वचन उभय वचन इन चार योगोंके स्वामी संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायपर्यंत बारह गुणस्थानवाले जीव हैं । और सत्यमन अनुभयमन सत्यवचन इनके स्वामी आदिके तेरह गुणस्थानवाले जीव हैं । अनुभय वचनयोग विकलत्रयसे लेकर सयोगीपर्यन्त होता है । अनुभय वचनको छोड़कर शेष तीन प्रकारका वचन और चार प्रकारका मन, इनमें एक संज्ञी पर्याप्त ही जीवसमास है । और अनुभय वचनमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच जीवसमास होते हैं ।

ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगोत्ति ।
तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ॥ ६७९ ॥

औरालं पर्याप्ते स्थावरकायादि यावत् योगीति ।
तन्मिश्रमपर्याप्ते चतुर्गुणस्थानेषु नियमेन ॥ ६७९ ॥

अर्थ—औदारिककाययोग, स्थावर एकेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगी पर्यन्त होता है । और औदारिकमिश्रकाययोग नियमसे चार अपर्याप्त गुणस्थानोंमें ही होता है । औदारिक काययोगमें पर्याप्त सात जीवसमास होते हैं, और मिश्रयोगमें अपर्याप्त सात जीवसमासे हैं ।

अपर्याप्त चार गुणस्थानोंको गिनाते हैं ।

मिच्छे सासणसम्मे पुंवेदयदे कवाडजोगिम्मि ।
णरतिरियेवि य दोण्णिवि होंतित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६८० ॥

मिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वे पुंवेदायते कपाटयोगिनि ।
नरतिरश्चोरपि च द्वावपि भवन्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६८० ॥

---

१ गुणस्थानोंका क्रम गुणस्थानाधिकारसे समझना । २ इनमें एक सयोगीको मिलानेसे आठ जीवसमास होते हैं ।

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, पुरुषवेदके उदयसंयुक्त असंयत, तथा कपाटसमुद्धात करनेवाले सयोगकेवली, इन चार स्थानोंमें ही औदारिकमिश्रकाययोग होता है। तथा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्रकाययोग ये दोनों ही मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु ।
सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्सजोगो हु ॥ ६८१ ॥

वैगूर्वं पर्याप्ते इतरे खलु भवति तस्य मिश्रं तु ।
सुरनिरयचतुःस्थाने मिश्रे नहि मिश्रयोगो हि ॥ ६८१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतपर्यंत चारो ही गुणस्थानवाले देव और नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिक काययोग होता है, और अपर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिकमिश्रयोग होता है; किन्तु यह मिश्रयोग चार गुणस्थानोंमेंसे मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता; क्योंकि कोई भी मिश्रयोग मिश्रगुणस्थानमें नहीं होता। वैक्रियिक योगमें एक संज्ञीपर्याप्त ही जीवसमास है और मिश्रयोगमें एक संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त जीवसमास है।

आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु ।
अंतोमुहुत्तकाले छट्ठगुणे होदि आहारो ॥ ६८२ ॥

आहारः पर्याप्ते इतरे खलु भवति तस्य मिश्रस्तु ।
अंतर्मुहूर्तकाले षष्ठगुणे भवति आहारः ॥ ६८२ ॥

अर्थ—आहारकाययोय पर्याप्त अवस्थामें होता है, और आहारकमिश्रयोग अपर्याप्त अवस्थामें होता है। ये दोनों ही योग छट्ठे गुणस्थानवाले मुनिके ही होते हैं। और इनके उत्कृष्ट और जघन्य कालका प्रमाण अंतर्मुहूर्त ही है। **भावार्थ**—यहांपर जो पर्याप्तता या अपर्याप्तता कही है वह आहारक शरीरकी अपेक्षासे कही है, औदारिक शरीरकी अपेक्षासे नहीं कही है; क्योंकि औदारिकशरीरसम्बन्धी अपर्याप्तता छट्ठे गुणस्थानमें नहीं होती।

ओरालियमिस्सं वा चउगुणठाणेसु होदि कम्मइयं ।
चदुगदिविग्गहकाले जोगिस्स य पदरलोगपूरणगे ॥ ६८३ ॥

औरालिकमिश्रो वा चतुर्गुणस्थानेषु भवति कार्मणम् ।
चतुर्गतिविग्रहकाले योगिनश्च प्रतरलोकपूरणके ॥ ६८३ ॥

अर्थ—औदारिक मिश्रयोगकी तरह कार्मण योग भी चार गुणस्थानोंमें और चारों विग्रहगतियोंके कालमें होता है, विशेषता केवल इतनी है कि औदारिकमिश्रयोगको जो सयोगकेवलिगुणस्थानमें बताया है सो कपाटसमुद्धात समयमें बताया है, और कार्मणयोगको प्रतर और लोकपूरण समुद्धात समयमें बताया है। यहां पर औदारिकमिश्रकी तरह जीवसमास भी आठ होते हैं।

थावरकायप्पहुदी संढो सेसा असण्णिआदी य ।
अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६८४ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः षण्ढः शेषा असंज्ञ्यादयश्च ।
अनिवृत्तेश्च प्रथमो भाग इति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६८४ ॥

अर्थ—वेदमार्गणाके तीन भेद हैं, स्त्री, पुरुष, नपुंसक । इसमें नपुंसक वेद स्थावरकाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरणके पहले सवेद भागपर्यन्त रहता है । अत एव इसमें गुणस्थान नव और जीवसमास चौदह होते हैं । शेष स्त्री और पुरुषवेद असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरणके सवेद भाग तक होते हैं। यहां पर गुणस्थान तो पहलेकी तरह नव ही है; किन्तु जीवसमास असंज्ञी पंचेन्द्रियके पर्याप्त अपर्याप्त और संज्ञीके पर्याप्त अपर्याप्त इसतरह चार ही होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी अणियट्टीबितिचउत्थभागोत्ति ।
कोहतियं लोहो पुण सुहमसरागोत्ति विण्णेयो ॥ ६८५ ॥

स्थावरकायप्रभृति अनिवृत्तिद्वित्रिचतुर्थभाग इति ।
क्रोधत्रिकं लोभः पुनः सूक्ष्मसराग इति विज्ञेयः ॥ ६८५ ॥

अर्थ—कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोध मान माया ये तीन कषाय स्थावरकायमिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति करणके दूसरे तीसरे चौथे भाग तक क्रमसे रहते हैं । और लोभकषाय दशमे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक रहता है । अतएव आदिके तीन कषायोमें गुणस्थान नव और लोभकषायमें दश होते हैं; किन्तु जीवसमास दोनों जगह चौदह २ ही होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी मदिसुदअण्णाणयं विभंगो दु ।
सण्णीपुण्णप्पहुदी सासणसम्मोत्ति णायव्वो ॥ ६८६ ॥

स्थावरकायप्रभृति मतिश्रुताज्ञानकं विभङ्गस्तु ।
संज्ञिपूर्णप्रभृति सासनसम्यगिति ज्ञातव्यः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—कुमति और कुश्रुत ज्ञान स्थावरकाय–मिथ्यादृष्टिसे लेकर सासादन गुणस्थानतक होते हैं । विभङ्गज्ञान संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सासदनपर्यन्त होता है । कुमति कुश्रुत ज्ञानमें गुणस्थान दो और जीवसमास चौदह होते हैं । विभङ्गमें गुणस्थान दो और जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है ।

सण्णाणतिगं अविरदसम्मादी छट्ठगादि मणपज्जो ।
खीणकसायं जाव दु केवलणाणं जिणे सिद्धे ॥ ६८७ ॥

सद्ज्ञानत्रिकमविरतसम्यगादि षष्ठकादिर्मनःपर्ययः ।
क्षीणकषायं यावत्तु केवलज्ञानं जिने सिद्धे ॥ ६८७ ॥

अर्थ—आदिके तीन सम्यग्ज्ञान (मति श्रुत अवधि) अव्रतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीण-कषायपर्यन्त होते हैं । मनःपर्ययज्ञान छट्ठे गुणस्थानसे लेकर बारहमे गुणस्थान तक होता है । और केवलज्ञान तेरहमे चौदहमे गुणस्थानमें तथा सिद्धोंके होता है । **भावार्थ**—आदिके तीन सम्यग्ज्ञानोमें गुणस्थान नव और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । मनःपर्यय ज्ञानमें गुणस्थान सात और जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही है । यहां पर यह शंका नहीं हो सकती कि आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षा अपर्याप्तता भी सम्भव है इसलिये यहां दो जीवसमास कहने चाहिये ? क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानवालेके नियमसे आहारक-ऋद्धि नहीं होती । केवलज्ञानकी अपेक्षा गुणस्थान दो (सयोगी, अयोगी) और जीवसमास भी संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं। सयोगकेवलियों के समुद्घात समयमें अपर्याप्तता भी होती है यह पहले कहचुके हैं । गुणस्थानोंसे रहित सिद्धोंके भी केवलज्ञान होता है ।

अयदोत्ति हु अविरमणं देसे देसो पमत्त इदरे य ।
परिहारो सामाइयछेदो छट्ठादि थूलोत्ति ॥ ६८८ ॥
सुहमो सुहमकसाये संते खीणे जिणे जहक्खादं ।
संजममग्गणभेदा सिद्धे णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६८९ ॥

अयत इति अविरमणं देशे देशः प्रमत्तेतरस्मिन् च ।
परिहारः सामायिकश्छेदः षष्ठादिः स्थूल इति ॥ ६८८ ॥
सूक्ष्मः सूक्ष्मकषाये शान्ते क्षीणे जिने यथाख्यातम् ।
संयममार्गणभेदाः सिद्धे न सन्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६८९ ॥

अर्थ—संयममार्गणामें असंयमको भी गिनाया है, इसलिये यह (असंयम) मिथ्यादृष्टिसे लेकर अव्रतसम्यग्दृष्टितक होता है। अतः यहां पर गुणस्थान चार और जीवसमास चौदह होते हैं। देशसंयम पांचमे गुणस्थानमें ही होता है। अतः यहां पर गुणस्थान एक और जीवसमास भी एक संज्ञी पर्याप्त ही होता है । परिहारविशुद्धि संयम छट्ठे सातमे गुणस्थानमें ही होता है, यहांपर भी जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है; क्योंकि परिहारविशुद्धिवाला आहरक नहीं होता । सामायिक और छेदोपस्थापना संयम छट्ठेसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होता है । इसलिये यहांपर गुणस्थान चार और जीवसमास दो होते हैं । सूक्ष्मसांपराय संयम दशमे गुणस्थानमें ही होता है । अतः यहांपर गुणस्थान और जीवसमास एक १ ही है । यथाख्यात संयम उपशांतकषाय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवलियोंके होता है । यहां पर गुणस्थान चार और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त तथा केवलसमुद्घातकी अपेक्षा अपर्याप्त ये दो होते हैं । सिद्ध गुणस्थान और मार्गणाओंसे रहित हैं अतः उनके कोई भी संयम नहीं होता ।

क्रमप्राप्त दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा यथासम्भव गुणस्थान और जीवसमास घटित करते हैं।

चउरक्खथावरविरदसम्माइट्ठी दु खीणमोहोत्ति ।
चक्खुअचक्खू ओही जिणसिद्धे केवलं होदि ॥ ६९० ॥

चतुरक्षस्थावराविरतसम्यग्दृष्टिस्तु क्षीणमोह इति ।
चक्षुरचक्षुरवधिः जिनसिद्धे केवलं भवति ॥ ६९० ॥

अर्थ—दर्शनके चार भेद हैं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन यह पहले बताचुके हैं। इनमें पहला चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है। और अचक्षुदर्शन भी स्थावरकायसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त ही होता है। तथा अवधिदर्शन अव्रतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है । केवलदर्शन सयोगकेवल और अयोगकेवल इन दो गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके होता है । **भावार्थ**—चक्षुदर्शनमें गुणस्थान बारह और चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके असंज्ञी संज्ञीसम्बन्धी अपर्याप्त पर्याप्तकी अपेक्षा जीवसमास छह होते हैं। अचक्षुदर्शनमें गुणस्थान बारह और जीवसमास चौदह होते हैं। अवधिदर्शनमें गुणस्थान नवं और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । केवलदर्शनमें गुणस्थान दो और जीवसमास भी दो होते हैं । विशेषता यह है कि यह (केवलदर्शन) गुणस्थानातीत सिद्धोंके भी होता है ।

लेश्याकी अपेक्षासे गुणस्थान और जीवसमासोंका वर्णन करते हैं ।

थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतियलेस्सा ।
सण्णीदो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ ॥ ६९१ ॥

स्थावरकायप्रभृति अविरतसम्यगिति अशुभत्रिकलेश्याः ।
संज्ञितः अप्रमत्तो यावत्तु शुभास्तिस्रो लेश्याः ॥ ६९१ ॥

अर्थ—लेश्याओंके छह भेदोंको पहले बताचुके हैं । उनमें आदिकी कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्या स्थावरकायसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त होती हैं। और अंतकी पीत पद्म शुक्ल ये तीन शुभलेश्या संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होती हैं । **भावार्थ**—अशुभ लेश्याओंमें गुणस्थान चार और जीवसमास चौदह होते हैं, तथा शुभलेश्याओंमें जीवसमास दो होते हैं ।

इस कथनसे शुक्ललेश्या भी सातमे गुणस्थानतक ही सिद्ध होती है अतः शुक्ललेश्याके विषयमें अपवादात्मक विशेष कथन करते हैं ।

णवरि य सुक्का लेस्सा सजोगिचरिमोत्ति होदि णियमेण ।

१ क्योंकि यह समीचीन अवधिज्ञानकी अपेक्षासे कथन है। जो मिथ्या अवधि है उसको विभंग कहते हैं। विभंगके पहले दर्शन नहीं होता ।

गयजोगिम्मि वि सिद्धे लेस्सा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६९२ ॥

नवरि च शुक्ला लेश्या सयोगिचरम इति भवति नियमेन ।
गतयोगेऽपि च सिद्धे लेश्या नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६९२ ॥

अर्थ—शुक्ललेश्यामें यह विशेषता है कि वह संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोग-केवल गुणस्थानपर्यन्त होती है । और इसमें जीवसमास दो ही होते हैं । इसके ऊपर चौदहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके तथा सिद्धोंके कोई भी लेश्या नहीं होती यह परमागममें कहा है ।

थावरकायप्पहुदी अजोगि चरिमोत्ति होंति भवसिद्धा ।
मिच्छाइट्ठिट्ठाणे अभवसिद्धा हवंतित्ति ॥ ६९३ ॥

स्थावरकायप्रभृति अयोगिचरम इति भवन्ति भवसिद्धाः ।
मिथ्यादृष्टिस्थाने अभव्यसिद्धा भवन्तीति ॥ ६९३ ॥

अर्थ—भव्यसिद्ध स्थावरकाय–मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगिपर्यंत होते हैं । और अभव्य-सिद्ध मिथ्यादृष्टिस्थानमें ही रहते हैं । **भावार्थ**—भव्यत्वमार्गणाके दो भेद हैं, एक भव्य और दूसरे अभव्य–इन्हीको भव्यसिद्ध अभव्यसिद्ध भी कहते हैं । जिसके निमित्तसे बाह्य निमित्त मिलनेपर सिद्धपर्यायकी तथा उसके साधनभूत सम्यग्दर्शनादिसम्बन्धी शुद्धपर्यायकी प्राप्ति होसके जीवकी उस शक्तिविशेषको **भव्यत्वशक्ति** कहते हैं । जिसके निमित्तसे बाह्य निमित्तकेमिलने पर भी सम्यग्दर्शनादिककी तथा उसके कार्यरूप सिद्धपर्यायकी प्राप्ति न हो सके जीवकी उस शक्तिविशेषको अभव्यत्वशक्ति कहते हैं । भव्यत्वशक्तिवालोंको भव्य और अभव्यत्वशक्तिवाले जीवोंको अभव्य कहते हैं । भव्यजीवोंके चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमास होते हैं । और अभव्य जीवोंके चौदह जीवसमास और एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है ।

सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं ।

मिच्छो सासणमिस्सो सगसगठाणम्मि होदि अयदादो ।
पढमुवसमवेदगसम्मत्तदुगं अप्पमत्तोत्ति ॥ ६९४ ॥

मिथ्यात्वं सासनमिश्रौ स्वकस्वकस्थाने भवति अयतात् ।
प्रथमोपशमवेदकसम्यक्त्वद्विकमप्रमत्त इति ॥ ६९४ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हैं मिथ्यात्व, सासन, मिश्र, औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक । इनमें आदिके तीन सम्यक्त्व तो अपने २ गुणस्थानमें ही होते हैं । और प्रथमोपशम तथा वेदक ये दो सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातमे गुणस्थानतक होते हैं । **भावार्थ**—मिथ्यादर्शनका गुणस्थान एक प्रथम और जीवसमास चौदह । सासादनका

गुणस्थान एक दूसरा जीवसमास सात होते हैं। वे इस प्रकार हैं कि बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इनसम्बन्धी अपर्याप्त और एक संज्ञीपर्याप्त। मिश्रदर्शनका गुणस्थान एक तीसरा और जीवसमास भी संज्ञी पर्याप्त यह एक ही होता है। उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं—एक प्रथमोपशम दूसरा द्वितीयोपशम। जो प्रतिपक्षी पांच या सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।और जो सम्यग्दर्शन तीन दर्शनमोहनीयप्रकृतियोंके उपशमके साथ २ चार अनंतानुबंधी कषायोंके विसंयोजनसे उत्पन्न होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इनमेंसे एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व तथा वेदक सम्यक्त्व असंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व अवस्थामें मरण नहीं होता। इसलिये जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है। और वेदकसम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। क्योंकि प्रथम नरक, भवनत्रिकको छोड़कर शेष देव, भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें अपर्याप्त अवस्थामें भी वेदक सम्यक्त्व रहता है।

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वको कहते हैं।

विदियुवसमसम्मत्तं अविरदसम्मादि संतमोहोत्ति।
खइगं सम्मं च तहा सिद्धोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६९५ ॥

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमविरतसम्यगादिशांतमोहइति।
क्षायिकं सम्यक्त्वं च तथा सिद्धइति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६९५ ॥

अर्थ—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर उपशांत मोहपर्यन्त होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सिद्धपर्यन्त होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त और देव अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। तथा यह सम्यक्त्व सिद्धोंके भी होता है; परन्तु वहांपर कोई भी जीवसमास नहीं होता। **भावार्थ**—यहां पर चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ गुणस्थानमें जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व बताया है उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातमे गुणस्थानमें ही उत्पन्न होता है; परन्तु वहांसे श्रेणिका आरोहण करके जब ग्यारहमे गुणस्थानसे नीचे गिरता है तब छट्ठे पांचमे चौथे गुणस्थानमें भी आता है इस अपेक्षासे इन गुणस्थानोंमें भी द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है।

१ विशेषता इतनी है कि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सासादन गुणस्थानको प्राप्त होता [उ]सके संज्ञीपर्याप्त और देवअपर्याप्त ये दो ही जीवसमास होते हैं। २ अनंतानुबंधीका अप्रत्याख्याना[दि]रूप परिणमन होना। ३ वेदकसम्यक्त्वका लक्षण पहले कह चुके हैं।

संज्ञामार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं ।

सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओत्ति होदि णियमेण ।
थावरकायप्पहुदी असण्णित्ति हवे असण्णी हु ॥ ६९६ ॥

संज्ञी संज्ञिप्रभृतिः क्षीणकषाय इति भवति नियमेन ।
स्थावरकायप्रभृतिः असंज्ञीति भवेदसंज्ञी हि ॥ ६९६ ॥

अर्थ—संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं । इनमें गुणस्थान बारह और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । असंज्ञी जीव स्थावरकायसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रियपर्यन्त होते हैं । इनमें गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही होता है, और जीवसमास संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंको छोड़कर शेष बारह होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी सजोगिचरिमोत्ति होदि आहारी ।
कम्मइय अणाहारी अजोगिसिद्धे वि णायव्वो ॥ ६९७ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः सयोगिचरम इति भवति आहारी ।
कार्मण अनाहारी अयोगिसिद्धेपि ज्ञातव्यः ॥ ६९७ ॥

अर्थ—स्थावरकायमिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त आहारी होते हैं । और कार्मणकाययोगवाले तथा अयोगकेवली अनाहारक समझने चाहिये । **भावार्थ**—कार्मणकाययोग और अयोगकेवल गुणस्थानवाले जीवोंको छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव आहारक होते हैं । आहारक जीवोंके आदिके तेरह गुणस्थान और चौदह जीवसमास होते हैं । अनाहारक जीवोंके गुणस्थान पांच (मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सयोगी अयोगी) और जीवसमास सात अपर्याप्त और एक अयोगीसम्बन्धी पर्याप्त इसप्रकार आठ होते हैं ।

किस २ गुणस्थानमें कौन २ सा जीवसमास होता है यह घटित करते हैं ।

मिच्छे चोद्दस जीवा सासण अयदे पमत्तविरदे य ।
सण्णिदुगं सेसगुणे सण्णीपुण्णो दु खीणोत्ति ॥ ६९८ ॥

मिथ्यात्वे चतुर्दश जीवाः सासनायते प्रमत्तविरते च ।
संज्ञिद्विकं शेषगुणे संज्ञिपूर्णस्तु क्षीण इति ॥ ६९८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें चौदह जीवसमास हैं । सासादन असंयत प्रमत्तविरत चकारसे सयोगकेवली इनमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । शेष गुणस्थानोंमें संज्ञीपर्याप्त एक ही जीवसमास होता है ।

मार्गणास्थानोंमें जीवसमासोंको संक्षेपसे दिखाते हैं ।

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसेसु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेवं णेयाणि समासठाणाणि ॥ ६९९ ॥

तिर्यग्गतौ चतुर्दश भवन्ति शेषेषु जानीहि द्वौ द्वौ तु ।
मार्गणास्थानस्यैवं ज्ञेयानि समासस्थानानि ॥ ६९९ ॥

अर्थ—मार्गणास्थानके जीवसमासोंको संक्षेपसे इसप्रकार समझना चाहिये कि तिर्यगतिमार्गणामें तो चौदह जीवसमास होते हैं । और शेष समस्त गतियोंमें दो दो ही जीवसमास होते हैं ।

गुणस्थानोंमें पर्याप्ति और प्राणोंको बताते हैं ।

पज्जत्ती पाणावि य सुगमा भाविंदयं ण जोगिम्हि ।
तहि वाचुस्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ ॥ ७०० ॥

पर्याप्तयः प्राणा अपि च सुगमा भावेन्द्रियं न योगिनि ।
तस्मिन् वागुच्छ्वासायुष्ककायत्रिकद्विकमयोगिन आयुः ॥ ७०० ॥

अर्थ—पर्याप्ति और प्राण ये सुगम हैं, इसलिये यहां पर इनका पृथक् उल्लेख नहीं करते; क्योंकि बारहमे गुणस्थानतक सब ही पर्याप्ति और सब ही प्राण होते हैं । तेरहमे गुणस्थानमें भावेन्द्रिय नहीं होती; किन्तु द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षा छहों पर्याप्ति होती हैं । परन्तु प्राण यहांपर चार ही होते हैं—वचन श्वासोच्छ्वास आयु कायबल । इसी गुणस्थानमें वचनबलका अभाव होनेसे तीन और श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेसे दो प्राण रहते हैं । चौदहमे गुणस्थानमें काययोगका भी अभाव होजानेसे केवल आयु प्राण ही रहता है ।

क्रमप्राप्त संज्ञाओंको गुणस्थानोंमें बताते हैं ।

छट्ठोत्ति पढमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा ।
पुव्वो पढमणियट्टी सुहुमोत्ति कमेण सेसाओ ॥ ७०१ ॥

षष्ठ इति प्रथमसंज्ञा सकार्या शेषाश्च कारणापेक्षाः ।
अपूर्वः प्रथमानिवृत्तिः सूक्ष्म इति क्रमेण शेषाः ॥ ७०१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तपर्यन्त आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चारों ही संज्ञी कार्यरूप होती हैं । किन्तु इसके ऊपर अप्रमत्त आदिकमें जो तीन आदिक संज्ञा होती हैं वे सब कारणकी अपेक्षासे होती हैं । छट्ठे गुणस्थानमें आहारसंज्ञाकी व्युच्छित्ति होजाती है। शेष तीन संज्ञा कारणकी अपेक्षासे अपूर्वकरणपर्यन्त होती हैं । यहांपर (अपूर्वकरणमें) भयसंज्ञाकी भी व्युच्छित्ति होजाती है। शेष दो संज्ञा अनिवृत्तिकरणके सवेदभागपर्यन्त होती हैं । यहां पर मैथुनसंज्ञाका विच्छेद होनेसे सूक्ष्मसांपरायमें एक परिग्रह संज्ञा ही होती है । इस परिग्रह संज्ञाका भी यहां विच्छेद होजानेसे ऊपर उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोमें कोई भी संज्ञा नहीं होती ।

मग्गण उवजोगावि य सुगमा पुव्वं परूविदत्तादो।
गदिआदिसु मिच्छादी परूविदे रूविदा होंति ॥ ७०२ ॥

मार्गणा उपयोगा अपि च सुगमाः पूर्वं प्ररूपितत्वात्।
गत्यादिषु मिथ्यात्वादौ प्ररूपिते रूपिता भवंति ॥ ७०२ ॥

अर्थ—पहले मार्गणास्थानकमें गुणस्थान और जीवसमासादिका निरूपण करचुके हैं इसलिये यहां गुणस्थानके प्रकरणमें मार्गणा और उपयोगका निरूपण करना सुगम है। **भावार्थ**—मार्गणा और उपयोग किसतरह सुगम है यह संक्षेपमें यहां पर स्पष्ट करते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकादि चारो ही गति पर्याप्त और अपर्याप्त होती हैं। सासादन गुणस्थानमें नरकगतिको छोड़कर शेष तीनों गति पर्याप्त अपर्याप्त होती हैं। और नरक गति पर्याप्त ही है। मिश्रगुणस्थानमें चारों ही गति पर्याप्त ही होती हैं। असंयत गुणस्थानमें प्रथम नरक पर्याप्त भी है अपर्याप्त भी है। शेप छहों नरक पर्याप्त ही हैं। तिर्यग्गतिमें भोगभूमिज तिर्यंच पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं। कर्मभूमिज तिर्यंच पर्याप्त ही होते हैं। मनुष्यगतिमें भोगभूमिज मनुष्य और कर्मभूमिज मनुष्य भी पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं। देवगतिमें भवनत्रिक पर्याप्त ही होते हैं। और वैमानिक देव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। देशसंयत गुणस्थानमें कर्मभूमिज तिर्यंच और मनुष्य ये दो ही और पर्याप्त ही होते हैं। प्रमत्तगुणस्थानमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं। किन्तु आहारक शरीरकी अपेक्षा पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं। अप्रमत्तसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं। सयोगकेवलियोंमें पर्याप्त तथा समुद्घातकी अपेक्षा अपर्याप्त भी मनुष्य होते हैं। अयोगकेवलियोंमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं। इन्द्रियमार्गणाके पांच भेद हैं। ये पांचो ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं। सासादनमें पांचो अपर्याप्त होते हैं; किन्तु पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही होता है अर्थात् अपर्याप्त अवस्थामें पांचो ही इन्द्रियवालोंके सासादन गुणस्थान होता है; किन्तु पर्याप्त अवस्थामें पंचेन्द्रियके ही सासादन गुणस्थान होता है। मिश्रगुणस्थानमें पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही है। असंयतमें पंचेन्द्रिय पर्याप्त वा अपर्याप्त होते हैं। देशसंयतसे लेकर अयोगीपर्यन्त सर्वगुणस्थानोंमें पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही होते है; किन्तु छट्ठे गुणस्थानमें आहारककी अपेक्षा और सयोगीमें समुद्घातकी अपेक्षा अपर्याप्त पंचेन्द्रिय भी होता है। कायके छह भेद हैं। पांच स्थावर और एक त्रस। ये छहों मिथ्यात्वमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं। सासादनमें बादर-पृथ्वी जल वनस्पती तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त ही होते हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं। मिश्रगुणस्थानसे लेकर अयोगीतक संज्ञी त्रसकाय पर्याप्त ही होता है; किन्तु असंयत गुणस्थानमें तथा

आहारककी अपेक्षा प्रमत्तमें और समुद्घातकी अपेक्षा सयोगीमें संज्ञीत्रसकाय अपर्याप्त भी होता है। भावयोग आत्माकी शक्तिरूप है यह पहले कहचुके हैं। मन–वचन–कायके निमित्तसे जीवप्रदेशोंके चंचल होनेको द्रव्य योग कहते हैं। इसके तीन भेद हैं, मन वचन काय। इसमें मन और वचनके चार २ भेद हैं—सत्य असत्य उभय अनुभय। काययोगके सात भेद हैं—औदारिक वैक्रियिक आहारक और इन तीनोंकेमिश्र तथा कार्माण। इस प्रकार योगके पन्द्रह भेद होते हैं। इनमेंसे किस २ गुणस्थानमें कितने २ योग होते हैं यह बतानेकेलिये आचार्य सूत्र करते हैं—

तिसु तेरं दस मिस्से सत्तसु णव छट्ठयम्मि एयारा।
जोगिम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं॥ ७०३॥

त्रिषु त्रयोदश दश मिश्रे सप्तसु नव षष्ठे एकादश।
योगिनि सप्त योगा अयोगिस्थानं भवेत् शून्यम्॥ ७०३॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत इन तीन गुणस्थानोंमें उक्त पन्द्रह योगोंमेंसे आहारक आहारकमिश्रको छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं। मिश्रगुणस्थानमें उक्त तेरह-योगमेंसे औदारिकमिश्र वैक्रियिकमिश्र कार्माण इन तीनोंके घटजानेसे शेष दश योग होते हैं। इसके ऊपर छट्ठे गुणस्थानको छोड़कर सात गुणास्थानोंमें नव योग होते हैं; क्योंकि उक्त दश योगोंमेंसे वैक्रियिक योग और भी घट जाता है। किन्तु छट्ठे गुणस्थानमें ग्यारह योग होते हैं; क्योंकि उक्त दश योगोंमेंसे वैक्रियिक योग घटता है और आहारक आहारकमिश्र ये दो योग मिलते हैं। सयोगकेवलीमें सातयोग होते हैं वे ये हैं सत्यमनोयोग अनुभवयोग सत्यवचनयोग अनुभयवचनयोग औदारिक औदारिकमिश्र कार्माण। अयोगकेवलीके कोई भी गुणस्थान नहीं होता। **भावार्थ**—इस सूत्रमें प्रत्येक गुणस्थानमें कितने २ योग होते हैं उनको बताकर अब वेदादिक मार्गणाओंको बताते हैं। वेदके तीन भेद हैं, स्त्री पुरुष नपुंसक। ये तीनों ही वेद अनिवृत्ति करणके सवेद भागपर्यन्त होते हैं—आगे किसी भी गुणस्थानमें नहीं होते। कषायके चार भेद हैं। क्रोध मान माय लोभ—इनमें प्रत्येकके अनंतानुबन्धी आदि चार २ भेद होते हैं। इस प्रकार कषायके सोलह भेद होते हैं। इनमेंसे मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थानमें अनंतानुबन्धी आदि चारो कषायका उदय रहता है। मिश्र और असंयतमें अनंतानुबंधीको छोड़कर शेष तीन कषाय रहते हैं। देशसंयतमें प्रत्याख्यान और संज्वलन ये दो ही कषाय रहते हैं। प्रमत्तादिक अनिवृत्तिकरणके दूसरे भागपर्यन्त संज्वलन कषाय रहता है। तीसरे भागमें संज्वलनके मान माया लोभ ये तीन ही भेद रहते हैं—क्रोध नहीं रहता। चौथे भागतक माया और लोभ, तथा पांचमे भागतक बादर लोभ रहता है। दशमे गुणस्थान तक सूक्ष्मलोभ रहता है। इसके ऊपर सर्व गुणस्थान कषायरहित

ही हैं । ज्ञानके आठ भेद हैं, कुमति कुश्रुत, विभंग, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल । इनमें आदिके तीन मिथ्या और अंतके पांच ज्ञान सम्यक् होते हैं । मिथ्यादृष्टि सासादनमें आदिके तीन ज्ञान होते हैं। मिश्रमें भी आदिके तीन ही ज्ञान होते हैं, परन्तु वे विपरीत या समीचीन नहीं होते; किन्तु मिश्ररूप होते हैं । असंयत देशसंयतमें सम्यग्ज्ञानोंमेंसे आदिके तीन होते हैं । प्रमत्तादिक क्षीणकषायपर्यन्त आदिके चार सम्यग्ज्ञान होते हैं । सयोगी अयोगीमें केवल केवलज्ञान ही होता है । संयमका सामान्यकी अपेक्षा एक सामायिक; किन्तु विशेष अपेक्षा सात भेद हैं । असंयम देशसंयम सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय यथाख्यात । इनमें आदिके चार गुणस्थानोंमें असंयम और पांचमें गुणस्थानमें देशसंयम होता है । प्रमत्त अप्रमत्तमें सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन संयम होते हैं । आठमे नवमेमें सामायिक छेदोपस्थापना दो ही संयम होते हैं । दशमे गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय होता है । इसके ऊपर सब गुणस्थानोंमें यथाख्यात संयम ही होता है । दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु अचक्षु अवधि केवल । मिश्रपर्यन्त तीन गुणस्थानोंमें चक्षु अचक्षु दो दर्शन होते हैं । असंयतादि क्षीणकषाय पर्यन्त चक्षु अचक्षु अवधि ये तीन दर्शन होते हैं । सयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलदर्शन ही होता है । लेश्याके छह भेद हैं, कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल । इनमें आदिकी तीन अशुभ और अंतकी तीन शुभ हैं । आदिके चार गुणस्थानोंमें छहों लेश्या होती हैं । देशसंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त तीन शुभ लेश्या होती हैं । इसके ऊपर सयोगी पर्यन्त शुक्ल लेश्या ही होती है । और अयोगी गुणस्थान लेश्यारहित है । भव्यमार्गणाके दो भेद हैं, भव्य अभव्य । मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें भव्य अभव्य दोनों होते हैं । सासादनादि क्षीणकषायपर्यन्त भव्य ही होते हैं । सयोगी और अयोगी भव्य अभव्य दोनोंसे रहित हैं । सम्यक्त्वके छह भेद हैं, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक । मिथ्यात्वमें मिथ्यात्व, सासादनमें सासादन, मिश्रमें मिश्र सम्यक्त्व होता है । असंयतसे अप्रमत्ततक उपशम वेदक क्षायिक तीनों सम्यक्त्व होते हैं । इसके ऊपर उपशमश्रेणीमें—अपूर्वकरण आदि उपशांतकषायतक उपशम और क्षायिक दो सम्यक्त्व होते हैं । क्षपक श्रेणीमें—अपूर्वकरण आदि समस्त गुणस्थानोंमें तथा सिद्धोंके क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है । संज्ञीमार्गणाके दो भेद हैं—एक संज्ञी दूसरा असंज्ञी । प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें संज्ञी असंज्ञी दोनों ही मार्गणा होती हैं । इसके आगे सासादन आदि क्षीणकषायपर्यन्त संज्ञी मार्गणा ही होती है । सयोगी अयोगीके मन नहीं होता अतः कोई भी संज्ञा नहीं होती । आहारमार्गणाके भी दो भेद हैं—एक आहार दूसरा अनाहार । मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सयोगी इनमें आहार अनाहार दोनों ही होते हैं । अयोगकेवली अनाहार ही होते हैं । शेष नव गुणस्थानोंमें आहार ही होता है ।

गुणस्थानोंमें मार्गणाओंको बताकर अब उपयोगको बताते हैं ।

दोण्हं पंच य छच्चेव दोसु मिस्सम्मि होंति वामिस्सा ।
सत्तुवजोगा सत्तसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥ ७०४ ॥

द्वयोः पञ्च च षट् चैव द्वयोर्मिश्रे भवन्ति व्यामिश्राः ।
सप्तोपयोगाः सप्तसु द्वौ चैव जिने च सिद्धे च ॥ ७०४ ॥

अर्थ—दो गुणस्थानोंमें पांच, और दोमें छह, मिश्रमें मिश्ररूप छह, सात गुणस्थानोंमें सात, जिन और सिद्धोंके दो उपयोग होते हैं । **भावार्थ**—उपयोगके मूलमें दो भेद हैं, एक ज्ञान दूसरा दर्शन । ज्ञानके आठ भेद हैं इनके नाम पहले बता चुके हैं । दर्शनके चार भेद हैं इनके भी नम पहले गिना चुके हैं । इसतरह उपयोगके बारह भेद हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व और सासादनमें आदिके तीन ज्ञान और आदिके दो दर्शन ये पांच उपयोग होते हैं । असंयत और देशसंयतमें मति श्रुत अवधि तथा चक्षु अचक्षु अवधिदर्शन ये छह उपयोग होते हैं। मिश्र गुणस्थानमें ये ही छह उपयोग मिश्ररूप होते हैं । प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें मनःपर्ययसहित सात उपयोग होते हैं । सयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो ही उपयोग होते हैं ।

इसप्रकार गुणस्थानोंमें वीसप्ररूपणानिरूपणनामा इक्कीसमा अधिकार समाप्त हुआ ।

इष्टदेवको नमस्कार करते हुए आलापाधिकारको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

गोयमथेरं पणमिय ओघादेसेसु वीसभेदाणं ।
जोजणिकाणालावं वोच्छामि जहाकमं सुणह ॥ ७०५ ॥

गौतमस्थविरं प्रणम्य ओघादेशयोः विंशभेदानाम् ।
योजनिकानामालापं वक्ष्यामि यथाक्रमं शृणुत ॥ ७०५ ॥

अर्थ—सिद्धोंको वा वर्धमान-तीर्थकरको यद्वा गौतमगणधरस्वामीको अथवा साधुसमूहको नमस्कार करके गुणस्थान और मार्गणाओंके योजनिकारूप वीस भेदोंके आलापको क्रमसे कहता हूं सो सुनो ।

ओघे चोदसठाणे सिद्धे वीसदिविहाणमालावा ।
वेदकषायविभिण्णे अणियट्टीपंचभागे य ॥ ७०६ ॥

ओघे चतुर्दशस्थाने सिद्धे विंशतिविधानामालापाः ।
वेदकषायविभिन्ने अनिवृत्तिपञ्चभागे च ॥ ७०६ ॥

अर्थ—चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानोंमें उक्त वीस प्ररूपणाओंके सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त ये तीन आलाप होते हैं । वेद और कषायकी अपेक्षासे अनिवृत्तिकरणके पांच भागोंमें पांच आलाप भिन्न २ समझने चाहिये ।

गुणस्थानोंमें आलापोंको बताते हैं ।

ओघे मिच्छदुगेवि य अयदपमत्ते सजोगिठाणम्मि ।
तिण्णेव य आलावा सेसेसिक्को हवे णियमा ॥ ७०७ ॥

ओघे मिथ्यात्वद्विऽके पि च अयतप्रमत्तयोः सयोगिस्थाने ।
त्रय एवचालापाः शेषेष्वेको भवेत् नियमात् ॥ ७०७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व सासादन असंयत प्रमत्त सयोगकेवली इन गुणस्थानोंमें तीनों आलाप होते हैं । शेष गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं ।

सामण्णं पज्जत्तमपज्जत्तं चेदि तिण्णि आलावा ।
दुवियप्पमपज्जत्तं लद्धीणिव्वत्तगं चेदि ॥ ७०८ ॥

सामान्यः पर्याप्तः अपर्याप्तश्चेति त्रय आलापाः ।
द्विविकल्पोऽपर्याप्तो लब्धिर्निर्वृत्तिकश्चेति ॥ ७०८ ॥

अर्थ—आलापके तीन भेद हैं-सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त । अपर्याप्तके दो भेद हैं एक लब्ध्यपर्याप्त दूसरा निर्वृत्त्यपर्याप्त ।

दुविहं पि अपज्जत्तं ओघे मिच्छेव होदि णियमेण ।
सासणअयदपमत्ते णिव्वत्तिअपुण्णगो होदि ॥ ७०९ ॥

द्विविधोप्यपर्याप्त ओघे मिथ्यात्व एव भवति नियमेन ।
सासादनायतप्रमत्तेषु निर्वृत्त्यपूर्णको भवति ॥ ७०९ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके अपर्याप्त आलाप समस्त गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं । सासादन असंयत प्रमत्त इनमें निर्वृत्त्यपर्याप्त आलाप होता है । **भावार्थ**—अपर्याप्तके जो दो भेद गिनाये हैं उनमेंसे प्रथम गुणस्थानमें दोनों और सासादन असंयत प्रमत्त इनमें एक निर्वृत्त्यपर्याप्त ही होता है; किन्तु सामान्य और पर्याप्त आलाप सर्वत्र होते हैं ।

जोगं पडि जोगिजिणे होदि हु णियमा अपुण्णगत्तं तु ।
अवसेसणवट्ठाणे पज्जत्तालावगो एक्को ॥ ७१० ॥

योगं प्रति योगिजिने भवति हि नियमादपूर्णकत्वं तु ।
अवशेषनवस्थाने पर्याप्तालापक एकः ॥ ७१० ॥

अर्थ—सयोगकेवलियोंमें योगकी (समुद्घातकी) अपेक्षासे नियमसे अपर्याप्तकता होती है; इसलिये उक्त पांच गुणस्थानोंमें तीन २ आलाप और शेष नव गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

क्रमप्राप्त चौदह मार्गणाओमें आलापोंका वर्णन करते हैं ।

सत्तण्हं पुढवीणं ओघे मिच्छे य तिण्णि आलावा ।
पढमाविरदेवि तहा सेसाणं पुण्णगालावो ॥ ७११ ॥

सप्तानां पृथिवीनामोघे मिथ्यात्वे च त्रय आलापाः ।
प्रथमाविरतेपि तथा शेषाणां पूर्णकालापः ॥ ७११ ॥

अर्थ—सातों ही पृथिवियोमें गुणस्थानोमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीन आलाप होते हैं । तथा प्रथमा पृथिवीके अविरत गुणस्थानमें भी तीन अलाप होते हैं । शेष पृथिवियोमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ**—प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथियोमें सासादन मिश्र असंयत ये तीन गुणस्थान पर्याप्त अवस्थामें ही होते हैं । अतः इन छह पृथिवीसम्बन्धी तीन गुणस्थानोमें और प्रथम पृथिवीके सासादन तथा मिश्रमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है शेष स्थानोमें तीनो ही आलाप होते हैं ।

तिरियचउक्काणोघे मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णे व ।
णवरि य जोणिणि अयदे पुण्णो सेसेवि पुण्णो दु ॥ ७१२ ॥

तिर्यक्चतुष्काणामोघे मिथ्यात्वद्विके अविरते च त्रय एव ।
नवरि च योनिन्ययते पूर्णः शेषेऽपि पूर्णस्तु ॥ ७१२ ॥

अर्थ—तिर्यञ्च पांच प्रकारके होते हैं—सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिमती, अपर्याप्त । इनमेंसे अंतके अपर्याप्तको छोड़कर शेष चार प्रकारके तिर्यंचोके पांच गुणस्थान होते हैं । जिनमेंसे मिथ्यात्व सासादन असंयत इन गुणस्थानोमें तीन २ आलाप होते हैं । इसमें भी इतनी विशेषता है कि योनिमती तिर्यंचके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है । शेष मिश्र और देशसंयतमें भी पर्याप्त ही आलाप होता है ।

तेरिच्छियलद्धिअपज्जत्ते एक्को अपुण्ण आलावो ।
मूलोघं मणुसतिये मणुसिणिअयदम्हिपज्जत्तो ॥ ७१३ ॥

तिर्यग्लब्ध्यपर्याप्ते एकः अपूर्ण आलापः ।
मूलोघं मनुष्यत्रिके मानुष्ययते पर्याप्तः ॥ ७१३ ॥

अर्थ—लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचोके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । मनुष्यके चार भेद हैं । सामान्य, पर्याप्त, योनिमत्, अपर्याप्त । इनमेंसे आदिके तीन मनुष्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं[1] । उनमें गुणस्थानसामान्यके समान ही आलाप होते हैं । विशेषता इतनी

---

[1] यहां यह शंका नहीं हो सकती कि 'योनिमत् मनुष्यके छठे आदि गुणस्थान किस तरह हो सकते हैं ?' क्योंकि जीवकाण्डमें जीवके भावोंकी प्रधानतासे वर्णन है । अतएव यहभी भावभेदकी अपेक्षा कथन है ।

है कि असंयत गुणस्थानवर्ती मानुषीके एक पर्याप्त ही आलाप होता है। **भावार्थ**—गुणस्थानोंमें जिस क्रमसे आलापोंका वर्णन किया है उस ही क्रमसे मनुष्यगतिमें भी आलापोंको समझना चाहिये; किन्तु विशेषता यह है कि योनिमत् मनुष्यके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है।

मणुसिणि पमत्तविरदे आहारदुगं तु णत्थि णियमेण।
अवगदवेदे मणुसिणि सण्णा भूदगदिमासेज्ज ॥ ७१४ ॥

मानुष्यां प्रमत्तविरते आहारद्विकं तु नास्ति नियमेन।
अपगतवेदायां मानुष्यां संज्ञा भूतगतिमासाद्य ॥ ७१४ ॥

अर्थ—जो द्रव्यसे पुरुष है; किन्तु भावकी अपेक्षा स्त्री है ऐसे प्रमत्तविरत जीवके आहारक शरीर और आहारक आङ्गोपाङ्ग नामकर्मका उदय नियमसे नहीं होता। वेदरहित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले भावस्त्री–मनुष्यके जो मैथुनसंज्ञा कही है वह भूतगतिन्यायकी अपेक्षासे कही है। **भावार्थ**—जिस तरह पहले कोई सेठ था परन्तु वर्तमानमें वह सेठ नहीं है तो भी पहलेकी अपेक्षासे उसको सेठ कहते हैं। इसी तरह वेदरहित जीवके यद्यपि वर्तमानमें मैथुनसंज्ञा नहीं है तथापि पहले थी इसलिये वहां पर मैथुनसंज्ञा कही जाती है। इस गाथामें जो **तु** शब्द पड़ा है उससे इतना विशेष समझना चाहिये कि **स्त्रीवेद या नपुंसकवेदके** उदयमें मनःपर्यय ज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम भी नहीं होता। द्रव्यस्त्रीके पांच ही गुणस्थान होते हैं; किन्तु भावमानुषीके चौदहों गुणस्थान होसकते हैं। इसमें भी भाववेद नौमे गुणस्थानसे ऊपर नहीं रहता। तथा आहारक ऋद्धि और परिहारविशुद्धिसंयमवाले जीवोंके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता।

णरलद्धिअपज्जत्ते एक्को दु अपुण्णगो दु आलावो।
लेस्साभेदविभिण्णा सत्त वियप्पा सुरट्ठाणा ॥ ७१५ ॥

नरलब्ध्यपर्याप्ते एकस्तु अपूर्णकस्तु आलापः।
लेश्याभेदविभिन्नानि सप्त विकल्पानि सुरस्थानानि ॥ ७१५ ॥

अर्थ—मनुष्यगतिमें जो लब्ध्यपर्याप्तक हैं उनके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है। देवगतिमें लेश्याभेदकी अपेक्षासे सात विकल्प होते हैं। **भावार्थ**—देवगतिमें लेश्याकी अपेक्षासे सात भेदोंको पहले बताचुके हैं कि; भवनत्रिकमें तेजका जघन्य अंश, सौधर्मयुगलमें तेजका मध्यमांश, सनत्कुमार युगलमें तेजका उत्कृष्ट अंश और पद्मका जघन्य अंश, ब्रह्मादिक छह स्वर्गोंमें पद्मका मध्यमांश, शतारयुगलमें पद्मका उत्कृष्ट और शुक्लका जघन्य अंश, आनतादिक तेरहमें शुक्लका मध्यमांश, अनुदिश और अनुत्तरमें शुक्ललेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है।

सव्वसुराणं ओघे मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णेव ।
णवरि य भवणतिकप्पित्थीणं च य अविरदे पुण्णो ॥ ७१६ ॥

सर्वसुराणामोघे मिथ्यात्वद्विके अविरते च त्रय एव ।
नवरि च भवनत्रिकल्पस्त्रीणां च च अविरते पूर्णः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—समस्त देवोंके चार गुणस्थान सम्भव हैं । उनमेंसे मिथ्यात्व सासादन अविरत गुणस्थानमें तीन ३ आलाप होते हैं । किन्तु इतनी विशेषता है कि भवनत्रिक देव और कल्पवासिनी देवी इनके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

मिस्से पुण्णालाओ अणुद्दिसाणुत्तरा हु ते सम्मा ।
अविरद तिण्णालावा अणुद्दिसाणुत्तरे होंति ॥ ७१७ ॥

मिश्रे पूर्णालापः अनुदिशानुत्तरा हि ते सम्यञ्चः ।
अविरते त्रय आलापा अनुदिशानुत्तरे भवन्ति ॥ ७१७ ॥

अर्थ—नव ग्रैवेयकपर्यन्त सामान्यसे समस्त देवोंके मिश्र गुणस्थानमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । इसके ऊपर अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी सब देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं; अतः इन देवोंके अविरत गुणस्थानमें तीन आलाप होते हैं ।

क्रमप्राप्त इन्द्रियमार्गणामें आलापोंको बताते हैं ।

बादरसुहमेइंदियवितिचउरिंदियअसण्णिजीवाणं ।
ओघे पुण्णे तिण्णि य अपुण्णगे पुण अपुण्णो दु ॥ ७१८ ॥

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिजीवानाम् ।
ओघे पूर्णे त्रयश्च अपूर्णके पुनः अपूर्णस्तु ॥ ७१८ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय–बादर सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंमेंसे जिनके पर्याप्ति–नामकर्मका उदय है उनके तीन आलाप होते हैं । और जिनके अपर्याप्ति-नामकर्मका उदय होता है उनके लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ**—निर्वृत्यपर्याप्तके भी पर्याप्ति नामकर्मका ही उदय रहता है अतः उसके भी तीन ही आलाप होते हैं ।

सण्णी ओघे मिच्छे गुणपडिवण्णे य मूलआलावा ।
लद्धियपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७१९ ॥

संज्ञ्योघे मिथ्यात्वे गुणप्रतिपन्ने च मूलालापाः ।
लब्ध्यपूर्णे एकः अपर्याप्तो भवति आलापः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—संज्ञी जीवके जितने गुणस्थान होते हैं उनमेंसे मिथ्यादृष्टि या विशेष गुणस्थानको प्राप्त होनेवालेके मूलके समान ही आलाप समझने चाहिये । और लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञीके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ**—संज्ञी जीवोंमेंसे तिर्यञ्चके पांच ही

गुणस्थान होते हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व सासादन असंयतमें तीन २ आलाप होते हैं । और मिश्र देशसंयतमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । दूसरे संज्ञी जीवोंमें सामान्य गुणस्थानोमें जो आलाप कहे हैं उसी तरह समझना चाहिये । संज्ञी जीवोंमें नारकी और देवोंके चार तथा मनुष्योंके चौदहों गुणस्थान होते हैं ।

क्रमप्राप्त कायमार्गणाके आलापोंको दो गथाओंमें गिनाते हैं ।

भूआउतेउवाऊणिच्चचदुग्गदिणिगोदगे तिण्णि ।
ताणं थूलेदरसु वि पत्तेगे तद्दुभेदेवि ॥ ७२० ॥
तसजीवाणं ओघे मिच्छादिगुणे वि ओघ आलाओ ।
लद्धिअपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७२१ ॥

भूअप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदके त्रयः ।
तेषां स्थूलेतरयोरपि प्रत्येके तद्विभेदेपि ॥ ७२० ॥
त्रसजीवानामोघे मिथ्यात्वादिगुणेऽपि ओघ आलापः ।
लब्ध्यपूर्णे एक अपर्याप्तो भवत्यालापः ॥ ७२१ ॥

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु नित्यनिगोद चतुर्गतिनिगोद इनके स्थूल और सूक्ष्म भेदोमें तथा प्रत्येकके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दो भेदोमें तीन २ आलाप होते हैं । त्रसजीवोमें चौदह गुणस्थान होते हैं । इनके आलापोमें कुछ विशेषता नहीं है । गुणस्थानसामान्यके जिस तरह आलाप बताये ह उसी तरह यहां भी समझना चाहिये । पृथ्वीसे लेकर त्रसपर्यंत जितने भेद हैं उनमें जो लब्ध्यपर्याप्त हैं उनके एक लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है ।

योगमार्गणामें आलापोंको बताते हैं ।

एक्कारसजोगाणं पुण्णगदाणं सपुण्णआलाओ ।
मिस्सचउक्कस्स पुणो सगएक्कअपुण्णआलाओ ॥ ७२२ ॥

एकादशयोगानां पूर्णगतानां स्वपूर्णालापः ।
मिश्रचतुष्कस्य पुनः स्वकैकापूर्णालापः ॥ ७२२ ॥

अर्थ—चार मनोयोग चार वचनयोग सात काययोग इन पंन्द्रह योगोंमेंसे औदारिकमिश्र वैक्रियिकमिश्र आहारकमिश्र कार्माण इन चार योगोंको छोड़कर शेष ग्यारह योगोमें अपना २ एक पर्याप्त आलाप होता है । और शेष उक्त चार योगोमें अपना २ एक अपर्याप्त आलाप ही होता है ।

अवशिष्ट मार्गणाओंके आलापोंको संक्षेपमें कहते हैं ।

वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघ आलाओ ।
णवरि य संढित्थीणं णत्थि हु आहारगाण दुगं ॥ ७२३ ॥

वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामेव आलापः ।
नवरि च पण्ढस्त्रीणां नास्ति हि आहारकानां द्विकम् ॥ ७२३ ॥

अर्थ—वेदमार्गणासे लेकर आहारमार्गणापर्यन्त दशमार्गणाओंमें अपने २ गुणस्थानके समान आलाप होते हैं । विशेषता इतनी है कि जो भावनपुंसक या भावस्त्रीवेदी हैं उनके आहारक–काययोग और आहारक–मिश्रकाययोग नहीं होता । **भावार्थ**—जिस २ मार्गणामें जो २ गुणस्थान सम्भव हैं और उनमें जो २ आलाप बताये हैं वे ही आलाप उन २ मार्गणाओंमें होते हैं इनको यथासम्भव लगालेना चाहिये । गुणस्थानोंके आलापोंको पहले बताचुके हैं अतः पुनः यहांपर लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा गइंदिया काया ।
जोगा वेदकसाया णाणजमा दंसणा लेस्सा ॥ ७२४ ॥
भव्वा सम्मत्तावि य सण्णी आहारगा य उवजोगा ।
जोग्गा परूविदव्वा ओघादेसेसु समुदायं ॥ ७२५ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाः गतीन्द्रियाणि कायाः ।
योगा वेदकषायाः ज्ञानयमा दर्शनानि लेश्याः ॥ ७२४ ॥
भव्याः सम्यक्त्वान्यपि च संज्ञिनः आहारकाश्चोपयोगाः ।
योग्याः प्ररूपितव्या ओघादेशयोः समुदायम् ॥ ७२५ ॥

अर्थ—चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, छह पर्याप्ति, दश प्राण, चार संज्ञा, चार गति, पांच इन्द्रिय, छह काय, पन्द्रह योग, तीन वेद, चार कषाय, आठ ज्ञान, सात संयम, चार दर्शन, छह लेश्या, भव्यत्व अभव्यत्व, छह प्रकारके सम्यक्त्व, संज्ञित्व असंज्ञित्व, आहारक अनाहरक, बारह प्रकारका उपयोग इन सबका यथायोग्य गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें निरूपण करना चाहिये । **भावार्थ**—इन बीस स्थानोंमेंसे कोई एक विवक्षित स्थान शेष स्थानोंमें कहां २ पर पाया जाता है इस बातका आगमके अविरुद्ध वर्णन करना चाहिये । जैसे चौदह गुणस्थानोंमेंसे कौन २ सा गुणस्थान जीवसमासके चौदहभेदोंमेंसे किस २ विवक्षित भेदमें पाया जाता है । अथवा जीवसमास या पर्याप्तिका कोई एक विवक्षित भेदरूप स्थान किस २ गुणस्थानमें पायाजाता है इसका वर्णन करना चाहिये । इसी प्रकार दूसरे स्थानोंमें भी समझना चाहिये ।

जीवसमासमें कुछ विशेषता है उसको बताते हैं ।

ओघे आदेसे वा सण्णीपज्जंतगा हवे जत्थ ।
तत्त य उणवीसंता इगिबितिगुणिदा हवे ठाणा ॥ ७२६ ॥

ओघे आदेशे वा संज्ञिपर्यन्तका भवेयुर्यत्र ।
तत्र चैकोनविंशांता एकद्वित्रिगुणिता भवेयुः स्थानानि ॥ ७२६ ॥

अर्थ—सामान्य (गुणस्थान) या विशेषस्थानमें (मार्गणास्थानमें) संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्यन्त मूलजीवसमासोंका जहां निरूपण किया है वहां उत्तर जीवसमासस्थानके भेद उन्नीस-पर्यन्त होते हैं। और इनका भी एक दो तीनके साथ गुणा करनेसे क्रमसे उन्नीस अड़-तीस और सत्तावन जीवसमासके भेद होते हैं। **भावार्थ**—गुणस्थान और मार्गणाओंमें जहां संज्ञिपर्यन्त भेद बताये हैं, वहां ही जीवसमासके एकसे लेकर उन्नीसपर्यन्त और पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंसे गुणा करनेकी अपेक्षा अड़तीस भेद, तथा पर्याप्त निर्वृत्य-पर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त इन तीन भेदोंसे गुणा करनेकी अपेक्षा सत्तावन भेद भी समझने चाहिये। इसका विशेष स्वरूप जीवसमासाधिकार कहचुके हैं।

"गुणजीवे"—त्यादि गाथाके द्वारा बताये हुए वीस भेदोंकी योजना करते हैं।

वीरमुहकमलणिग्गयसयलसुयग्गहणपयडणसमत्थं ।
णमिऊणगोयममहं सिद्धंतालावमणुवोच्छं ॥ ७२७ ॥

वीरमुखकमलनिर्गतसकलश्रुतग्रहणप्रकटनसमर्थम् ।
नत्वा गौतममहं सिद्धान्तालापमनुवक्ष्ये ॥ ७२७ ॥

अर्थ—अंतिम तीर्थंकर श्रीवर्धमानस्वामीके मुखकमलसे निर्गत समस्त श्रुतसिद्धान्तके ग्रहण करने और प्रकट करनेमें समर्थ श्रीगौतमस्वामीको नमस्कार करके मैं उस सिद्धान्ता-लापको कहूंगा जो कि वीर भगवान्के मुखकमलसे उपदिष्ट श्रुतमें वर्णित समस्त पदार्थोंके प्रकट करनेमें समर्थ है। **भावार्थ**—जिस तरह श्रीगौतमस्वामी तीर्थंकर भगवान्के समस्त उपदेशको ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ हैं उसी तरह यह आलाप भी उनके (भग-वान्के) समस्त श्रुतके ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ है। क्योंकि इस सिद्धान्तालापमें उन्हीं समस्त पदार्थोंका वर्णन है जिनको कि श्रीगौतमस्वामीने भगवान्के समस्त श्रुतको ग्रहण करके प्रकट किया है।

पहले गुणस्थान जीवसमास आदि वीस प्ररूपणाओंको बताचुके हैं उनमें तथा उनके उत्तर भेदोंमें क्रमसे एक २ के ऊपर यह आलाप आगमके अनुसार लगालेना चाहिये कि विवक्षित किसी एक प्ररूपणाके साथ शेष प्ररूपणाओंमेंसे कौन २ सी प्ररूपणा अथवा उनका उत्तर भेद पाया जाता है। इनका विशेष स्वरूप देखनेकी जिनको इच्छा हो वे इसकी संस्कृत टीका अथवा बड़ी भाषाटीकामें देखें।

इन आलापोंको लगाते समय जिन बातोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिये उन विशेष बातोंको ही आचार्य यहां पर दिखाते हैं।

सव्वेसिं सुहुमाणं काओदा सव्वविग्गहे सुक्का ।
सव्वो मिस्सो देहो कओदवण्णो हवे णियमा ॥ १ ॥

सर्वेषां सूक्ष्माणां कापोताः सर्वविग्रहे शुक्लाः ।
सर्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेन्नियमात् ॥ १ ॥

अर्थ—पृथिवीकायादि समस्त सूक्ष्म जीवोंके कपोत लेश्या ही होती है । तथा समस्त विग्रहगतिसम्बन्धी कार्मणशरीरकी शुक्ल लेश्या होती है । तथा समग्र मिश्र शरीर नियमसे कपोतवर्णवाला होता है । **भावार्थ**—अपर्याप्त आलापोंमें द्रव्यलेश्या कपोत और शुक्ल ये दो ही होती हैं । इसके सिवाय और भी विशेषता है वह यह है कि मनुष्यरचना सम्बन्धी प्रमत्तादि गुणस्थानोंमें जो तीन वेद बताये हैं वे द्रव्यवेदकी अपेक्षासे हैं । भाववेदकी अपेक्षासे एक पुरुष वेद ही होता है । तथा स्त्री नपुंसक वेदके उदयमें आहारक योग मनःपर्यय ज्ञान परिहारविशुद्धि संयम ये नहीं होते । नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें सासादन गुणस्थान नहीं होता । तथा किसी भी अपर्याप्त अवस्थामें मिश्र गुणस्थान नहीं होता । इत्यादि और भी जो २ नियम "पुढवी आदि चउण्हं" आदि पहले बताये हैं उनको तथा अन्यत्र भी कहे हुए नियमोंको आलाप लगाते समय ध्यानमें रखना चाहिये ।

कुछ नियमोंको गिनाते हैं ।

मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा ।
एदेसु एक्कपगदे णत्थित्ति असेसयं जाणे ॥ ७२८ ॥

मनःपर्ययपरिहारौ प्रथमोपसम्यक्त्वं द्वावाहारौ ।
एतेषु एकप्रकृते नास्तीति अशेषकं जानीहि ॥ ७२८ ॥

अर्थ—मनःपर्यय ज्ञान परिहारविशुद्धि संयम प्रथमोपशमसम्यक्त्व और आहारकद्वय इनमें किसी भी एकके होनेपर शेष भेद नहीं होते ऐसा जानना चाहिये ।

बिदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु ।
सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥ ७२९ ॥

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं श्रेणितोऽवतीर्णेऽविरतादिषु ।
स्वकस्वकलेश्यामृते देवापर्याप्तक एव भवेत् ॥ ७२९ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणिसे उतरकर अविरतादिक गुणस्थानोंको प्राप्तकरनेवालोंमेंसे जो अपनी २ लेश्याके अनुसार मरण करके देवपर्यायको प्राप्त करता है उसहीके अपर्याप्त अवस्थामें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है । **भावार्थ**—चारगतिमेंसे एक देव अपर्याप्तको छोड़कर अन्य किसी भी गतिकी अपर्याप्त अवस्थामें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता ।

१ यह गाथा यद्यपि पहले लेश्या मार्गणामें भी आचुकी है तथापि यहांपर भी इसको उपयोगी समझकर पुनः लिखदिया है ।

गुणस्थानियोंका स्वरूप बताकर गुणस्थानातीत सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं ।

सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खयियं ।
सम्मत्तमणाहारं उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥ ७३० ॥

सिद्धानां सिद्धगतिः केवलज्ञानं च दर्शनं क्षायिकम् ।
सम्यक्त्वमनाहारमुपयोगानामक्रमप्रवृत्तिः ॥ ७३० ॥

अर्थ—सिद्ध जीवोंके सिद्धगति केवलज्ञान क्षायिकदर्शन क्षायिकसम्यक्त्व अनाहार और उपयोगकी अक्रम प्रवृत्ति होती है । **भावार्थ**—छद्मस्थ जीवोंके क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शनकी तरह सिद्धोंके क्षायिक ज्ञान दर्शनरूप उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु युगपत् होती है । तथा सिद्धोंके आहार नहीं होता—वे अनाहार होते हैं । क्योंकि उनसे कर्मका और नोकर्मका सर्वथा सम्बन्ध ही छूटगया है । "णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ओजमणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो" ॥ १ ॥ इस गाथाके अनुसार नोकर्म और कर्म भी आहार ही हैं अतः सर्वथा अनाहार सिद्धोंके ही होता है ॥

गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा ।
सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥ ७३१ ॥

गुणजीवस्थानरहिताः संज्ञापर्याप्तिप्राणपरिहीनाः ।
शेषनवमार्गणोनाः सिद्धाः शुद्धाः सदा भवन्ति ॥ ७३१ ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, चौदह गुणस्थान चौदह जीवसमास चार संज्ञा छह पर्याप्ति दश प्राण इनसे रहित होते हैं । तथा इनके सिद्धगति ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और अनाहारको छोड़कर शेष नव मार्गणा नहीं पाई जाती । और ये सिद्ध सदा शुद्ध ही रहते हैं; क्योंकि मुक्तिप्राप्तिके वाद पुनः कर्मका बन्ध नहीं होता ।

अंतमें वीस भेदोंके जाननेके उपायको बताते हुए इसका फल दिखाते हैं ।

णिक्खेवे एयत्थे णयप्पमाणे णिरुत्तिअणियोगे ।
मग्गइ वीसं भेयं सो जाणइ अप्पसब्भावं ॥ ७३२ ॥

निक्षेपे एकार्थे नयप्रमाणे निरुक्त्यनुयोगयोः ।
मार्गयति विंशं भेदं स जानाति आत्मसद्भावम् ॥ ७३२ ॥

अर्थ—जो भव्य उक्त गुणस्थानादिक वीस भेदोंको निक्षेप एकार्थ नय प्रमाण निरुक्ति अनुयोग आदिके द्वारा जानलेता है वही आत्मसद्भावको समझता है । **भावार्थ**—जिनके द्वारा पदार्थोंका समीचीन व्यवहार हो ऐसे उपायविशेषको निक्षेप कहते हैं । इसके चार भेद हैं, नाम स्थापना द्रव्य और भाव । इनकेद्वारा जीवादि समस्त पदार्थोंका समीचीन व्यवहार होता है । जैसे किसी अर्थ विशेषकी अपेक्षा न करके किसीकी जीव यह

संज्ञा रखदी इसको जीवका नामनिक्षेप कहते हैं। किसी काष्ठ चित्र या मूर्ति आदिमें किसी जीवकी 'यह वही है' ऐसे संकल्परूपको स्थापनानिक्षेप कहते हैं । स्थापनमें स्थाप्यमान पदार्थकी ही तरह उसका आदर अनुग्रह होता है । भविष्यत् या भूतको वर्तमानवत कहना जैसे कोई देव मरकर मनुष्य होनेवाला है उसको देवपर्यायमें मनुष्य कहना, अथवा मनुष्य होनेपर देव कहना यह द्रव्यनिक्षेपकाविषय है । वर्तमान मनुष्यको मनुष्य कहना यह भावनिक्षेपका विषय है । प्राणभूत असाधारण लक्षणको एकार्थ कहते हैं । जैसे जीवका लक्षण दश प्राणोंमेंसे यथासम्भव प्राणोंका धारण करना या चेतना (जानना और देखना) है। यही जीवका एकार्थ है। वस्तुके अंशग्रहणको नय कहते हैं । जैसे जीवशब्दके द्वारा आत्माकी एक जीवत्वशक्तिका ग्रहण करना । एक शक्तिके द्वारा समस्त वस्तुके ग्रहणको प्रमाण कहते हैं । जैसे जीवशब्दके द्वारा सम्पूर्ण आत्माका ग्रहण करना । जिस धातु और प्रत्ययके द्वारा जिस अर्थमें जो शब्द निष्पन्न हुआ है उसके उसही प्रकारमे दिखानेको निरुक्ति कहते हैं । जैसे—जीवति जीविष्यति अजीवीत् वा स जीवः—जो जीता है या जीवेगा या जिया हो उसको जीव कहते हैं । जीवादिक पदार्थोंके जाननेके उपायविशेषको अनुयोग कहते हैं । उसके छह भेद हैं । निर्देश (नाममात्र या स्वरूप अथवा लक्षणका कहना) स्वामित्व, साधन (उत्पत्तिके निमित्त) अधिकरण, स्थिति (कालकी मर्यादा) भेद । इन उपायोंसे जो उक्त वीसप्ररूपणाओंको जानलेता है वही आत्माके समीचीन स्वरूपको समझसकता है ।

॥ इति आलापाधिकारः ॥

अन्तमें आशीर्वादस्वरूप गाथाको आचार्य कहते हैं ।

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू ।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

आर्यार्यसेनगुणगणसमूहसंधार्यजितसेनगुरुः ।
भुवनगुरुर्यस्य गुरुः स राजा गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

अर्थ—श्रीआर्यसेन आचार्यके अनेक गुणगणको धारण करनेवाले और तीनलोकके गुरु श्रीअजितसेन आचार्य जिसके गुरु हैं वह श्री गोम्मट (चामुण्डराय) राजा जयवन्ता रहो ।

॥ इति गोम्मटसारस्य जीवकाण्डं समाप्तम् ॥

अकारादिके क्रमसे गाथासूची।